

श्री सेठिया जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं० ११६

श्रीमद् गणधरवर-सुधर्मस्वामिद्वय

श्री खरतरगच्छीय ज्ञान मन्दिर, जयपुर

श्री आचारंग सूत्रम्



[प्रथम श्रुतस्कंध]

(शुद्ध मूलपाठ, अन्वययुक्त शब्दार्थ और भावार्थ सहित)

अनुवादक —

पं० धेवरचन्द्र बांठिया 'वीरपुत्र' जैन सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ

प्रकाशक —

श्री अग्रचन्द्र भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

विक्रम सवत् २००८
वीर सवत् २४७७
महावीर जयन्ती
सन् १९५१

मूल्य ३॥)

यह भी ज्ञान खाते में लगेगा

प्रथमावृत्ति

१०००

प्रकाशक:—
श्री अग्रचन्द्र भैरोदान सेठिया
जैन पारमार्थिक संस्था,
वीरानेर

प्रथमावृत्ति

१०००

मुद्रक:—
श्री जालमसिंह के प्रबन्ध से
गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस,
व्यावर में मुद्रित,

प्रस्तावना

जिस प्रकार ब्राह्मण सस्कृति का आधार वेद है, बौद्ध सस्कृति का आधार त्रिपिटक है और ईसाइयों का आधार बाइबल है उसी तरह जैन सस्कृति का आधार गणपिटक अर्थात् बारह अङ्ग सूत्र है। नन्दी सूत्र में श्रुतज्ञान के जो चौदह भेद बताये गये हैं उनमें तेरहवें अङ्गप्रविष्ट है। मुख्य रूप से श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य। आचारान्न आदि बारह सूत्र अङ्गप्रविष्ट है। इनके अतिरिक्त सभी सूत्र अङ्गबाह्य गिने जाते हैं। जिस प्रकार पुरुष के शरीर में २ पैर, २ जघाण, २ ऊरु, २ गान्धाद्व (पसवाडे) २ बाहु (मुजाए), १ गरदन और १ सिर ये बारह अङ्ग हैं, उसी प्रकार श्रुतरूपी पुरुष के १२ अङ्ग हैं। तीर्थङ्कर भगवान् के उपदेशानुसार जिन शास्त्रों को गणधर महाराज स्वयं रचते हैं, वे अङ्ग कहे जाते हैं। गणधरों के अतिरिक्त दूसरे विद्यासम्पन्न आचार्यों द्वारा रचे गये शास्त्र अ गबाह्य कहे जाते हैं। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं—

१ आचाराग, २ सूयगडाग-सूत्रकृताग, ३ ठाणाग-स्थानाग, ४ धिवाहपण्णत्ती-व्याख्याप्रज्ञप्ति-भगवती, ५ णायाधम्मकहाओ-ज्ञाताधर्मकथा, ७ उवासगदसाओ-उपासकदशा, ८ अंतगददसाओ-अन्तकृदशा, ९ अणुत्तरोववाइयदसाओ-अनुत्तरोपपातिकदशा, १० पण्णवागरणाइ-प्रश्नव्याकरण, ११ विवागसुअ-विपाक श्रुत, १२ विट्ठिवाओ-दृष्टिवाद। इनमें बारहवें दृष्टिवाद आज कल उपलब्ध नहीं है।

महापुरुषों के द्वारा सेवन की गई ज्ञान, दर्शन, चारित्र के आराधन करने की विधि को आचार कहते हैं। आचार को प्रतिपादन करने वाला सूत्र आचारांग कहा जाता है। इस सूत्र में सावुओं की चर्चा से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों का वर्णन किया गया है, जैसे कि—

आचार—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य रूप मोक्षमार्ग की आराधना के लिए किया जाने वाला निविध्य आचार ।

गोचरी—भिक्षा ग्रहण करने की विधि ।

विनय—ज्ञान और ज्ञानी की तथा गुरु की विनय-वृत्ति ।

विनेय—जिन्हों का स्वरूप और उनका आचार ।

भाषा—चार प्रकार की भाषा का स्वरूप ।

चरण सत्ति—पांच महाव्रत, दस प्रकार का भ्रमण धर्म, सतरह प्रकार का समय, दस प्रकार का वैशाख प्रत्यक्ष की नव वाह, ज्ञान दर्शन, चारित्र्य, वारह प्रकार का तप और चार कथा का निग्रह (दमन) ।

करण सत्ति—चार पिण्डविगुट्टि, पांच समिति, बारह भावना, बारह भिन्नवृद्धिमा, पांच उन्निर्गो मा दुग्धन, पञ्चीस प्रकार की पडिलेहणा, तीन गुत्तिर्गो, द्रव्य क्षेत्र काल भाग क भेद में चार प्रकार का अभिग्रह ।

यात्रा—मयम रूप यात्रा का पालन ।

वृत्ति—विविध अभिग्रहों को धारण करके संयम की पुष्टि करना ।

आचार के संक्षेप में पांच भेद हैं—? ज्ञानाचार, २ दर्शनाचार, ३ चारित्र्याचार, ४ तप आचार, ५ ध्यान आचार । सम्यक् तत्त्व का ज्ञान करने के कारणभूत भ्रुतज्ञान की आराधना करना ज्ञानाचार है । दर्शन अर्थात् सम्यग्मन्द की निश्चित निष्कामिता चारित्र्य रूप से शुद्ध आराधना करना दर्शनाचार है । ज्ञानपूर्वक सर्वसाधन योगों का त्याग करना चारित्र्य है, चारित्र्य का सेवन करना चारित्र्याचार है । आभ्यन्तर और बाह्य बारह प्रकार का तप करना तप आचार है । अपनी शक्ति का गोपन न करने हुए धर्मकार्यों में यथाशक्ति प्रवृत्ति करना धीर्याचार है ।

‘ज्ञानक्रियाभ्या मोक्षः’ सम्यक् ज्ञान और क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति होती है, शुद्ध आचार के-लिए ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता होती है। इसलिए आचार का प्रतिपादक यह अङ्ग पहले बताया गया है। अथवा किसी अपेक्षा विशेष से ज्ञान की अपेक्षा क्रिया की प्रधानता होने से क्रिया रूप आचार की बतलाने वाला यह सूत्र भी प्रधान है, इसीलिए यह पहला अङ्ग है।

इसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहले श्रुतस्कन्ध में नौ अभ्ययन हैं और दूसरे श्रुतस्कन्ध में सोलह अभ्ययन हैं। दोनों श्रुतस्कन्धों में कुल २५ अभ्ययन हैं। उनमें २५ उद्देश्य हैं।

इस प्रकार जैनागमों में आचाराग सूत्र का प्रथम स्थान है। इसका पठन-पाठन आत्मकल्याण एव मोक्षप्राप्ति का कारण है। इसलिए मुमुक्षु पुरुषों को इस सूत्र के पठन-पाठन का लाभ अवश्य लेना चाहिए।

निवेदनः—

देवरचन्द्र गौडिया ‘वीरपुत्र’

जैन सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ,

बीकानेर

दो शब्द

जैन संस्कृति का मुख्य आधार वारह अंग सूत्र है। उनमें मंत्र से पहला अंग सूत्र आचारांग है। जैनागमों में इसका प्रधान और महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें माधु के जीवन सम्बन्धी सब शिक्षाओं का वर्णन किया गया है। उमलिंग नवदीक्षित साधु को सर्वप्रथम इस सूत्र का अध्ययन करना आवश्यक है। इस सूत्र के विशेष हिन्दी अनुवाद नहीं हैं और जो कुछ हिन्दी अनुवाद वर्तमान में उपलब्ध हैं वे प्रायः भावार्थरूप हैं। इसलिए हमारी यह इच्छा हुई कि इस सूत्र का ग्रन्थ सक्षित शब्दाथ इस ढंग से लिखा जाय जिसमें शब्दार्थ लिखते समय ही इस बात का ध्यान रखा जाय कि वाक्य का सम्बन्ध ठीक तरह जुड़ा जाय ताकि विस्तार कम हो और प्रथम सीढ़ी के विशेष सुविधा हो। इसी भावना से प्रेरित होकर हमने यह ग्रन्थयमलित शब्दार्थ और सक्षित भावार्थ प० चैवरचन्द्रजी यांठिया 'वीरपुत्र' से तैयार करवाया है। इसमें मूलपाठ को छोट कर केवल शब्दार्थ को पढ़ा जाय तो वह भावार्थ रूप बन जाता है। आवश्यकतानुसार मंक्षिप भावार्थ भी दिया गया है। शब्दार्थ करते समय वाक्य का सम्बन्ध नतोये रगने के लिए और कहीं कहीं वाक्य का सम्बन्ध जोड़ने के लिए ऊपर से भी शब्द दिये गये हैं।

मूलपाठ बहुत शुद्ध हो इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है। इसलिए प्रत्येक प्रतियों का व्यवलोकाय कर मूल पाठ लिखा गया है। जहाँ पाठान्तर मालूम हुआ वहाँ शब्दार्थ करते समय मूलपाठ के आगे हाइफन डेरा (-) देकर पाठान्तर भी दे दिया गया है। जैन सूत्र साहित्य अति गहन है। इसलिए इस सूत्र के अनुवाद में कहीं कुछ नजर आवे तो विद्वान पाठक हमें सूचित करने की कृपा करें ताकि आगामी आवृत्ति में उचित सुधार किया जा सके।

निवेदक —

भैरोदान जेठमल सेठिया

आभारप्रदर्शन

आभारप्रदर्शन

प्रातः स्मरणीय पूज्यश्री १००८ श्री हुक्मीचन्द्रजी महाराज के षष्ठ पट्टधर परम प्रतापी आचार्यप्रवर पूज्यश्री १००८ श्री जवाहर-
लालजी महाराज के सुशिष्य शास्त्रज्ञ पं० मुनि श्री पन्नालालजी महाराज ने इस आचाराग सूत्र की हस्तलिखित कापी का परिश्रम
पूर्वक आद्योपान्त अवलोकन किया है। तत्पश्चात् जैनधर्मदिवाकर जैनरत्नाकर पूज्यश्री १००८ श्री आत्मारामजी महाराज की सेवा में
इस सूत्र की हस्तलिखित कापी लुधियाना भेजी गई। उस समय आपकी नेत्र शक्ति कमजोर थी। इसलिए आपने व्याख्यानवाचस्पति
श्री मदनलालजी महाराज द्वारा इस कापी का आद्योपान्त उपयोग पूर्वक श्रम किया। तत्पश्चात् गुडगांवा (पंजाब) में चतुर्मासस्थित
जैनधर्मोपदेष्टा मुनि श्री फूलचन्द्रजी महाराज ने इसकी कापी का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया। उपरोक्त मुनिवरो ने अवलोकन और
श्रवण करके उचित परामर्श दिये। तदनुसार उन स्थलों का संशोधन कर दिया गया है। उपरोक्त पूज्य मुनिवरो ने जो परिश्रम उठाया
है, अपना अमूल्य तथा सत्परामर्श दिया है, इस कृपा के लिए हम उनके सदा आभारी रहेगे।

निवेदक —

भैरोदान जेठमल सेठिया

जैनधर्मदिवाकर जैनागसरत्नाकर पूज्यश्री आत्मारामजी महाराज

तथा

व्याख्यानवाचस्पति श्रीमदनलालजी महाराज की

सम्मति

मैंने श्रीयुक्त पण्डित घेवरचन्द्रजी बाँठिया का लिखा हुआ श्रीमदाचाराग सूत्र का प्रथम शतस्कन्ध ग्रन्थार्थ और संक्षिप्त भावार्थ युक्त श्रीमद् व्याख्यानवाचस्पति नवयुक्क सुधारक मुनि श्रीमदनलालजी महाराज के द्वारा अक्षरशः श्रवण किया। मेरे विचार में नव दीक्षित साधु और साध्वियों तथा जैनधर्म में प्रवेश करने वाले जिज्ञासु जनों के लिए यह सरल अनुवाद अत्युपयोगी है। इसका विधिपूर्वक अध्ययन गुरुमुखा द्वारा करने पर अन्य विस्तृत संस्कृत व हिन्दी आदि अनुवादों में शीघ्र ही प्रगति हो सकती है। पण्डितजी ने बड़े परिश्रम से कार्य किया है। यह अनुवाद प्राचीन वृत्तियों से अनलकृत नहीं है।

यही सम्मति मुनि श्रीमदनलालजी महाराज की भी है।

ता० १४-६-४६

बुधियाणा (पंजाब)

प्रेषक —

प्यारेलाल जैन

ठि० गुजरमल बलवन्तराय जैन

ज्ञातपुत्रीय महावीरसंघीय जैन मुनि श्री फूलचन्द्रजी महाराज जैन धर्मोपदेष्टा की

सम्मति

परिचित घेवरचन्द्रजी बाँठिया जैन न्याय, व्याकरण तीर्थ, सिद्धान्त शास्त्री ने प्रथम अङ्ग श्री आचारण सूत्र का हिन्दी भाषा में सुन्दर अनुवाद किया है। मूलपाठ, अन्वयार्थ और भावार्थ की त्रिवेणी ने पुस्तक की उपयोगिता में चार चौद लगा दिये हैं। पद्धति सराहनीय है। सूत्र में प्रवेश करने वालों के लिए यह अनुवाद बड़ा उपयोगी है। आचारण सूत्र का इस दृढ़ का हिन्दी भाषा में यह सर्व प्रथम अनुवाद हुआ है। यह साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध सूत्र के लिए पथ-प्रदर्शक का काम करेगा। यह अनुवाद किसी विषय से रिक्त नहीं है, सब भाव भूलीभाति व्यक्त किये गये हैं। पुस्तक हाथ में आते ही प्रतिदित स्वाध्याय करने की प्रबल उत्कण्ठा जागृत होगी। कि बहुना, अनुवाद सुवर्द्ध सम्पूर्ण है। इसी प्रकार दूसरे श्रुतरत्न का भी अनुवाद हो जाय तो सोने से सुहागे वाली वक्ति चरितार्थ हो एव भव्यजनो को महान लाभ पहुँचे।

प्रेषक —

दुर्गाप्रसाद जैन

गुड़गाव (पजाब)

ता० २४-१०-४९

ज्ञातपुत्र महावीर जैन संघीय

‘पुष्प भिक्खू’

आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध की

विषयानुक्रमणिका

८

अध्ययन का नाम

विषय

पृष्ठ

पहला अध्ययन—शास्त्रपरिज्ञा । जीवों की हिंसा के कारण को शस्त्र कहते हैं । उसके दो भेद हैं—द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र । तलवार आदि द्रव्य शस्त्र हैं और अशुभ योग भावशस्त्र हैं । इस अध्ययन में भाव शस्त्रों की परिज्ञा अर्थात् जानकारी है । परिज्ञा दो तरह की होती है—(१) क्षपरिज्ञा अर्थात् अशुभ योग आदि कर्मवन्ध के कारणों को जानना । (२) प्रत्याख्यानपरिज्ञा अर्थात् कर्मवन्ध के कारणों को जान कर उनका त्याग करना । पहला अध्ययन में सात उद्देश्य हैं । एक अध्ययन में आये हुए नवीन विषय के प्रारम्भ को उद्देश्य कहते हैं ।

१ उद्देश्य—‘यह आत्मा किस दिशा से आया है’ इत्यादि विचार । कर्मवन्ध के हेतुओं का विचार ।

२ उद्देश्य—पृथ्वाकाय की हिंसा से निवर्तने का उपदेश । पृथ्वाकाय के दुःखों का अनुभव बताने के लिए जन्म से अन्धे और बहरे का दृष्टान्त ।

३ उद्देश्य—अप्काय की हिंसा से निवर्तने का उपदेश ।

४ उद्देश्य—अग्निकाय की हिंसा से निवर्तने का उपदेश ।

१

६

१७

२५

- ५ उद्देश—वनस्पतिकाय की हिसा से निवर्तने का उपदेश । मनुष्य के शरीर के साथ वनस्पति की साधर्म्यता-समानता बतला कर वनस्पति में जीव सिद्ध करने की युक्ति । ३०
- ६ उद्देश—त्रसकाय के जीवों की हिसा से निवर्तने का उपदेश । त्रस जीवों की हिसा के विविध कारण । ३६
- ७ उद्देश—वायुकाय के जीवों की हिसा से निवर्तने का उपदेश । ४२

दूसरा अध्ययन—लोक-विजय । ससार और उसके कारणों पर विजय प्राप्त करना । इस अध्ययन में छह उद्देश हैं:—

- १ उद्देश—माता पिता आदि ब्राह्म संयोगों का त्याग करके मुनि की दृढ़ता के साथ संयम का पालन करना चाहिए । ४७
- २ उद्देश—अरति का त्याग करना चाहिए । लोभी के दुःख और निर्लोभी (बीतरागी) के सुख । ५७
- ३ उद्देश—उच्च गोत्र आदि किसी प्रकार का मान न करना चाहिए । भोगों में आसक्त न होना चाहिए । ६२
- ४ उद्देश—भोगों से रोगों की उत्पत्ति । भोगों के त्याग का उपदेश । ६९
- ५ उद्देश—गृहस्थों के घर से निर्दोष आहारादि लेकर संयम निर्वाह करना चाहिए । मूर्खों-ममत्व का त्याग करना चाहिए । ७५

- ६ उद्देश—मुनि को गृहस्थ के साथ ममत्व न करना चाहिए । एक आश्रम के सेवन से समस्त आश्रमों का सेवन और एक काया के आरम्भ से सभी कायों का आरम्भ होता है । भगवान् की आज्ञा के आराधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है । ८५

तीसरा अध्ययन—शीतोष्णीय । सर्दी, गर्मी एवं सुख दुःख की परवाह न करके सत्र जगह समभाव रहना । इस अध्ययन में चार उद्देश्य हैं:—

- १ उद्देश्य—यास्तव में सोया हुआ कौन है ? अज्ञानी द्रव्य में जागते हुए भी भाव से मोते हुए हैं और १४
ज्ञानी-मुनि द्रव्य से सोते हुए भी भाव से सदा जागते हैं । धीर-मुनि परीपह उपमर्गों को सम-
भाव से सहन करता है ।
- २ उद्देश्य—सम को सुख प्रिय है । पाप के कटुत्रे फल । पापों को त्यागने का उपदेश । मोक्षार्थी को वाच्य १००
और आन्तर दोनों प्रकार के ग्रन्थों को तोड़ कर विपश्चामक्ति का त्याग करना चाहिए ।
- ३ उद्देश्य—मुनि को समभावी होना चाहिए । लज्जा आदि के कारण पाप का परिहार तथा परीपह सहने १०७
मात्र से कोई मुनि नहीं बनता है, उसके लिए हृदय में समय होना चाहिए । आत्मा का सच्चा
मित्र आत्मा ही है ।
- ४ उद्देश्य—क्रोध, मान, माया, लोभ-इन वपानों को छोड़ने का उपदेश । ११३

चौथा अध्ययन—लोकसार । सम्यक्त्व । इस अध्ययन में चार उद्देश्य हैं:—

- १ उद्देश्य—पदार्थों के ग्यार्ग स्वरूप का कथन । समकित का वर्णन । १२६
- २ उद्देश्य—आत्मन और निर्जरा का वर्णन । परमत का युक्तिपूर्ण स्पष्टन । १२८
- ३ उद्देश्य—तप का वर्णन । १३१
- ४ उद्देश्य—समय में स्थिर रहना । १३५

पाँचवाँ अध्ययन—लोकसार । इस अध्ययन में छह उद्देश्य हैं ।

—लोकसार । इरा अध्ययन में छह उद्देश हैं ।
१ उद्देश—लोक में सार भूत सयम-चारित्र का वर्णन । पापों के त्याग का उपदेश । प्राणियों की हिंसा १४०
करने वाला, विषयसोगो में एक आरम्भ में प्रवृत्ति करने वाला तथा विषयभोगों में आसक्ति

रखने वाला मुनि नहीं हो सकता है।

323

रखने वाला मुनि नहीं है संकता व ।
परिग्रह के त्याग का उपदेश ।

२५४

२ उद्देशा—पापों से निवृत्त हाने वाला हो मुनि कहें। जा सका हो। मनि किसी प्रकार का परिग्रह न

रकले। तथा कामभोगो की इच्छा भी न करे।

358

रकले । तथा कामभगा को इच्छा मा न करे ।
 बाणीवार्थ तथा समर्थ से निश्चय रहित साधु

अव्यक्त (आयु) और विद्या की योग्यता से राहित) असाध्य एवं अशुद्ध संगम के को घट्टेले विचरने का निषेध । प्रगीतार्थ के एकल विहार के दोष । शुद्ध संगम के पालन का

उपदेश ।

ۛۛۛ

उपदेश ।

मुनि को सदा आवाक का आश्रम। विचरना पाह्ये।

३५३

सम्यक् श्रद्धा वाल क लिए सब शास्त्र सत्य है। सम्यक् श्रद्धा वाल और रागद्वेष का ब्य होता है।

सिद्ध भगवान् का स्वरूप ।

७५। अध्ययन—धृतराज्य । (पाप. कर्मों को छोड़ना ।) इस अध्ययन में पाच उद्देश हैं.—

५५३

धृताख्य । (पाप, कर्मा का छोड़ना ।) इस अध्ययन में पाच उद्देशः । प्रमाणी एवं विषय-भोगों में आसक्त

अमाद बोलुना का हृष । इसका लक्षण कुछ है ।
लीबनाना पन्नार के रोगों से पीड़ित रहते हैं ।

१६०

२ उद्देशा—आत्मा से कर्मों को दूर करने का उपदेश ।

१६५

३ उद्देशा—मुनि को अल्प उपकरण रमने चाहिए और यथाशक्ति कायकर्मों आदि तप करत रहना चाहिए ।

२००

४ उद्देशा—मुनि को सुखों में मूर्च्छित न होना चाहिए ।

२०७

५ उद्देशा—मुनि को संकटों में नहीं उरना चाहिए और प्रशमा सुन कर प्रसन्न न होना चाहिए । उपदेश दे योग्य आठ बातें ।

सातवाँ अध्यायन—महापरिज्ञा । नन्दो सूत्र की मलयगिरि टीका और निर्युक्ति के अनुसार यह आठवाँ अध्यायन है । इसमें मान उद्देशों हैं । यह अध्यायन विज्जिद्वज्र हो गया है, याज्ञ फल उपकल्प नहीं है ।

आठवाँ अध्यायन—विमोक्ष या निमोह । (समार के कारणों में एक मोह को छोड़ना) नन्दी सूत्र की मलयगिरि टीका के और निर्युक्ति के अनुसार यह अध्यायन मातृवर्गों है । इसमें आठ उद्देशों हैं—

२१२

१ उद्देशा—कुशील परित्याग । लोक धृष्ट दे या अभुष्ट ?

२१६

२ उद्देशा—अकल्पनीय वस्तुओं का परित्याग ।

२२६

३ उद्देशा—मिथ्या ज्ञान का निवारण परीपक्षों में न करना ।

२३१

४ उद्देशा—कारण विशेष से मुनियों को गैरानन्द (संमो) यदि प्राप्ता प्राप्तकरण भी करना चाहिए ।

२३५

५ उद्देशा—योगीमार पढ़ने पर मुनि को भक्त परिक्षा में मरना चाहिए ।

२४०

६ उद्देशा—धैर्यवान् मुनि को दक्षिण मरण करना चाहिए ।

७ उद्देशा—विशिष्ट धैर्यवान् मुनि के लिए पादयोपगमन मरण का विधान ।

२४७

८ उद्देशा—कालपर्याय से तीनों मरणों की विधि ।

२४४

नववां अध्ययन—उपधानश्रुत । (भगवान् महावीर स्वामी की जीवनचर्या का वर्णन) इस अध्ययन में चार उद्देश्य हैं—

१ उद्देशा—भगवान् महावीर की विहारचर्या का वर्णन किया गया है जैसे कि तेरह महीनों के पश्चात् देव-

२७०

दूष्य वस्त्र का परित्याग, जुद्ध जीवों द्वारा दिये गये अनेक कष्टों का सहन, छह काय की रक्षा,

त्रस स्थावर जीवों की गतागत पर विचार, कभी भी हिंसा का न करना, शुद्ध आहार का

ग्रहण, परीपहों को समभावपूर्वक सहन करना, इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है ।

२ उद्देशा—भगवान् महावीर स्वामी की धरित का वर्णन । आवेसन (शून्यगृह), सभा, प्रपा, टुकान, सराय

२८३

आराम (बाग), नगर, श्मशान, सूते घर, वृक्ष का मूल इत्यादि स्थानों में भगवान् यतना पूर्वक

ठहरते थे । निद्रा से अभिभूत न होते हुए रात में खड़े रह कर ध्यान करते थे । इन स्थानों में

देव, मनुष्य और निर्यञ्चों द्वारा दिये गये नाना प्रकार के कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करते

हुए आत्मध्यान में लीन रहते थे । इत्यादि विषयों या वर्णन किया गया है ।

३ उद्देशा—इस उद्देश्य में भगवान् महावीर स्वामी को दिये गये आक्रोश वध आदि नाना प्रकार के परी-

२६१

पहों का वर्णन किया गया है । लाट देश की वज्रभूमि में नाना प्रकार के परीपहों को सहन

किया था । कुत्तों के परीपहों को सहन करते हुए तथा अनार्यों द्वारा केश उखाड़े जाने पर भी

ध्यान से विचलित न होते थे । शूरवीर हाथी की तरह परीषह रूपी संप्राम में जय विजय करते

हुए विचरते थे । इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है ।

॥ णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

श्री आचारंग सूत्रम्

(मूल पाठ, अन्वय युक्त हिन्दी शब्दार्थ और संक्षिप्त भावार्थ सहित)

प्रथम श्रुतस्कन्ध

शस्त्र-परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन का प्रथम उद्देशक

सुयं मे आलसं ! तेणं भगवया एवमस्वार्थं—इहमेगेसि णो सएणा भवइ ॥१॥

अन्वयार्थः—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि (आलसं) हे प्रायुष्मन् शिष्य ! (मे) मैने (सुयं) सुना है (तेण) उन (भगवया) भगवान् महावान् स्वामी ने (एवं) इस प्रकार (अस्वार्थं) फरमाया था कि (इहं) इस लोक में (एगेसि) किन्हीं प्राणियों को (सएणा) संक्षान्दान (णो) नहीं (भवइ) होती है ॥१॥

नञ्हाः—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पञ्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिमाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहो-दिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ वा अणुदिमाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसि णो णायं भवइ ॥२॥

अन्वयार्थः—(तज्हा) जेसे कि (पुल्लिमाओ) पूरे (न्मिओ) दिशा से (अह) में (आगओ यमि) आया है। (ग) अथवा (राहिणाओ) दक्षिण (दिमाओ) दिशा से (अह) में (आगओ अमि) आया है। (वा) अथवा (पञ्चत्थिमाओ) पश्चिम (दिमाओ) दिशा से (अह) में (आगओ अमि) आया है। (ग) अथवा (उत्तराओ) उत्तर (दिमाओ) दिशा से (अह) में (आगओ अमि) आया है। (ग) अथवा (उड्ढाओ) उंची (दिमाओ) दिशा से (अह) में (आगओ अमि) आया है। (ग) अथवा (अहो दिमाओ) नीची दिशा से (अह) में (आगओ यमि) आया है। (ग) अथवा (अण्णयरीओ) किमी एक (दिमाओ) दिशा से (ग) अथवा (अणुदिमाओ) अनुदिशा से (अह) में (आगओ अमि) आया है। (ग) इस प्रकार (णोमि) किन्हीं जीनों को (णाय) जान (णो) नहीं (भाइ) होता है ॥२॥

भावार्थ—आनायणीय कर्म में जिसकी आत्मा पर मन पड़ा पड़ा हुआ है वह जीव यह नहीं जानता है कि मैं पूर्ण भव में किम गति में था और यहाँ पर कहाँ से आया हूँ ? ॥

अत्थि में आया उववाइए, गत्थि में आया उववाइए? के ग्रह आमी, के वा इओ चुओ इह पेल्हा भविस्सामि ? ॥३॥

अन्वयार्थः—(मे) मेरा (आया) आत्मा (उववाइए) भिन्न-भिन्न गतियों में उत्पन्न होने वाला (अत्थि) है, अथवा (मे) मेरा (आया) आत्मा (उववाइए) भिन्न-भिन्न गतियों में उत्पन्न होने वाला (अत्थि) नहीं है ? तथा (अह) मैं (के) कौन (आसी) था और (इओ) इस शरीर से (जुओ) छूट कर (इह) इस संसार में (पेन्चा) दूसरे जन्म में (के) क्या (भविस्सामि) होऊँगा ? ॥३॥

भावार्थ —प्रबल ज्ञानावरणीय के उदय से जिसकी ज्ञान-शक्ति ढँक गई है वह जीव यह नहीं जानता कि मैं पूर्वभव में कौन था और आगे क्या होऊँगा ?

से जं पुण जाणेज्जा सह सम्मइयाए परवागरणेणं अणोसिं वा अंतिए सोच्चा तंजहाः—

पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि जाव अणयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं जं गायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सोहं ॥४॥

अन्वयार्थः—(से) वह पुरुष (सहसम्मइयाए) अपनी सन्मति-सूक्ष्म बुद्धि एव जातिस्मरण ज्ञान द्वारा तथा (परवागणेण) तीर्थङ्कर आदि के उपदेश से (जा) अथवा (अणोसिं) दूसरों के (अत्थिए) पास से (सोच्चा) सुनकर (पुण) फिर (ज) पूर्वोक्त बातों को (जाणेज्जा) जान लेता है (तज्हा) जैसे कि (अह) मैं (पुरत्थिमाओ) पूर्व (दिसाओ) दिशा से (आगओ असि) आया हूँ (वा) अथवा (जाव) यावत् (अणयरीओ) अन्यतर अर्थात् किसी एक (दिसाओ) दिशा से (वा) अथवा (अणुदिसाओ) अनुदिशा से (अह) मैं (आगओ असि) आया हूँ (एव) इस प्रकार (एगेसिं) कितने ही जीवों को (एण) ज्ञात-ज्ञान (भवइ) हो जाता है (ज) कि (मे) मेरा (आया) आत्मा (उववाइए) औप-

पातिक—नाना गतियों में भ्रमण करने वाला (अस्थि) है (नो) जो आत्मा (इमाओ) दिशाओं से (ना) अथवा (अणुदिशाओ) अनुदिशाओं से आकर (अणुसत्त्व-अणुसमूह) संसार में परिभ्रमण करता है अथवा अपने पूर्व जन्मादि का स्मरण करता है (सोह) वही आत्मा मैं हूँ ॥४॥

भावार्थ—उत्कृष्ट मति यानी बुद्धि को सम्पत्ति कहते हैं। वह सम्पत्ति चार प्रकार की होती है। यथा—अवधिज्ञान, मन पर्यंग ज्ञान, कैवलज्ञान और जातिस्मरण। इन चार प्रकार की सम्पत्तियों के द्वारा अथवा पर-उपदेश से जीव यह ज्ञान लेता है कि “मैं पूर्व-भग्न में अमुक था और इस शरीर को छोड़ कर मैं अमुक शरीर को प्राप्त कहूँगा ॥

से आयावाई लीयावाई कम्मावाई किरियावाई ॥५॥

अन्वयार्थः—(ने) वही पुरुष (आयमाई) आत्मवादी (लीयावाई) लोकवादी (कम्मावाई) कर्मवादी और (किरियावाई) क्रिया-वादी है ॥५॥

भावार्थ—जो पुरुष आत्मा के उपर्युक्त स्वरूप को जानता है-वही आत्मावादी अर्थात् आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला है। जो आत्मवादी है वही लोकवादी अर्थात् लोक का यथार्थ स्वरूप जानने वाला है। जो आत्मवादी और लोकवादी है वही कर्मवादी अर्थात् कर्मों का यथार्थ स्वरूप जानने वाला और क्रियावादी यानी कर्मबन्ध के कारणभूत क्रिया को जानने वाला है ॥

अकरिस्सं चाहं, कारवेसुं चाहं, करओ आवि ममणुएणे भविस्सामि ॥६॥

अन्वयार्थः—(अह) मेने (अकरिस्स) किया (च) और (अह) मेने (कारवेसु) करवाया (च) तथा (करओ) करते हुए को (आवि) भी मेने (समणुण्णे) अनुमोदन किया। इसी प्रकार (भविस्सामि) भविष्य में ऐसा ही होऊँगा अर्थात् करूँगा ॥६॥

भावार्थ—यहाँ 'अह' पद से जीव का ग्रहण किया गया है। करना, कराना और अनुमोदना इन तीनों के भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल की अपेक्षा नौ भेद हो जाते हैं और मन, वचन, काया की अपेक्षा से इनके सत्ताईस भेद हो जाते हैं ॥

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियन्वा भवंति ॥७॥

अन्वयार्थः—(सव्वावति) सम्पूर्ण (लोगसि) लोक में (एयावति) इतनी ही (कम्मसमारंभा) कर्मसमारम्भ—क्रियाएँ (परिजाणियन्वा) जानने योग्य (भवति) होती हैं ॥७॥

भावार्थ—ऊपर छठे सूत्र में जो २७ क्रियाएँ बताई गई हैं उतनी ही क्रियाएँ समस्त लोक में होती हैं। अतः विवेकी पुरुषो को इन २७ ही क्रियाओं का स्वरूप जान कर इनका त्याग कर देना चाहिए।

अपरिएणायकम्मे खलु अयं पुरिसे, जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ सहेइ ॥८॥

अन्वयार्थः—(जो) जो जीव (इमाओ) इन दिशाओं (वा) और (अणुदिसाओ) अनुदिशाओं में (अणुसंचरइ) भ्रमण करता है (वा)

तथा (सत्त्वाश्रो) सद्य (दिसाश्रो) दिशाश्रो और (मत्त्वाश्रो) सद्य (अनुदिशाश्रो) में (मर्दे) अगने किये हुए कर्मों के साथ जाता है (रत्नु) निश्चय ही (अय) यह (पुरिसे) पुरुष-जीव (अपरिगणायम्भे) कर्मों के रहस्य को नहीं जानता है अर्थात् जो कर्मों के रहस्य को नहीं जानता है और आत्मा तथा क्रिया के स्वरूप को भी नहीं जानता है उसे नाना गतियों में परिभ्रमण करना पड़ता है क्योंकि कर्मों के रहस्य को न जानने के कारण वह उनके नाश के लिए भी प्रयत्न नहीं करता ॥८॥

अयोगस्त्वाश्रो जोणीश्रो संश्लेह, विस्वरूपे फासे पडिमवेदेह ॥९॥

अन्ययार्थः—उक्तोक्त जीव अर्थात् क्रिया और कर्म के स्वरूप को न जानने वाला जीव (अगणायाम्रो) अनेक प्रकार की (जोणीश्रो) योनियों का (संश्लेह) सन्धान करता है अर्थात् प्राप्त करता है और उनमें यह (विस्वरूपे) नाना प्रकार के (फासे) स्पर्शों का (पडिमवेदेह) अनुभव करता है अर्थात् सुप्त-दुःखों को भोगता है ॥९॥

तस्य सलु भगवया परिणया पवेडया ॥१०॥

अन्ययार्थः—(तस्य) उस दुःख से मुक्त होने के लिए अथवा उक्त क्रियाश्रों के विनय में (भगवया) भगवान् श्री महावीर स्वामी ने (सलु) निश्चय ही (परिणया) दो प्रकार की परिणाम (पवेडया) फरमाई है ॥१०॥

भावार्थ —(१) उपरिज्ञा से वस्तु का स्वरूप जाना जाता है और (२) प्रत्याग्यानपरिज्ञा से हेय वस्तु का त्याग किया जाता है। अतः विवेकी पुरुषों को उपरिज्ञा से सावग क्रियाश्रों को जान कर प्रत्याग्यानपरिज्ञा से उनका त्याग कर देना चाहिए ॥

उमस्स चैव जीवियस्स परिवंदणमाणणयूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं ॥११॥

अन्ययार्थः—(इमस्स) इस (जीवियस्स) जीवन के लिए अर्थात् इस जीवन को नीरोग और चिरजीवी बनाने के लिए (चैव) और (परिवंदणमाणणयूयणाए) परिवन्दन-प्रशंसा के लिए, मान के लिए तथा पूजा प्रतिष्ठा के लिए, (जाइमरणमोयणाए) जन्म-मरण से छूटने के लिए और (दुक्खपडिघायहेउ) दुःखों का नाश करने के लिए अविवेकी पुरुष नाना प्रकार की सावद्य क्रियाएँ करता है ॥११॥

भावार्थः—उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सावद्य क्रियाएँ करना अज्ञान है। जो पुरुष ज्ञानी हैं वे इन क्रियाओं को कर्मबन्ध का कारण जानकर त्याग कर देते हैं ॥

एयावंति सब्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति ॥१२॥

अन्ययार्थः—(मब्बावति) सम्पूर्ण (लोगसि) लोक में (एयावति) इतनी ही (कम्मसमारंभा) क्रियाएँ (परिजाणियव्वा) जानने योग्य (भवति) हैं ॥१२॥

भावार्थः—छठे सूत्र में बताया हुआ २७ ही क्रियाएँ हैं। इन्से अधिक या कम नहीं। इसलिए विवेकी पुरुषों को इनका स्वरूप जान लेना चाहिए।

जस्सेए लोगंसि कम्मसमारंभा परिणयाया भवंति से दु मुखी परिणयायकम्मे ॥१३॥ त्ति वेमि ॥

अन्यार्थः—(योगि) इस लोक में (ए) ये (कर्मसमारम्भा) सायद्य क्रियार्ण (नस्म) जिस को (परिणामा) दात (भवति) होती है (सि हु) वही (मुणी) मुनि है, और वही (परिणायकम्मे) कर्मों के रहस्य को जानने वाला है अर्थात् जो पुरुष उपरोक्त सायद्य क्रियाओं को जान कर उनका त्याग कर देता है वही मुनि है ॥ १३॥ (ति वेमि) श्री सुधर्म स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् शिष्य ! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना था उसी प्रकार मैं तुम्हें कहता हूँ ॥

॥ इति प्रथम उद्देशक ॥



१० अट्टे लोए परिजुएणे दुस्संयोहे अविजाणए अस्सि लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास आउरा परित्तवेति ॥१४॥

अन्वयार्थः—(लोए) यह प्राणिवर्ग (अट्टे) आर्त्त-दुःखी है (परिजुएणे) उत्तम विवेक रहित है (दुस्संयोहे) दुःख से बोध कराने योग्य है (अविजाणए) अज्ञानी है (अस्सि) इस (लोए) लोक के अर्थात् पृथ्वीकाय के (पव्वहिए) पीड़ित होने पर भी (आउरा) वे आतुर जीव (तत्थ तत्थ) भिन्न भिन्न कार्यों के द्वारा (पुढो) अलग अलग इसे (परित्तवेति) परित्याग देते हैं ॥१४॥

भावार्थः—अज्ञानी विषयासक्त जीव अपने स्वार्थ के लिए नाना प्रकार से पृथ्वीकाय का आरम्भ समारम्भ करते हैं किन्तु विवेकी पुरुष ऐसा नहीं करते हैं ॥

संति पाणा पुढो सिया, लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो चि एणे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभमाणे अणोवि अणेगरुवे पाणे विहिंसइ ॥१५॥

अन्वयार्थः—(पाणा) अनेक प्राणी (पुढो) अलग अलग (सिया) पृथ्वी में रहे हुए (सति) हैं, अतः उनके आरम्भ से (लज्जमाणा) लज्जित होने वाले अर्थात् जो पृथ्वीकाय का आरम्भ स्वयं नहीं करते हैं, दूसरों से भी नहीं करवाते हैं तथा आरम्भ करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते हैं ऐसे साधुओं को हे शिष्य ! (पुढो) पृथक् (पास) देखो अर्थात् पृथ्वीकायादि का आरम्भ करने

वाले साधुओं से भिन्न समझो । (अणुगारा मो ति) हम अनगार हैं ऐसा (पव्यमाण) कहते हुए (एगे) किननेक व्यक्ति (पुढवीकम्मसमारभेण) पृथ्वीकाय के आरम्भ द्वारा (विल्लव्वेहि) नाना प्रकार के (सत्थेहि) शस्त्रों से (इण) इस (पुढवी सत्थ) पृथ्वीकाय रूप शस्त्र का (समारभाणे) आरम्भ करते हुए (अण्णे वि) उसके आश्रय में रहने वाले अन्य (अण्णेल्ले) अनेक प्रकार के (पाणे) प्राणियों की (विहिसइ) हिंसा करते हैं । वे वास्तव में अनगार नहीं हैं किन्तु गृहस्थ के समान ही सावन् क्रिया करने वाले हैं । अतः हिंसा का आचरण करते हुए भी अपने को अनगार कहने वाले अन्यतीर्थी मिथ्यावादी हैं अत उत्तम साधुओं को उनका अनुकरण न करना चाहिए ॥१५॥

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाण्णपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्ख-पडिघायहेउं से सयमेव पुढविमत्थं समारंभइ, अण्णेहि वा पुढविसत्थं समारंभवेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणइ ॥१६॥

अन्वयार्थः—(तत्थ) इस पृथ्वीकाय के आरम्भ के विषय में (खलु) निश्चय ही (भगवया) भगवान् श्री महावीर स्वामी ने (परिण्णा) परिक्षा (पवेइया) फरमाई है अर्थात् कारण बतलाया है कि (इमस्स) इस (जीवियस्स) जीवन के लिए अर्थात् इस जीवन को नीरोग और चिरजीवी बनाने के लिए (चेव) और (परिवंदणमाण्णपूयणाए) परिचन्दन-प्रशसा के लिए, मान के लिए तथा पूजा-प्रतिष्ठा के लिए, (जाइमरणमोयणाए) जन्म-मरण से छूटने के लिए और (दुक्खपडिघायहेउं) दुखों का नाश करने के लिए (से) वह जीव (सयमेव) स्वयं (पुढविसत्थं) पृथ्वी रूप शस्त्र का (गमारभइ) आरम्भ करता है (ग) और (अण्णेहि) दूसरों के द्वारा (पुढविसत्थं) पृथ्वी

रूप शस्त्र का (समारम्भवेद) आरम्भ करवाना है (वा) और (पुढविसत्थ) पृथ्वी रूप शस्त्र का (समारम्भते) आरम्भ करते हुए (अरणे) दूसरे जीवों का (समणुजाणइ) अनुमोदन करता है ॥१६॥

भावार्थ—अज्ञानी जीव जिन कारणों से पृथ्वीकाय का आरम्भ करते हैं वे कारण ऊपर के सूत्र में बताये गये ॥

तं से अहियाए, तं से अबोहिए, से तं संवुज्जम्माणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसि णायं भवइ, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णारए, इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवोहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेण पुढविसत्थं समारंभमाणे अरणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, से बेमि-अप्पेगे अंधमब्भे अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पायमब्भे अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे अंधमब्भे अप्पेगे जंधमच्छे, अप्पेगे जाणुमब्भे अप्पेगे ऊरुमच्छे, अप्पेगे कडिमब्भे अप्पेगे कडिमच्छे, अप्पेगे णाभिमब्भे अप्पेगे उदरमच्छे, अप्पेगे उदरमच्छे, अप्पेगे पासमब्भे अप्पेगे पासमच्छे, अप्पेगे पिट्ठिमब्भे अप्पेगे पिट्ठिमच्छे, अप्पेगे उरमब्भे अप्पेगे उरमच्छे, अप्पेगे हिययमब्भे अप्पेगे हिययमच्छे, अप्पेगे थणमब्भे अप्पेगे थणमच्छे, अप्पेगे खंधमब्भे अप्पेगे खंधमच्छे, अप्पेगे बाहुमब्भे अप्पेगे बाहुमच्छे, अप्पेगे हत्थमब्भे अप्पेगे हत्थमच्छे, अप्पेगे अंगुलिमब्भे अप्पेगे अंगुलिमच्छे, अप्पेगे णहमब्भे अप्पेगे णहमच्छे,

(खलु) निश्चय ही (एस) यह पृथ्वीकाय का आरम्भ (गये) कर्मबन्ध का कारण है, (खलु) निश्चय ही (एस) यह पृथ्वीकाय का आरम्भ (मारे) मृत्यु का कारण है। (खलु) निश्चय ही (एस) यह (मोहे) मोह का कारण है। (खलु) निश्चय ही (एस) यह पृथ्वीकाय का आरम्भ (गबिए) विषय भोगों से आसक्त (लोए) जीव (इच्छत्य—इच्छेत्तमष्ट) अपने पृथ्वीकाय का आरम्भ (एएए) तरक का कारण है फिर भी (गबिए) विषय भोगों से आसक्त (लोए) जीव (इच्छत्य—इच्छेत्तमष्ट) अपने वन्दन, पूजन और सम्मान आदि के लिए (विस्वरूहेहि) नाना प्रकार के (सत्येहि) शस्त्रों द्वारा (पुढक्कम्मसारभेण) पृथ्वीकाय के आरम्भ से (इण) इस (पुढवित्त्य) पृथ्वीकाय रूपी शस्त्र का (समारभाणे) आरम्भ करता हुआ जीव (अण्णे) दूसरे (अण्णेगल्ले) अनेक प्रकार के (गण्णे) प्राणियों की (विहिंसइ) हिंसा करता है।

(से) गुरु कहते हैं कि हे शिष्यो ! यदि तुम मुझ से पूछोगे कि पृथ्वीकाय के जीव देखते नहीं, सुनते नहीं, बोलते नहीं, सृष्टे नहीं और चलते फिरते भी नहीं है तो फिर उन्हें मारने से वे वेदना का अनुभव कैसे करते हैं ? तो मैं एक दृष्टान्त द्वारा इस बात को (वैमि) बतलाता हूँ कि (अण्णे) जैसे कोई (अथ) जन्मान्ध पुरुष को यावत् बधिर-बहरे, मूक-गूंगे, कोढ़ी और लले लंगड़े पुरुष को (अब्भे) मेदन करे तथा (अण्णे) कोई (अथमच्छे) उपरोक्त अन्धे पुरुष को छेदन करे, (अण्णे) कोई (गयमब्भे) उसके पैरों का मेदन करे (अण्णे) कोई (गयमच्छे) उसके गुल्फों का छेदन करे (अण्णे) कोई (गुप्फमच्छे) उसके गुल्फों का छेदन करे (अण्णे) कोई (जयमब्भे) उसकी जवा का मेदन करे (अण्णे) कोई (जयमच्छे) उसकी जवा का छेदन करे (अण्णे) कोई (जाणुमब्भे) उसके घुटनों का मेदन करे (अण्णे) कोई (जाणुमच्छे) उसके घुटनों का छेदन करे (अण्णे) कोई (जसमब्भे) उसके उरु का मेदन करे (अण्णे) कोई (जसमच्छे) उसके उरु का छेदन करे (अण्णे) कोई (कडिमब्भे) उसके

[illegible]

(अप्येगे) कोई (जिबमब्मे) उसकी जीभ का भेदन करे (अप्येगे) कोई (जिबमब्मे) उसकी जीभ का छेदन करे (अप्येगे) कोई (तालुमब्मे) उसके तालु का भेदन करे (अप्येगे) कोई (तालुमब्मे) उसके तालु का छेदन करे (अप्येगे) कोई (गलमब्मे) उसके गले का भेदन करे (अप्येगे) कोई (गलमब्मे) उसके गले का छेदन करे (अप्येगे) कोई (गडमब्मे) उसके गाल का भेदन करे (अप्येगे) कोई (कणमब्मे) उसके कान का भेदन करे (अप्येगे) कोई (णामब्मे) उसके नाक का छेदन करे (अप्येगे) कोई (अच्छिमब्मे) उसकी आँख का भेदन करे (अप्येगे) कोई (अच्छिमब्मे) उसकी आँख का छेदन करे (अप्येगे) कोई (भसुहमब्मे) उसकी भ्रुकुटि का भेदन करे (अप्येगे) कोई (भसुहमब्मे) उसकी भ्रुकुटि का छेदन करे (अप्येगे) कोई (शिङालमब्मे) उसके ललाट का भेदन करे (अप्येगे) कोई (शिङालमब्मे) उसके ललाट का छेदन करे (अप्येगे) कोई (सीसमब्मे) उसके शिर का भेदन करे (अप्येगे) कोई (सीसमब्मे) उसके शिर का छेदन करे (अप्येगे) कोई (सीसमब्मे) उसका छेदन करे तो उस प्राणी को जैसा दुःख होता है उसी तरह पृथ्वीकाय के जीव को भी होता है तथापि (अप्येगे) कोई अज्ञानी जीव (सपमारए) पृथ्वीकाय की हिंसा करते हैं और (अप्येगे) कोई (उद्वए) उपद्रव करते हैं (इत्थ) इस प्रकार (सत्थ) पृथ्वीकाय रूपी शस्त्र का (समारभमाणत्स) आरम्भ करते हुए पुरुष के द्वारा (इच्चेए) वे पूर्वोक्त (आरभा) आरम्भ (अवरिण्णया हवत्ति) त्यागे नहीं जाते अर्थात् आरम्भ में लगा हुआ पुरुष इन आरम्भों का त्याग नहीं करता है।

भावार्थः—पृथ्वीकाय जीव है, इसलिए उसका आरम्भ करना पाप का कारण है। यद्यपि पृथ्वीकाय का जीव देखता, सुनता, सूँघता, बोलता और चलता फिरता नहीं है, तथापि वह वेदना का अनुभव तो करता ही है। जैसे पूर्व कर्म के उदय से कोई

पुरुष मृगापुत्र के समान जन्मान्ध, चधिर-बहुरा, मूक-गंगा, कोढ़ी, पशु और हाथ-पैर आदि से रहित हो यदि कोई पुरुष उसके अययवादि का छेदन भेदन करे, मारे, पीटे तो यद्यपि वह श्रोलता, चलता, फिटता और रोता नहीं है परन्तु दुःख का अनुभव तो करता ही है। इसी तरह पृथ्वीकाय को तोड़ने, सनने और छेदने, भेदन करने से पृथ्वीकाय का जीव भी दुःख का अनुभव तो करता ही है। इसलिये जो पुरुष तीर्थङ्कर भगवान् से अथवा दूसरे साधु महात्माओं से यह सुन चुके हैं कि पृथ्वीकाय के आरम्भ से पापमय होता है वे विचारवान् पुरुष पृथ्वीकाय के आरम्भ का सर्वथा त्याग कर देते हैं ॥

एत्थं सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिणयाया भवंति । तं परिणयाय मेहावी येव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा, खेवणोहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा. खेवणो पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्स एए पुढविकम्म-समारंभा परिणयाया भवंति से दु मुणी परिणयायकम्मे ॥१२॥ त्ति वेमि ॥

अन्यार्थः—(एतत्) इस पृथ्वीकाय रूप (सत्य) शून्य का (असंग्रभाणस्स) आरम्भ न करने वाले पुरुष को (इच्चेए) ये पूर्वोक्त (आरंभा) आरम्भ (परिणयाय) प्राप्त (भवन्ति) होते हैं । (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (त) पृथ्वीकाय के आरम्भ को कर्ममय का कारण (परिणयाय) जान कर (सय) स्वयं (पुढविसत्थं) पृथ्वीकाय का (योग संग्रभेज्जा) आरम्भ न करे (यणोहिं) दूसरों के द्वारा भी (पुढविसत्थं) पृथ्वीकाय रूप शून्य का (योग संग्रभेज्जा) आरम्भ न कराने, (पउमिक्का) पृथ्वीकाय रूप शून्य का (संग्रभो) आरम्भ करते हुए (अण्णो) दूसरों का (योग समणुजाणेज्जा) अनुमोदन भी न करे । (जस्स) जिसने (एए) इन (पुढविसत्थमाणभा) पृथ्वीकाय के आरम्भों का (परिणयाया भवन्ति) त्याग कर दिया है (दु) वास्तव में (ये) सभी (मुणी) मुनि हैं और चही (परिणयायकम्मा) कर्म के रहस्य को जानने वाला है ॥ १२ ॥ (मि वेमि) पूर्वोक्त ॥

॥ इति द्वितीय उद्देशक ॥

से वेमि से जहा वि अणगारे उज्जुकुडे णियागण्डिवणो अमायं कुवमाणो वियाहिण ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—(से) पृथ्वीकाय के आरम्भ का त्याग करने वाला वह पुरुष (जहा वि) जिस प्रकार (अणगारे) अनगर—सा धुबनता है (से वेमि) वह मै बतलाता है। (उज्जुकुडे) सरलता युक्त एवं पूर्णरूप से संयम का पालन करने वाला (णियागण्डिवणो) सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र्य रूप मोक्ष मार्ग को प्राप्त हुआ और (अमायं कुवमाणो) माया न करता हुआ पुरुष पूर्ण अनगर (वियाहिण) कहा गया है ॥ १६ ॥

जाए सद्भाए णिक्खंतो, तमेव अणुपालिया वियहित्तु विसोत्तियं ॥ २० ॥

अन्वयार्थः—(जाए) जिस (सद्भाए) श्रद्धा से (णिक्खंतो) दीक्षा धारण की है (विसोत्तिय) शङ्का को (वियहित्तु-विजहिता) छोड़कर (तमेव) उसी श्रद्धा के साथ (अणुपालिया) दीक्षा का पालन करना चाहिए ॥ २० ॥

भावार्थः—दीक्षा धारण करते समय दीक्षार्थी के परिणाम बहुत उच्च होते हैं। बाद में उन परिणामों में वृद्धि करने वाला कोई ही भाग्यवान् व्यक्ति होता है। किन्तु कितनेक व्यक्तियों के परिणाम गिर जाते हैं, इसलिए शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि यदि तुम्हारे

परिणाम बड़े नहीं तो उन्हें घटने तो नहीं देना चाहिए किन्तु जिन उच्च परिणामों में दीक्षा ली है उन्होंने परिणामों के साथ जीवन पर्यन्त संयम का पालन करना चाहिए ।

पणया वीरा महावीहिं, लोगं य आणाए अभिसमिन्वा अकुओभयं ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः—(वीरा) वीर पुरुष (महावीहिं) महावीर्यी यानी संयम रूप राजमार्ग को (पणया) प्राप्त करते हैं । (आणाए) तीर्थ-कर भगवीन् के उपदेशानुसारं (लोगं य) अण्काय को (अगितमिन्वा) समस्त 'कर उत्तम पुरुष (अकुओभयं) समस्त भयों से रहित संयम का पालन करे ॥ २१ ॥

भावार्थ—परीपह, उपसर्ग और कर्पागों को जीतने में समर्थ वीर पुरुष गोल्ल प्राप्ति के लिए संयम अङ्गीकार करते हैं । गहों संयम को 'अकुतोभय' कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि संयम स्वीकार करने वाले पुरुष तो सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान मिला जाता है । अतः बुद्धिमान् पुरुष ऐसे संयम का निरंतर पालन करे ।

से वेमि शेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा, शेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः—(से वेमि) मे कहता हूँ कि बुद्धिमान् मनुष्य (सयं) स्वयं (लोगं) अप्काय के जीवों के अस्तित्व का (शेव अब्भाइक्खिज्जा) अपलाप न करे तथा (अत्ताणं) आत्मा का (शेव अब्भाइक्खिज्जा) अपलाप न करे । (जे) जो पुरुष (लोयं) लोक यानी अप्काय

के जीवों के अस्तित्व का (अन्वाइक्खइ) अपलाप करता है (से) वह (अत्ताण) आत्मा का (अन्वाइक्खइ) अपलाप करता है और (जे) जो पुरुष (अत्ताण) आत्मा का (अन्वाइक्खइ) अपलाप करता है (से) वह (लोय) लोक यानी अत्काय के जीवों के अस्तित्व का (अन्वाइक्खइ) अपलाप करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—अत्काय के जीवों के अस्तित्व को न मानना उनका अभ्याख्यान करना है। अतः आत्काय को चेतन न मान कर जेड मानना मिथ्याभाषण करना है। जो पुरुष अत्काय के जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है वह आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप करता है अर्थात् अनात्मवादी पुरुष ही अत्काय के जीवों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता किन्तु यह उसकी मान्यता मिथ्या एवं अज्ञानमूलक है ॥ २२ ॥

लज्जमाणा पुढो पास । अणगारा मोत्ति एगे पवेयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे अण्णेरूवे पाणे विहिंसइ । तत्थ खलु भगवयां परिणणा पवेइया । इमस्स चैव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव उदयसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारंभावेइ, अण्णे उदयसत्थं समारंभते समणुजाण्णइ । तं से अहियाए, तं से अबोहिणं । से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय, सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ—एस खलु गंथे, एस खलु गोहिं, एस खलु मारे, एस खलु

णरए, इच्चत्थं गढिए जमिएणं विरुवरुवेहिं सन्थेहिं उदयस्सत्थं समारंभमालो अएलो अएोगरुवे पाएो विहिंसइ । से वेमि संति पाणा उदयणिस्सिया जीवा अएोगे ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः—गुरु महाराज फरमाते हैं कि हे शिष्य ! (तज्जमाणा) लज्जित होने वाले अर्थोत् तीन करण तीन योग से अण्काय का आरम्भ न करने वाले सुनियों को (पुजे) पृथक् देखो अर्थोत् अण्कायादि का आरम्भ करने वालों से भिन्न समझो । (अण्णारा सो ति) हम अनगर हैं ऐसा (वयथमाणा) कहते हुए (एते) कितनेक व्यक्ति (उदयस्सममारंभेण) अण्काय के आरम्भ द्वारा (विरुवरुवेहिं) नाना प्रकार के शत्रुओं से (इणे) इग (उदयत्थ) अण्काय रूप शत्रु का (समारंभमाणे) आरम्भ करते हुए (अएोगत्थे) अनेक प्रकार के (पाणे) प्राणियों की और (अएणे) तदाश्रित अन्य प्राणियों की (विहिंसइ) हिंसा करते हैं । वे वास्तव में अनगर नहीं हैं किन्तु गृहस्थ के समान ही सावध क्रिया करने वाले हैं । अतः हिंसा का आचरण करते हुए भी अपने को अनगर कहने वाले अन्य-तीर्थी मिथ्यावादी हैं । अतः उसम साधुओं को उनका अनुकरण न करना चाहिए । (तत्थ) इस अण्काय के आरम्भ के विषय में (बलु) निश्चय ही (भगवया) भगवान् ने (परिण्णा) परिदा (वेइया) फरमाई है । (इमस्स) इस (जीवियास्स) जीवन के लिए अर्थोत् इस जीवन को निरोग और चिरजीवी बनाने के लिए (परिवदणमाण्णय्ण्णा) परिवन्दन यानी प्रशंसा के लिए, मान के लिए तथा पूजा प्रतिष्ठा के लिए (जाइमएण्णोय्ण्णाए) जन्म-मरण से छूटने के लिए और (दुस्सणट्ठिपाय्णेउ) दुःखों का नाश करने के लिए (से) वह जीव (सयमेव) स्वयं (उदयमत्थं) अण्काय रूप शत्रु का (समारंभइ) आरम्भ करता है (वा) और (अएणेहिं) दुस्मरे के द्वारा (उदयमत्थ) अण्काय

रूप शस्त्र का (समारंभोद्देश) आरंभ करवाता है (वा) और (उद्देश्यस्थ) अप्काय रूप शस्त्र का (समारंभते) आरंभ करते हुए (अणो) दूसरे जीवों का (समणुजाणह) अनुमोदन करता है (त) वह अप्काय का आरंभ (से) उस आरंभ करने वाले पुरुष को (अहियाए) अहित के लिए होता है (त) वह (से) उसकी (अबोहिण) बोधि यानी समकित के नाश के लिए होता है अर्थात् जो पुरुष अप्काय का आरंभ करता है उसका हित नहीं होता है और उसे बोधि-समकित की प्राप्ति नहीं होती है (इह) इस संसार में (एणसि) कितनेक जीवों को (भगवन्तो) भगवान् तीर्थंकर से (वा) त्रयवा (अणगाराण) साधुओं के पास से (सोच्चा) सुनकर (तं) अप्काय के आरंभ का (णाण भवइ) ज्ञान हो जाता है, तब (से) उस आरंभ को (संबुज्झमाणो) समझने वाला जीव (आयाणीण) ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादि को (समुट्ठाय) स्वीकार कर लेता है। वह जीव यह जान लेता है कि (खलु) निश्चय ही (एस) यह अप्काय का आरंभ (गथे) कर्मबन्ध का कारण है। (खलु) निश्चय ही (एस) यह अप्काय ही (एस) निश्चय ही (एस) यह अप्काय का आरंभ (मारं) मृत्यु का कारण है। (खलु) निश्चय ही (एस) यह अप्काय का आरंभ (णए) नरक का कारण है फिर भी (गहिण) विषय भोगों में आसक्त (लोए) जीव (इच्चस्थ-इच्चवमट्ठ) अपने वन्दन, पूजन और सम्मान के लिए (विह्वल्लवेहिं) ताना प्रकार के (सथेहि) शस्त्रों द्वारा (उदयकम्मसमारंभेण) अप्काय के आरंभ से (इणं) इस (उदयस्थ) अप्काय रूप शस्त्र का (समारंभमाणो) आरंभ करता हुआ (अणो) दूसरे (अणो) अनेक प्रकार के (पालो) प्राणियों की (विहिसइ) हिसा करता है। (से वेमि) मैं कहता हूँ कि (उदयणिसिस्सया) अप्काय के आश्रय में रहने वाले (अणो) अनेक (पाणा) प्राणी एवं (जीवा) जीव (सति) हैं ॥ २३ ॥

इहं य खलु भो ! अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ—गुरु कहते हैं कि (गो) दे शिष्य ! (इदं) इस जैन शास्त्र में (जल) ही (अणुगणना) साधुओं के प्रति (उदयजीवा) जल-रूप जीव (विविधिया) कहे गये हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ—जैन शास्त्रों में अस्काय अर्थात् जल के जीव कहे गये हैं । जल के तीन भेद हे.—सचित्त, अचित्त और मिश्र । अग्नि आदि शस्त्र के सम्पर्क से सचित्त जल अचित्त निर्जीव हो जाता है । ऐसे अचित्त जल को ही जैन साधु अपने उपयोग में लेते हैं, सचित्त और मिश्र जल को नहीं ।

सत्यं चेत्य अणुवीह पास, पुढो सत्य पवेइयं ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(एत) इस जलकाय के विषय में (सत्यं) शास्त्र (अणुवाद) विचार कर (पास) जानो । भगवान् ने (पुढो) मिश्र (सत्य) जलकाय के शस्त्र (पवेइयं) कहे हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ—स्वकाय शस्त्र, परकाय शस्त्र और उभय शस्त्र इन तीन शस्त्रों से जल अचित्त हो जाता है । जिस जल का बर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श बदल गया हो वह जल अचित्त माना जाता है ।

अदुवा अदिगणादाणं ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(अदुवा) अथवा जो लोग सचित्त जल का उपयोग करते हैं वे केवल हिंसा-ही नहीं करते हैं किन्तु वे (अदिगणादाण) अदत्तादान का सेवन भी करते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थः—जल, जलकाय के जीवों की सम्पत्ति है। वे उसे देते नहीं हैं किन्तु अज्ञानी जीव उनसे जबरदस्ती छीनते हैं। अतः सचित्त जल का उपभोग करने वाले अदत्तादान के भी दोषी बनते हैं ॥

कप्पइ एो कपड एो पाउं अदुवा विभूसाए ॥ २७ ॥

अन्वयार्थः—अन्यतीर्थी कच्चा जल पीते हैं और उससे अपने हाथ पैर धोते हैं तथा स्नान करते हैं। यदि कोई उनसे ऐसा न करने के लिए कहता है तो वे उत्तर देते हैं कि (ए) हम लोगों को (पाउ) कच्चा जल पीना (कप्पइ) कल्पता है (अदुवा) अथवा (विभूसाए) कच्चे जल से हाथ पैर धोना, स्नान करना एवं बख आदि धोना (कपड) कल्पता है ॥ २७ ॥

भावार्थः—अन्यतीर्थियों का उपरोक्त कथन अज्ञानमूलक एव मिथ्या है ॥

पुढो सत्थेहिं विउडुंति ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः—अन्यतीर्थी (पुढो) भिन्न भिन्न (सत्थेहिं) शस्त्रों के द्वारा (विउडुंति) अप्काय-जलकाय के जीवों की हिला करते हैं ॥ २८ ॥

एत्थ वि तेसिं एो णिकरणाए-॥ २९ ॥

अन्वयार्थः—(एत्थ वि) इस विषय में (तेसिं) उन अन्यतीर्थियों के शास्त्र भी (एो णिकरणाए) निश्चय करंदे में समर्थ नहीं हैं क्योंकि वे रागद्वेषरहित आप्त पुरुष द्वारा रचे हुए नहीं हैं ॥ २९ ॥

एतत् सत्त्वं समारंभमाणस्स इच्चैए आरंभा अपरिणाय भवन्ति, एतत् सत्त्वं प्रसमारंभमाणस्स इच्चैए आरंभा परिणाय भवन्ति, तं परिणाय मेहावी एव सयं उदयसत्त्वं समारंभेज्जा, एव अणोहि उदयसत्त्वं समारंभेज्जा, उदयसत्त्वं समारंभन्ते-वि अणो ए समणुजाणेज्जा, जस्सेए उदयसत्त्वंसमारंभा परिणाय भवन्ति से हु मुणी परिणायकम्मे ।

॥ ३० ॥ त्ति वेमि ।

अन्यथार्थः—(एतत्) इत्थं जलकाय के ऊपर (सत्थ) जो शस्त्र का (समारंभमाणस्स) प्रयोग करता है उसके द्वारा (इच्चैए) ये (आरंभा) आरंभ (अपरिणाय) ज्ञात नहीं (भवन्ति) हैं परन्तु (एतत्) जो जलकाय के ऊपर (सत्थ) शस्त्र का (असमारंभमाणस्स) प्रयोग नहीं करता है उसके द्वारा (इच्चैए) ये पूर्वोक्त (आरंभा) आरंभ (परिणाय) ज्ञात (भवन्ति) हैं । (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (त) अकाय-जलकाय के आरंभ से हिसा को (गणिणाय) जानकर (सत्थ) स्वयं (उदयसत्त्वं) अकाय के शस्त्र का (एव समारंभेज्जा) आरंभ न करे, (अणोहि) दूसरों से भी (उदयसत्त्वं) अकाय के शस्त्र का (एव समारंभेज्जा) आरंभ न करावे और (उदयसत्त्वं) अकाय रूप शस्त्र का (गमारंभे वि) आरंभ करते हुए (अणो) दूसरों का (एव समणुजाणेज्जा) अनुमोदन भी न करे । (जस्से) जिसके द्वारा (एव) ये (उदयसत्त्वंसमारंभा) अकाय रूप शस्त्र के आरंभ (परिणाय भवन्ति) अ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा त्याग दिये गये हैं (से हु मुणी) वही मुनि हैं और वही (परिणायकम्मे) कर्म के रहस्य को जानने वाला है ॥ ३० ॥ (त्ति वेमि) पूर्ववत् । इति तृतीय उद्देशक ॥

❀ पहले अध्ययन का चौथा उद्देशक ❀

से वेमि, शेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा-शेव अत्ताणं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइ-
क्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोगं अब्भाइक्खइ ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत् । इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० २२ के समान ही है । उस सूत्र में अष्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र में अग्निष्काय का वर्णन है । सिर्फ इतना ही फर्क है । बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ३१ ॥

जे दीहलोगसत्थस्स खेयणो से असत्थस्स खेयणो, जे असत्थस्स खेयणो से दीहलोगसत्थस्स खेयणो ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो पुरुष (दीहलोगसत्थस्स) दीर्घलोक अर्थात् वनस्पति के शस्त्ररूप अग्नि का (खेयणो) खेदक्ष है अर्थात् उसके स्वरूप को जानता है (से) वह (असत्थस्स) संयम के (खेयणो) स्वरूप को जानता है और (जे) जो पुरुष (असत्थस्स) संयम के (खेयणो) व्यापार को जानता है (से) वह (दीहलोगसत्थस्स) वनस्पतिष्काय के शस्त्र रूप अग्नि के (खेयणो) व्यापार को जानता है ॥ ३२ ॥

भावार्थः—मसार में जितने भी एकेन्द्रिय प्राणी हैं उन सब से वनस्पति अर्थात् वृक्ष ही बड़ा होता है । इसलिए उसे 'दीर्घलोक' कहा है । अग्नि उसे जला डालती है इसलिए अग्नि को 'दीर्घलोकशस्त्र' कहा है । संयम ही एक ऐसी वस्तु है जिससे किसी भी प्राणी का

घात नहीं होता है अतः उसे 'अशस्त्र' कहा है ॥

बीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थः—(सया) सदा (अप्पमत्तेहिं) प्रमाद रहित एव (सया) सदा (जत्तेहिं) अतिचार रहित मूलगुण और उत्तरगुण के पालन में यत्न करने वाले (सजएहिं) संयमी (बीरेहिं) वीर तीर्थंकरों ने (अभिभूय) परीणा, उपसर्ग और ज्ञानाचरणीयादि कर्मों का अभिभव करने (एयं) यह (दिट्ठं) देखा है अर्थात् अग्नि को शस्त्र रूप और समय को अशस्त्ररूप देखा है ॥ ३३ ॥

भावार्थः—केवलज्जानी पुरुषों ने यह फरमाया है कि अग्नि समस्त प्राणियों का घातक शस्त्र है और समय समस्त प्राणियों का रक्षक अशस्त्र है अतः मुनि को अग्नि का आरम्भ त्याग कर शुद्ध संयम का पालन करना चाहिये ॥

जे पमत्ते गुणट्ठिए से हु दंडे ति पयुच्चड ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो पुरुष (पमत्ते) प्रमाद करता है और (गुणट्ठिए) किसी प्रयोजन के लिए अग्नि का आरम्भ करता है (गे) वह (हु) निश्चय ही (दंडे ति) प्राणियों को दण्ड देने वाला (पयुच्चड) कहा जाता है ॥ ३४ ॥

भावार्थः—जो पुरुष भगवान और विषय सेवन करने वाला है तथा रमोई बनाने, प्रकाश करने और शीतनिवारण आदि प्रयोजनों के लिए अग्निकाय का आरम्भ करता है वह समस्त प्राणियों को दण्ड देने वाला है क्योंकि अग्नि के आरम्भ से छहों काय के जीवों का घात होता है ॥

तं परिणामाय मेहावी इयाणि शो, जमहं पुण्यमकासा पमाएणं ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थः—(मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (तं) अग्निकाय के आरंभ को (परिणामाय) समस्त प्राणियों का घातक जान कर, यह निश्चय करे कि (पुण्य) पहले (पमाएण) प्रमाद के कारण (अह) मैने-(ज) जो (अकासी) अग्निकाय का आरंभ किया था सो (इयाणि) अन्न (शो) नहीं करूँगा ॥ ३५ ॥

भावार्थ—अग्निकाय के आरंभ के बुरे परिणामों को जान कर बुद्धिमान् पुरुष उसका सर्वथा त्याग कर दे ।

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति पवयमाणा जमिणं विरुवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अणो अणेगरूवे पाणे विहिंसइ । तत्थ खलु भगवया परिणणा पवेइया, इमस्स चैव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुग्खपडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारंभइ, अणोहिं वा अगणिसत्थं समारं-विइ, अणो वा अगणिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहिइ; से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समु-ड्ढाय, सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गडिए लोए जमिणं विरुवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अणो अणेग-रूवे पाणे विहिंसइ ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत् । इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० २३ के समान ही है । उस सूत्र में अग्नि का वर्णन किया गया है और इस सूत्र में अग्नि का वर्णन है । सिर्फ इतना ही फर्क है । बाकी मारा अर्थ समान है ॥ ३६ ॥

से वेमि—संति पाणा पुढविणिस्सिया तण्णिस्सिया पत्तणिस्सिया गोमयणिस्सिया कयवरणिस्सिया, सति संपाइमा पाणा आहव्व संपयंति, अग्निं य खलु पुट्ठा एगे संधायमावज्जंति, जे तत्थ संधायमावज्जंति ते तत्थ परि-यावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उदायंति ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थः—(से वेमि) में कहता हूँ कि (पुडविणिस्सिया) पृथ्वी के आश्रय में रहने वाले (तण्णिस्सिया) तृण के आश्रय में रहने वाले (पत्तणिस्सिया) पत्तों के आश्रय में रहने वाले (गुडविणिस्सिया) काष्ठ के आश्रय में रहने वाले (गोमयणिस्सिया) गोबर के आश्रय में रहने वाले (कयवरणिस्सिया) कचरे के आश्रय में रहने वाले जो (पाणा) प्राणी (सति) हैं, वे अग्नि के आरम्भ से जल कर मर जाते हैं । तथा जो (संपाइमा) उठने वाले पतन आदि (पाणा) प्राणी (मति) हैं वे (आहव्व) उड़कर (मयति) अग्नि में गिरते हैं (य) और (ते) वे (अग्नि) अग्नि को (पुट्ठा) स्पर्श करके (गलु) निश्चय ही (संधायमावज्जति) घायल हो जाते हैं और (ते) जो (तत्थ) अग्नि का स्पर्श कर (संधायमावज्जति) घायल हो जाते हैं (ते) वे (तत्थ) वहा (परियावज्जति) मूर्च्छित हो जाते हैं और (ते) जो (तत्थ) वहा (परियावज्जति) मूर्च्छित हो जाते हैं (ते) वे (तत्थ) वहा (उदायंति) मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थः—पृथ्वीकाय तथा पृथ्वी के आश्रित और तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर तथा कचरा आदि के आश्रित जीव एव पतझ

अमर मक्खी मच्छर आदि जीव अग्नि के आरम्भ से जल कर भस्म हो जाते हैं। अतः अग्नि के आरम्भ को छ. काय जीवों का घातक होने से पाप का कारण जान कर उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥

एतथ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चैए आरंभा अपरिणयाया भवंति, एतथ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चैए आरंभा परिणयाया भवंति, तं परिणयाय मेहावी एव सयं अगणिसत्थं समारंभेज्जा, एव अएणेहि अगणिसत्थं समारंभवेज्जा, अगणिसत्थं समारंभमाणे अएणे न समणुजाणेज्जा, जस्सेए अगणिकम्मसमारंभा परिणयाया भवंति से हु मुणी परिणयाय-कम्मे ॥ ३८ ॥ चि वेमि ।

अन्वयार्थः—पूर्ववत् । इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० ३० के अनुसार है । उस सूत्र में अण्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र में अग्निकाय का वर्णन है, सिर्फ इतना ही फर्क है । बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ३८ ॥ (चि वेमि) पूर्ववत् ॥

॥ इति पंचम उद्देशक ॥

❀ पहले अध्ययन का पाँचवाँ उद्देशक ❀



इस उद्देशक में वनस्पतिकाय का वर्णन किया जाता है। यद्यपि अग्नििकाय के पश्चात् वायुिकाय का वर्णन करना चाहिए था किन्तु वायुिकाय अचातुष होने से उसका ज्ञान कठिनता से होता है। वनस्पतिकाय तो सब को प्रत्यक्ष दिखाई देती है। उसका ज्ञान होना सरल है इसलिये पहले वनस्पतिकाय का वर्णन किया जाता है।

तं शो करिस्सामि समुद्गाए, मत्ता महम्मं, अभयं विडत्ता, तं जे शो करण, एसीवरण, एत्थोवरण, एस अणगारेत्ति पवुच्चइ ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—श्री सुधर्मस्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि (महम्मं) हे उत्तम बुद्धि वाले शिष्य ! (मत्ता) जीवादि पदार्थों के स्वरूप को जान कर तथा (समुद्गाए) श्री तीर्थंकर देव के फरमाये हुए मार्ग के अनुसार प्रपञ्च का धारण करके एव (अभय) समस्त भयों से रहित सयम को (विडत्ता) जानकर, मुनि यह प्रतिष्ठा करे कि अब मैं (त) वनस्पतिकाय का आरम्भ (शो) नहीं (करिस्सामि) करूँगा। (जे) जो पुरुष (त) वनस्पतिकाय का आरम्भ (णो) नहीं (करण) करता है (एत्थोवरण) वही पुरुष उग्रतर यानी सावध कर्म से निवृत्त है (एत्थोवरण) ऐसा सर्वमावण कर्म से निवृत्त पुरुष इस जैन शासन में ही होता है, अन्यत्र नहीं होता है। (णम) ऐसा पुरुष ही (अणगारेत्ति) अनगार (पवुच्चइ) कहा जाता है ॥ ३६ ॥

भावार्थः—जो वनस्पतिकाय का आरम्भ स्वयं नहीं करता है, दूसरों से नहीं करवाता है और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता है, वही अनगार कहलाता है। जो इससे विपरीत आचरण करता है, वह अनगार नहीं है ॥

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ॥ ४० ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (गुणे) शब्दादि गुण है (से) वही (आवट्टे) आवर्त्त-ससार है और (जे) जो (आवट्टे) ससार है (से) वही (गुणे) शब्दादि गुण है ॥ ४० ॥

भावार्थः—शब्दादि विषयों को गुण कहते हैं और ससार को आवर्त्त कहते हैं। यद्यपि आवर्त्त शब्द का अर्थ नदी आदि का भँवर भी होता है तथापि जैसे नदी आदि के भँवर में पड़ी हुई वस्तु निरन्तर भ्रमण करती रहती है इसी तरह ससार में पड़ हुए प्राणी भी निरन्तर चारों गतियों में भ्रमण करते रहते हैं, इसलिए यहाँ ससार के लिए आवर्त्त शब्द का प्रयोग किया गया है। शब्दादि विषयों में जीवों की जो आत्मक्ति है वही ससार परिभ्रमण का कारण है। इसलिए विवेकी पुरुषों को उस आसक्ति का त्याग कर देना चाहिए ॥

उड्डं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रुवाइं सुणोइ, उड्डं अहं तिरियं पाईणं मुच्छमाणे
रूवेसु मुच्छइ, सहेसु आवि ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थः—(उड्ड) ऊपर (अहं) नीचे (तिरिय) तिरछे (पाईणं) पूर्व आदि दिशाओं में (पासमाणे) देखता हुआ जीव (रूवाइ) रूपों को (गसइ) देखता है और (सुणमाणे) सुनता है (सुणोइ) शब्दों को (मुणोइ) सुनता है। (उड्ड) ऊपर (अहं) नीचे (तिरियं) तिरछे

(पाईए) पूर्वे आदि दिशाओं में देखे जाने वाले (व्येगु) 'रूपों' में (सुच्छमाणे) राग करता हुआ प्राणी (मुच्छइ) उनमें मूर्च्छित होता है और इसी तरह (सहेसु आदि) शब्दों में भी राग करता हुआ जीव उन्ध को प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ:—शब्दादि कामगुण संसारपरिभ्रमण के कारण हैं। वे ऊपर, नीचे, तिरछे सर्वत्र व्याप्त हैं, कोई भी स्थान इनसे खाली नहीं है। जो पुरुष इनमें रागद्वेष करता है वह कर्मों का बन्ध करके संसारपरिभ्रमण करता है ॥

एस लोए वियाहिए, एत्थ अगुत्ते अणाणाए ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ:—(एस) यह (लोए) लोक अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द (वियाहिए) निषेय करते गये हैं। जो पुरुष (एत्थ) इन विषयों में (अगुत्ते) अगुप्त है अर्थात् इनमें रागद्वेष करता है वह (अणाणाए) भगवान् की आज्ञा में नहीं है ॥ ४२ ॥

भावार्थ:—यहाँ लोक शब्द से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द लिये गये हैं। जो पुरुष इनमें आसक्त होकर रागद्वेष के बशी-भूत होता है वह संसारसागर में परिभ्रमण करता है ॥

पुणो पुणो गुणासाए, वंरुसमायरे ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ:—(पुणो पुणो) बारबार (गुणासाए) शब्दादि में आसक्त होकर उनका उपभोग करने वाला पुरुष (वंरुसमायरे) फुटल आचरण करने वाला होता है और इनकी प्राप्ति के लिए वह हिंसा, झूठ आदि सभी पापों का सेवन करता है ॥ ४३ ॥

पमत्त अगारमावसे ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थः—जो पुरुष (पत्नी) प्रसन्न अर्थात् शब्दादि विषयो में आत्मक है वही (अगार) गृहस्थवास में (अवसे) निवास करता है ॥ ४४ ॥

भावार्थः—ऊपर कहे हुए शब्दादि विषयो में जो पुरुष आसक्त हैं वे ही दत्त विषयों के सेवन के लिए गृहस्थवास में निवास करते हैं किन्तु जो इनसे विरक्त हैं वे गृहसम्बन्ध को छोड़ कर आत्मकल्याण में प्रवृत्त हो जाते हैं ॥

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरुवरूवेहि सत्थेहिं वणस्सइक्कम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अएणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, तत्थ खलु भगवया परिणया पवेडया, इमस्स चेव जीवियस्स परि-
वंदयमाणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वणस्सइसत्थं समारंभइ, अएणेहिं वा वणस्सइसत्थं समारंभवेइ, अएणे वा वणस्सइसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अवोहिइ; से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय, सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं शायं भवइ, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णए, इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरुवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइक्कम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अएणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत् । इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० २३ के समान ही है । उग सूत्र में आत्मा का धर्मान किया गया है

और इस सूत्र में वनस्पतिकाय का वर्णन है। सिर्फ इतना ही फर्क है। बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ४५ ॥

से वेभि-इमं वि जाइधम्मयं एयं वि जाइधम्मयं, इमं वि बुद्धिधम्मयं एयं वि बुद्धिधम्मयं, इमं वि चित्तमंतयं एयं वि चित्तमंतयं, इमं वि छिण्णं मिलाइ एयं वि छिण्णं मिलाइ, इमं वि आहारं एयं वि आहारं, इमं वि अणिच्चयं एयं वि अणिच्चयं, इमं वि असासयं एयं वि असासयं, इमं वि चयोवचइयं एयं वि चयोवचइयं, इमं वि विपरिणामधम्मयं एयं वि परिणामधम्मयं ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः—(से वेभि) मे कहता हू कि जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (जाइधम्मय) उत्पत्ति धर्म वाला है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (जाइधम्मय) उत्पत्ति धर्म वाला है। जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (बुद्धिधम्मय) वृद्धि धर्म वाला है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (बुद्धिधम्मय) वृद्धि धर्म वाला है जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (चित्तमंतय) चेतन है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (चित्तमंतय) चेतन है। जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (छिण्ण) काट देने पर (मिलाइ) सूख जाता है वैसे ही (एयं वि) यह वनस्पतिकाय भी (छिण्णं) काट देने पर (मिलाइ) सूख जाता है। यह मनुष्य का शरीर (आहार) आहार करता है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (आहारं) आहार करता है। जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (अणिच्चय) अनित्य है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (अणिच्चय) अनित्य है। जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (असासय) अशाश्वत है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (असासय) अशाश्वत है। जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (चयोवचइय) चयोवचइय

अपचय-हास और उपचय-वृद्धि को प्राप्त होता है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (वयोवचइय) अपचय और उपचय को प्राप्त होता है। जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (विपरिणामधम्मय) परिणामी है अर्थात् अनेक परिणामों-विकारों को प्राप्त होता है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (विपरिणामधम्मय) परिणामी है अर्थात् अनेक परिणामों-विकारों को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

भावार्थः—बहुत से अन्यतीर्थी वनस्पतिकाय को अचेतन मानते हैं और उसके हृदय भेदन में हिसा न होना बताते हैं किन्तु उनकी यह मान्यता अज्ञानमूलक है क्योंकि जैसे हमारे चेतनायुक्त शरीर में उत्पत्ति, वृद्धि, चेतना, चय, उपचय आदि धर्म पाये जाते हैं वैसे ही वे सारे धर्म वनस्पतिकाय में भी पाये जाते हैं। इसलिए वनस्पति चेतन है, अचेतन नहीं।

एतथ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चए आरंभा अपरिणयाया भवति, एतथ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चए आरंभा परिणयाया भवति, तं परिणयाय मेहावी शेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा, शेवणोहिं वणस्सइसत्थं समारंभावेज्जा, वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेए शेवणो वणस्सइसत्थसमारंभा परिणयाया भवति से इ सुणी परिणयायकम्मे ॥ ४७ ॥ त्ति वेमि ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत्। इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० ३० के अनुसार है। उस सूत्र में अपकाय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र में वनस्पतिकाय का वर्णन है। सिर्फ इतना ही फर्क है। बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ४७ ॥ (त्ति वेमि) पूर्ववत् ॥

॥ इति पंचम उद्देशक ॥

से त्रैमि-मंतिमे तसा पाणा, तंजहा--अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेयया, गम्मुच्छिमा, उन्भियया, उव-
वाइया, एस संसारं ति पनुच्चड ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थः—(ते देवि) मैं कहता हूँ (रस) ये (लगा) प्रस (पाणा) प्राणी (सात) हैं (जन्मा) ऐसे कि (११ वा) अण्ड से उत्पन्न होने वाले कवूतर, मुर्गा आदि (पोयया) पोतज अर्थात् जन्म के समय चर्म से झारुत होकर तोथली सहित उत्पन्न होने वाले अथवा बच्चा रूप से उत्पन्न होने वाले हाथी, चमगादड़ आदि (जराउया) जरायुज यानी जन्माल से चेषित होकर उत्पन्न होने वाले गाय, भैंस तथा मनुष्य आदि (रसया) विरुत रस में उत्पन्न होने वाले (गम्मुच्छिमा) पत्तीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, राटमल आदि (मम्मुच्छिमा) माता-पिता के संयोग बिना उत्पन्न होने वाले कीड़ी मक्खनी आदि (उन्भियया) उद्भिज अर्थात् जमीन को फोड़कर उत्पन्न होने वाले पतङ्ग राक्षसी आदि (जगारया) औष्ण्यतिक प्रथम् उत्पन्न शय्या में उत्पन्न होने वाले रेंव नारक (१२) ये सब (संगारंति) संसार (पुव्वचड) कहते जाते हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थः—यं आठ प्रकार के अस कहें गये हैं : ये संसार में मदा विद्यमान रहते हैं। संसार इनमें कभी भी स्थानी नहीं होता क्योंकि इन प्राणियों का ही नाम संसार है।

मंदस्सावियाणयो ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः—(मन्दस्स) मन्द पुरुष की और (अवियाणयो) अज्ञानी पुरुष की ही संसार में उत्पत्ति होती है ॥ ४६ ॥

भावार्थः—जो प्राणी हित और अहित का विचार करने में बालक के समान असमर्थ है वह मन्द कहलाता है और जो कुशास्त्र के श्रयण और कुसङ्ग के कारण विपरीत बुद्धि वाला है वह अज्ञानी है। ये मन्द और अज्ञानी पुरुष ही बार-बार संसार में उत्पन्न होते रहते हैं।

णिज्झाइत्ता पडिलेहिता पत्तेयं परिणिव्वाणं सन्वेसिं पाणाणं सन्वेसिं भूयाणं सन्वेसिं जीवाणं सन्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं त्ति वेमि, तसंति पाणा दिसो दिसासु य ॥ ५० ॥

अन्वयार्थः—(णिज्झाइत्ता) मन से चिन्तन करके और (पडिलेहिता) यथार्थ रूप से निश्चय करके (त्ति वेमि) मैं कहता हूँ कि 'सन्वेसिं' सद्य (पाणाण) प्राणी (सन्वेसिं) सद्य (भूयाण) भूत (सन्वेसिं) सब (जीवाण) जीव और (मन्वेसिं) सब (सत्ताण) सत्त्वों को (पत्तेयं) अलग अलग (परिणिव्वाण) सुख (असाय) असाता (अपरिणिव्वाण) अपरिनिर्वाण (महब्भय) महान् भय और (दुक्ख) दुःख का अनुभव होता है। (पाणा) सभी त्रस प्राणी (गदिमो दिसासु य) दिशाओं और विदिशाओं में (तसंति) नाश की शका से डरते रहते हैं ॥ ५० ॥

भावार्थः—विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों को प्राण कहते हैं। वनस्पतिकाय को भूत कहते हैं। पचेन्द्रिय प्राणियों को जीव कहते हैं और पृथ्वीकाय, आपकाय, तेजकाय और वायुकाय इन चार स्थावर जीवों को सत्त्व कहते हैं। जब तक

संयम स्वीकार न किया जाय तब तक ये जीव चाहे किसी दिशा में या विदिशा में रहें किन्तु भयभीत ही होते रहते हैं। इसलिए जो इनकी हिंसा से सर्वथा निवृत्त हो जाता है, वही मुनि है ॥

तत्थ तत्थ पुढो पास आउरा परितवेंति, मंति पाणा पुढो सिया ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थः—(तत्थ तत्थ पुढो) भिन्न भिन्न प्रयोजनों के लिए (आउरा) विनयासक्त प्राणी (गरितावति) इन जीवों का शान करने हैं। (पाणा) ये प्राणी (गिया) पृथ्वी आदि के आश्रित और (पुढो) भिन्न स्थानों में अर्थात् सर्वत्र (गति) हैं ॥ ५१ ॥

भावार्थः—ये प्राणी सर्वत्र हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जो इनसे खाली हो। इसलिए समिति और गुप्ति के पालन में ही मनुष्य इनकी हिंसा से बच सकता है ॥

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहि तसकायसमारंभेणं तसकाय-
सत्थं समारंभमाणे अणो अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, तत्थ खलु भगवया परिणया पवेइया, इमस्स चैव जीवियस्स परि-
चंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से मयमेव तसकायसत्थं समारंभइ, अणोहिं वा तमकायमत्थं
समारंभावेइ, अणो वा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहिइ; से तं संवुज्झमाणे आयाणीयं
समुट्ठाय, सोन्वा भगवओ अणगाराणं वा अंतिण् इहमेगेसिं खायं भनइ, एम खलु गंथे, एम खलु मोहे, एम खलु मारे,

एस खलु गारए, इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अरणे
अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत् । इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० २३ के समान ही है । उस सूत्र से अष्काय का वर्णन किया गया है
और इस सूत्र में त्रसकाय का वर्णन है । सिर्फ इतना ही फर्क है । बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ५२ ॥

से बेमि—अप्येगे अरुचाए वहंति, अप्येगे अजिणाए वहंति, अप्येगे मंसाए वहंति, अप्येगे सोणियाए वहंति, एवं
हियाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए बालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए गण्डाए एहाण्णीए अट्ठीए अट्ठिमि-
जाए अट्ठाए अण्डाए, अप्येगे हिंसिस्सु मे ति वा वहंति अप्येगे हिंसंति मे ति वा वहंति अप्येगे हिंसिस्संति मे ति वा
वहंति ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थः—(से बेमि) मैं कहता हूँ कि (अप्येगे) कितनेक जीव (अरुचाए) प्राणियों के शरीर का भोग देने के लिए अथवा
विद्या मन्त्र आदि की सिद्धि के लिए लक्षणवान् पूर्णान् पुरुष को एव प्राणियों को (वहति-हणति) मारते हैं । (अप्येगे) कोई (अजिणाए)
चर्म के लिए शेर, चीता आदि त्रस प्राणियों को (वहति) मारते हैं । (अप्येगे) कोई (मसाए) मास के लिए सूअर आदि को (वहति)
मारते हैं (अप्येगे) कोई (सोणियाए) लोही के लिए (वहति) मारते हैं (एव) इसी तरह कोई (हियाए) हृदय के लिए, कोई (पित्ताए) पित्त
के लिए मोर आदि को, (वसाए) चर्बी के लिए मगरमच्छ आदि को, (पिच्छाए) पांख के लिए मोर गृध्र पक्षी आदि को, (पुच्छाए)

पूछ के लिए रोक्क आदि को (बालाए) वे दोहों के लिए जमरी गाय आदि को, (सिगाए) सींगों के लिए मृगविशेष एवं शरह सींगे को, (विसाणाए) अन्धकार विनाशक दात विशेष के लिए शृगालादि को, (दाताए) हाथीदांत के लिए हाथी को, (दाढाए) दाढ़ के लिए सूअर आदि को (गद्दाए) नख के लिए व्याघ्र को, (खरुणिण) स्नायु के लिए गाय भैंस आदि को, (शृद्धीए) हड्डी के लिए शख शीप आदि को, (अट्टिभिजाए) हड्डी की चर्बी के लिए भैंसे और सूअर आदि को (शृद्धाए) उपरोक्त प्रयोजनों के लिए अथवा (अण्डाए) बिना प्रयोजन भी ब्रह्म प्राणियों का घात करते हैं । (अप्येगे) कोई तो (मे) “इस प्राणी ने मेरे आत्मीय एवं सम्बन्धी को (हिसित्तम) मारा था” (त्ति) इस द्वेष से (वहंति) उसे मारते हैं (गा) और (अप्येगे) कोई (मे) ‘यह प्राणी मुझको या मेरे सम्बन्धी को (हिसित्त) मार रहा है’ (त्ति) यह जान कर (गहंति) उसे मारते हैं (वा) अथवा (अप्येगे) कोई (मे) यह प्राणी मुझको या मेरे सम्बन्धी को (हिंमिसित्त) मारेगा (त्ति) यह जान कर (गहंति) मारते हैं ॥ ५३ ॥

भावार्थः—इस जगत् में बहुत से विषयासक्त प्राणी अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए भिन्न भिन्न गगोजनों से ब्रह्म प्राणियों की हिसा करते हैं और बहुत से अज्ञानी जीव ऐसे भी होते हैं जो बिना प्रयोजन केवल अपने चित्तविनोद के लिए तथा ब्रह्म के कारण ब्रह्म प्राणियों की हिसा करते हैं । यह सध कर्मबन्ध का कारण है अतः मुमुक्षु ज्ञानी पुरुष सयम धारण करके वस हिसा का सर्वथा त्याग कर देते हैं ॥

एतथ सत्थं समारंभमाणस्स इच्छेए आरंभा अपरिएणाया भवंति, एतथ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्छेए आरंभा परिएणाया भवंति, तं परिएणाय मेहावी एवे सयं तसकायसत्थं समारंभेज्जा, एवे अएणेहि तसकायसत्थं समारंभावेज्जा,

एव अणो तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेए तसकायसमारंमा परिणयाया भवंति सेहु सुणी परिणयाय-
कम्मे ॥ ५४ ॥ त्ति वेमि ।

अन्ययार्थः—पूर्ववत् । इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र नं० ३० के अनुसार है । उस सूत्र में आपकाय का वर्णन किया गया है और
इस सूत्र में त्रसकाय का वर्णन है, सिर्फ इतना ही फर्क है । बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ५४ ॥ (त्ति वेमि) पूर्ववत् ॥

॥ इति षष्ठ उद्देशक ॥

❀ पहले अध्ययन का सातवाँ उद्देशक ❀



पहू एजस्स दुगुं अणए ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थः—जो पुरुष वायुकाय को चेतन जानता है वह (एजस्स) वायुकाय के (दुगुं अणए) आरम्भ से निवृत्त होने में (पहू) समर्थ होता है ॥ ५५ ॥

भावार्थः—जो वायुकाय को सचेतन नहीं मानते हैं वे वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त नहीं हो सकते किन्तु जो वायुकाय को सचेतन जानते हैं वे ही इसके आरम्भ का त्याग कर सकते हैं ।

आयं रुंदंसी अहियं ति णच्चा, जे अज्झत्थं जाणइ, जे वहिया जाणइ, जे वहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ, एयं तुलमरणेसि ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थः—(आयं रुंदंसी) वायुकाय के आरम्भ से होने वाले उसके दुःख को देखने वाला एवं जानने वाला पुरुष (अहिय ति) वायुकाय के आरम्भ को अहितकारी (णच्चा) जान कर उसका त्याग कर देता है । (जे) जो (अज्झत्थं) अपने सुख दुःखों को (जाणइ) जानता है (से) वह (वहिया) बाहर के अर्थात् दूसरे प्राणियों के सुख दुःखों को भी (जाणइ) जानता है और (जे) जो (वहिया) बाहर के अर्थात् दूसरे प्राणियों के सुख दुःखों को (जाणइ) जानता है (से) वह (अज्झत्थं) अपने सुख दुःखों को भी (जाणइ) जानता

है । (एय) इस तरह (अन्नेसि) दूसरे प्राणियों में भी (बुल) अपने सम्मान ही सुख दुख समझना चाहिए ॥ ५६ ॥

भावार्थ:—जो पुरुष यह जानता है कि 'जिस प्रकार मुझे सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है उसी प्रकार दूसरे ममस्त प्राणियों को भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है' वही पुरुष वायुकाय के आरम्भ का एव समस्त प्राणियों के आरम्भ का त्याग करने में समर्थ होता है ॥

इह संतिगया दविया शावकं खति जीविउं ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थ:—(इह) इस जैन शासन में (सतिगया) शांति को प्राप्त (दविया) द्रविक अर्थात् संयमी मुनि (जीविय) जीना यानी वायुकाय का आरम्भ करके असंयमपूर्ण जीवन की (शावकराति) इच्छा नहीं करते हैं ।

भावार्थ:—सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चाग्नित्ररूप शान्ति को प्राप्त संयमी मुनि वायुकाय का आरम्भ नहीं करते ।

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरुवरूवेहिं सत्थेहि वाउकम्मसमारंभेणं वाउ-
सत्थं समारंभमाणे अणगे अणोगरूवे पाणे विहिंसइ । तत्थ खलु भगवया परिणणा पवेइया । इमस्स चैव जीवियस्स परि-
वंदणमाणणापूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउसत्थं समारंभइ, अणणेहिं वा वाउसत्थं समारं-
भावइ, अणणे वा वाउसत्थं समारंभने समणुजान्हइ, तं से अहियाए, तं से अणोहिए; से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय
सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं गायं भवइ, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु

शरण, इच्छत्यं गहिए लोए जमिणं विरुवरुवेहिं सत्येहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अएणे अणेगरुत्ते पाणे विहिंसइ ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत् । इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० ०३ के समान है । उस सूत्र में अक्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र में वायुकाय का वर्णन है । मिर्फ इतना ही फकत है । वाक्री सारा अर्थ समान है ॥ ५८ ॥

से वेमि—संति मपाइमा पाणा आहच्च मंपयति य फरिसं य खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उदायंति, एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरि-
एणाया भवति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिएणाया भवंति, तं परिएणाया मेहावी शेव सयं वाउसत्थं समारंभेज्जा, शेवएणेहिं वाउसत्थं समारंभावेज्जा, शेव अएणे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेए वाउसत्थसमारंभा परिएणाया भवति से दु मुणी परिएणायकम्मे ॥ ५९ ॥ त्ति वेमि ॥

अन्वयार्थः—(से वेमि) मैं कहता हूँ कि (सगइया) उड़कर चलने वाले (पाणा) बहुत से प्राणी (सति) हैं । वे (आहच्च) वायु के आघात से (संपयति) गिर पड़ते हैं (य) और (खलु) निश्चय ही (एगे) वे जीव (फरिस) वायुकाय के स्पर्श को (पुट्ठा) प्राप्त करके (सघायमावज्जति) घायल हो जाते हैं (जे) जो (तत्थ) वहा (सघायमावज्जति) घायल हो जाते हैं (ते) वे (तत्थ) वहा (परियावज्जति) मूर्च्छित हो जाते

हैं। (जे) जो (तत्त्व) वहां (परिग्राह्यवृत्ति) मूर्च्छित हो जाते हैं (ते) वे (तत्त्व) वहां (उद्घातित) मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

इसके आगे सम्पूर्ण पाठ का अन्वयार्थ सूत्र न० ३० के अनुसार है। उस सूत्र में अप्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र में वायुकाय का वर्णन है। सिर्फ इतना ही फर्क है। बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ५६ ॥

एतथं वि जाण उवाइयमाणा, जे आचारं ए रमंति, आरंभमाणा विणयं वयंति, छंदोवणीया अज्जोववएणा सत्ता पक्कंरंति संगं ॥ ६० ॥

अन्वयार्थः—(एतथ वि) वायुकाय तथा पृथ्वीकाय आदि किसी एक काय के आरम्भ से भी प्राणी (उवाइयमाणा) शेष कार्यों के बंध से होने वाले पाप का भागी होता है ऐसा (जाण) जानो। (जे) जो पुरुष (आचारं) आचार में (ए रमंति) प्रेम नहीं रखते हैं उन्हें आरम्भजनित पापकर्म का बन्ध होता है। इस प्रकार (आरंभमाणा) छः काय जीवों का आरम्भ करते हुए भी (विणयं) वे अपने आपको संयमी (वयंति) कहते हैं (छंदोवणीया) वे अपनी इच्छानुसार आचरण करते हैं और (अज्जोववएणा) विषयों में आसक्त रहते हैं। (आरंभसत्ता) वे आरम्भ में आसक्त होकर (संग पक्कंरंति) सावध कर्म का अनुष्ठान करते हैं ॥ ६० ॥

भावार्थः—कितनेक अन्यतीर्थी अपने आपको साधु कहते हैं किन्तु जीवाजीव का वास्तविक ज्ञान न होने के कारण वे पृथ्वी-कायादि छः काय जीवों का आरम्भ करते हुए पापकर्म के भागी होते हैं ॥

से वसुमं सव्वसमएणागयएणाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं एो अप्पणेसिं, तं परिणाय मेहावी शेव

सयं छज्जीवणिकायसत्थं समारंभेज्जा, येव अण्णे छज्जीवणिकायसत्थं समारंभेज्जा, जस्सेए छज्जीवणिकायसत्थसमारंभा परिणया भवन्ति से दु मुखी परिणयायकम्मे । ६१ । त्ति वेमि ।

अन्वयार्थः—(बहुसं) जो पुरुष सम्यक्त्वादि भाव धन से युक्त है (से) वह (मन्वसमरणागप्रगणाणेण अण्णोण) वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान कर अपनी आत्मा द्वारा (अकरणिज्ज) अकरणीय यानी न करने योग्य (पाव कम्म) पापकर्म (णो अण्णोसि) न करे । (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (त) इस विषय को (परिणाय) जान कर (सय) स्वयं (छज्जीवणिकायसत्थ) छ काय जीवों का (येव समारंभेज्जा) आरम्भ न करे, (अण्णेहिं) दूसरों से (छज्जीवणिकायसत्थ) छ. काय के जीवों का (णो मगारभावेज्जा) आरम्भ न करावे और (छज्जीवणिकायसत्थं) छ काय के जीवों का (समारंभते) आरम्भ करने वाले (अण्णे) दूसरों की (येव समणुजाणेज्जा) अनुमोदना भी न करे । (जस्स) जिस पुरुष ने (एए) इन (छज्जीवणिकायसत्थसमारंभा) छ काय जीवों के आरम्भ को (परिणया भवति) जान कर त्याग कर दिया है (से) दु) वही (परिणयायकम्म) कर्म के रहस्य को जानने वाला (मुखी) मुनि है ॥ ६१ ॥ (त्ति वेमि) पूर्ववत् ॥

॥ इति प्रथममध्ययनम् ॥

लोकविजय नामक दूसरा अध्ययन

पहला उद्देशक



पहले अध्ययन में पृष्ठव्यादि छ क़ाय जीवों का तथा उनके शक्ती का वर्णन किया गया है। इनके स्वरूप को जानने वाला मुनि ही रागादि क़पायों पर और शब्दादि विषयों पर विजय प्राप्त कर सकता है। इसलिए इस दूसरे अध्ययन में उनको जीतने के उपायों का वर्णन किया जाता है। यहाँ लोक शब्द से रागादि क़पाय और शब्दादि विषय लिये गये हैं। इस अध्ययन में उनको जीतने के उपायों का वर्णन देने से इसका नाम भी 'लोकविजय' अध्ययन है। इसमें छ उद्देशक हैं। 'यूत्र और अर्थ को जानने वाले मुमुक्षु पुरुष को माता-पितादि स्वजनवर्ग में मोह नहीं करना चाहिए' इस बात का वर्णन पहले उद्देशक में किया गया है।

जे गुणे से मूलद्राणे से गुणे। इइ से गुणद्वी महया परियावेणं पुणो पुणे वसे पमत्ते तंजहा—माया मे, पिया मे, माया मे, भइणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुएहा मे, सहिसयणसंगंथसंथुया मे, विवित्तोवगरणपरिवट्टणभोयणच्छायणं मे, इच्चत्थं गदिए लोए वसे पमत्ते अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुदाई संजोग्घी अट्टालोभी आलुपे सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते, एत्थ सत्थे पुणो पुणे, अप्पं य खलु आउपं इहमेगेसि माणवाणं ॥६२॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (गुणे) शब्दादि गुण है (से) वे ही (मूलद्राणे) संसार के मूलकारण कर्पायों के स्थान हैं और (जे) जो (मूलद्राणे) संसार के मूलकारण कर्पायों के स्थान हैं (से) वे ही (गुणे) शब्दादि गुण हैं (इ) इसलिए जो पुरुष (गुणही) शब्दादि विषयों की इच्छा करता है (से) वह (महता) महान् (परिवाणे) परितोष के साथ (पुणे पुणे) बार बार (बसे) इस संसार में जन्म धारण करता है और (मसे) प्रमाद में पड़ा रहता है। (मे) मेरी (माया) माता है, (मे) मेरा (पिया) पिता है, (मे) मेरा (भाया) भाई है, (मे) मेरी (भइणी) बहिन है, (मे) मेरी (भज्जा) खी है, (मे) मेरे (पुता) पुत्र है, (मे) मेरी (धूया) पुत्री है, (मे) मेरी (सुहाय) पुत्रवधू है (मे) मेरे (सहिसयणसंगयसथुया) मित्र हैं, स्वजन हैं, सम्बन्धी हैं, परिचित हैं, (मे) मेरे (विवितीकरणपरिवृणभोग्यणच्छायण) विविध प्रकार के उपकरण हाथी, घोड़े आदि वाहन, भोजन और वस्त्र आदि हैं। (इत्थत्थ) इस प्रकार इन वस्तुओं को अपनी समझ कर (लोए) अज्ञानी जीव (गडिए बसे) इनमें अत्यन्त आसक्त रहता है और (मसे) अपने कल्याण के अनुष्ठान में प्रमाद करता है (य) और (अथो य रात्रो) रात दिन (परितण्माणे) इनकी चिन्ता से संतप्त रहता हुआ इनकी रक्षा के लिए (काताकालसमुद्राई) काल और अकाल में यानी समय और कुसमय में उठ कर कठिन परिश्रम करता है, (विणिविद्रिनिचे) अपने आत्मीय और प्रियजनों से वस्तुनिष्ठ रहता है और (सजोग्दी) सदा उनका संयोग चाहता है। उनके पालनार्थ (अद्वालोभां) धन का लोभी बन कर (अलुपे) चोरी करता है और (सहसाकारे) बिना विचारे पापमय कार्य करता है। वह अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए (पुणे पुणे) बारबार (एत्य सत्थ) पृथ्वीकाय आदि का आरम्भ करता है। (इह) इस संसार में (राजु) निश्चय ही (एणेसि माणवाण) कितने ही मनुष्यों की (आडयं) आयु (अणं) बहुत थोड़ी होती है अतः इस थोड़ी सी आयु के लिए पाप करना भारी मूर्खता है ॥ ६० ॥

भावार्थः—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच गुण हैं। इन में से मनोज्ञ में राग और अमनोज्ञ में द्वेष उत्पन्न होता है। ये राग-द्वेष ही ससार के मूल कारण हैं। जो पुरुष आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता है वह माता-पिता स्वजन-सम्बन्धी आदि में ममत्व स्थापित करके उनके सुख के लिए अपने सुख को तिलाञ्जली देकर समय असमय का ख्याल न करके कठिन परिश्रम करता है। हिंसा, भूठ, चोरी और कपट आदि पापकर्मों के द्वारा धन का संग्रह करता है, वह यह नहीं सोचता कि 'जिनके पालन के निमित्त मैं घोर पाप करने में भी नहीं हिचकिचाता हूँ वे लोग मेरी आत्मा के लिए इस लोक और परलोक में क्या सहायक हो सकते हैं? उनके जीवन को सुखमय बनाने के लिए ये पाप किये जाते हैं, वह जीवन भी तो अत्यल्प और अत्यन्त चञ्चल है फिर इस स्वल्प जीवन के लिए इतना घोर पाप क्यों किया जाय' यह अज्ञानी जीव इतना भी नहीं सोचता है। अतः विवेकी पुरुष को किसी म भी ममता तथा राग द्वेष न रखते हुए अपने कल्याण के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

तंजहा—सोयपरिणामोहिं परिहायमामोहिं, चक्खुपरिणामोहिं परिहायमामोहिं, धाणपरिणामोहिं परिहायमामोहिं, रसणपरिणामोहिं परिहायमामोहिं, फासपरिणामोहिं परिहायमामोहिं अभिक्कतं य खलु वयं संपेहाए तत्रो से एगया मूढभावं जणयइ ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थः—(सोयपरिणामोहिं) श्रोत्र-कान की शब्द सुनने की शक्ति (परिहायमामोहिं) हीन हो जाने पर (चक्खुपरिणामोहिं) नेत्र की देखने की शक्ति (परिहायमामोहिं) क्षीण हो जाने पर (धाणपरिणामोहिं) नाक की सूंघने की शक्ति (परिहायमामोहिं) हीन हो जाने पर (रसणपरिणामोहिं) रसना-जिह्वा की रस ग्रहण करने की शक्ति (परिहायमामोहिं) क्षीण हो जाने पर और (फासपरिणामोहिं) स्पर्शज्ञान के (परिहायमामोहिं) क्षीण हो जाने पर (य) और (तत्रो) इसके बाद (अभिक्कत-अइक्कत) बीती हुई (वय) आयु को (सपेहाए) देखकर (खलु)

निश्चय ही (से) वह मनुष्य (एग्या) कभी-कभी (गुल्गाव) मूढ़ता को (जस्यह) प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

भावार्थः—श्रोत्र, नेत्रादि इन्द्रियो के द्वारा ही आत्मा प्रत्येक वस्तु का ज्ञान करता है और उन्हीं के द्वारा रूप रसादि विषयो को ग्रहण करता है परन्तु जब वृद्धावस्था आती है तब इन्द्रियो की शक्ति क्षीण हो जाती है तब वह मनुष्य विवेकशून्य हो जाता है क्योंकि हित की प्राप्ति और अहित का परित्याग इन्द्रियो की शक्ति रहते हुए ही हो सकता है किन्तु वृद्धावस्था में सब इन्द्रियो की शक्ति क्षीण हो जाती है तब वृद्ध मनुष्य चिन्ता और अविवेक से मूढ़ बन जाता है। अतः विवेकी मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रियो की शक्ति रहते हुए धर्माचरण में एक क्षणमात्र भी प्रमाद न करे ताकि वृद्धावस्था आने पर उसे चिन्तित एवं मूढ़ न होना पड़े ॥

जेहि वा सद्धि संवसड ते वि गं एगया शियगा पुंवि परिवयंति, सो वा ते शियगे पच्छा परिवएज्जा, शालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं वि तेसिं शालं ताणाए वा सरणाए वा, से ग हासाए ग किडाए ग रइए ग विभूसाए ॥६४॥

अन्वयार्थः—(जेहि सद्धि) जिनके साथ (सवसड) वह निवास करते हैं (ते) वे (शियगा) उस वृद्ध के पुत्र, पुत्री, स्त्री एवं आत्मीय जन (एग्या) एकदा-किसी समय (पुंवि पच्छा) पहले या पीछे (परिययति) उसकी निन्दा करते हैं एवं उसका अनादर करते हैं (वा) अथवा (सो) वह वृद्ध मनुष्य भी (ते) उन (शियगे) अपने पुत्र कलत्रादि एवं आत्मीय जनो की (परिवएज्जा) निन्दा करता है। अतः शास्त्रकार उस वृद्ध पुरुष को लक्ष्य करके कहते हैं कि हे वृद्ध ! (तव) तुम्हारे (ते) वे पुत्र कलत्रादि (ताणाए) तुम्हारी रक्षा करने में (वा) अथवा (सरणाए) शरण देने में (शाल) समर्थ नहीं हैं। (वा) और (तुग वि) तुम भी (तेसिं) उनकी (ताणाए वा) रक्षा करने में (वा) अथवा (सरणाए) शरण देने में (शालं) समर्थ नहीं हो। (से) वह वृद्ध मनुष्य (ग हासाए) न हसी के लिए (ग किडाए) न क्रीडा

के लिए, (ए रइए) न रति के लिए और (ए विभूषण) न विभूषा के लिए योग्य रहता है ॥ ६४ ॥

भावार्थः—बुद्धावस्था बड़ी दुःखरूप है उसके आने पर दूसरे लोग तो क्या किन्तु अपने द्वारा पालन पोषण किये गये निज के पुत्र, पुत्री तथा स्त्री आदि आत्मीयजन भी उसकी निन्दा करते हैं और कहते हैं कि यह बुढ़ा कन भरेगा और कब इससे पिण्ड छुटेगा ? इस प्रकार अनादर को प्राप्त हुआ बुढ़ा दुःखी होकर अपने पुत्र, पुत्री और स्त्री आदि की निन्दा करता है और क्रोधित होकर उन्हें गालियाँ देता है । इस प्रकार वह बुढ़ा मनुष्य स्वयं दुःखी होता है और अपने परिवार को भी दुःखी बनाता है । अतः बुद्धावस्था बड़ी ही दुःखदायिनी है । वह जब तक न आवे तब तक ही मनुष्य को अपने कल्याणमार्ग में प्रवृत्त हो जाना चाहिए ॥

इच्छेवं समुद्धिं अहोविहारां अंतरं य खलु इमं संपेहाए धीरो मुहुत्तमवि णो पमायए वओ अच्चेइ जोन्वणं य ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थः—मित्र आदि तथा पुत्र, पुत्री, स्त्री आदि रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं (इच्छेव) यह जान कर मनुष्य (समुद्धिं) कल्याण के लिए उद्यत होवे और (अहोविहारां) शालोक्त रीति से संयम का पालन करे (य) और (यलु) निश्चय ही (धीरो) धीर पुरुष (इम अतर) आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल में उत्पत्ति आदि प्राप्त हुए सुअवसर को (सपेहाए) देख कर (मुहुत्तमवि) क्षण भर भी (णो पमायए) प्रमाद न करे क्योंकि (वयो) आयु (अच्चेइ) शीघ्रता से बीती जा रही है (य) और (जोन्वण) यौवन तो नदी के वेग के समान अतिशीघ्रता पूर्वक बीता जा रहा है ॥ ६५ ॥

भावार्थः—आयुष्य प्रोसविन्दु के समान चंचल है और यौवन तो पर्वत से उतरने वाली नदी के वेग के समान अतिशीघ्रता पूर्वक व्यतीत होने वाला है । अतः आर्यक्षेत्र उत्तमकुल आदि को प्राप्त करके बुद्धिमान् पुरुष को एक क्षण भर भी धर्मकार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥

जीविए इह जे पमत्ता, से हंता छेत्ता भेत्ता लुं पित्ता उद्वित्ता उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामिति मएण-
माणे, जेहिं वा सद्धि संवसइ ते वा एं एगया शियगा तं पुब्बि पोसेति, सो वा ते शियगे षच्छा पोसिज्जा, शालं ते तव
ताणाए वा सरणाए वा, तुमं वि तेसिं शालं ताणाए वा सरणाए वा ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो अक्षानी (इह) इस (जीविण) जीवन में (पमत्ता) प्रमादयुक्त है अर्थात् भूले हुए हैं, वे प्राणियों के नाश
की क्रिया में प्रवृत्ति करते हैं, तथा (ते) वे अक्षानी जीव (हता) प्राणियों का हनन करते हैं (हेता) उनके अहंता का छेदन करते हैं
(भेत्ता) उनके शिर और नेत्र आदि का भेदन करते हैं (लु पित्ता) लोगो की गांठ काटते हैं (पिलु पित्ता) इन्द्रियों का छेदन-भेदन करते
हैं (वद्वित्ता) विप और शस्त्रादि का प्रयोग करके प्राणियों के प्राणों का हरण करते हैं और (उत्तासइत्ता) प्राणियों को अनेक प्रकार से
भय और त्रास देते हैं । (मएणमाणे) अक्षानी जीव ऐसा मानता है कि (अकड) आज तक जो कार्य किसी ने नहीं किया वह कार्य
(करिस्सामिति) मैं करूँगा, ऐसा मानकर द्रव्य उपार्जन के लिए पापकर्म करता है किन्तु लाभान्तराय के उदय से धन न मिलने पर
अथवा प्राप्त धन का विनाश हो जाने पर (जेहिं सद्धि) जिनके साथ (संवसइ) वह निवास करता है (ते) वे (शियगा) पुत्र कलत्रादि
आत्मीय जन (एगया) किसी समय (पुब्बि) पहले (त) उस पुरुष का (पोसेति) पोषण करते हैं (वा) अथवा धनसम्पन्न होने पर (सो)
वह (पच्छा) पीछे या पहले किसी समय (ते) उन (शियगे) पुत्र कलत्रादि आत्मीय जनो का (पोसिज्जा) पालन पोषण करता है । ऐसे
पुरुष को लक्ष्य करके शास्त्रकार कहते हैं कि हे देवानुप्रिय ! (ते) वे पुत्र कलत्रादि आत्मीयजन (तव) तुम्हारी (ताणाए) रक्षा करने
में (वा) अथवा (सरणाए) शरण देने में (शाल) समर्थ नहीं हैं (वा) तथा (तुम वि) तुम भी (तेसिं) उनकी (ताणाए) रक्षा करने में (वा)
अथवा (सरणाए) शरण देने में (शाल) समर्थ नहीं हो ॥ ६६ ॥

भावार्थः—विषयभोगो मे आसक्त अज्ञानी नीच त्रस और स्थावर सभी प्राणियो का नाना प्रकार से घात करता है और पुत्र कलत्रादि एव कुटुम्ब परिवार के पालनपोषणार्थ धनोपार्जन करने के लिए वह नानाविध पापाचरण करता है किन्तु वे उसके लिए नाना-शरण रूप नहीं हो सकते ॥

उवाइयसेसेण वा संणिहिंसंणिचओ किज्जइ, इहमेगिं अंसंजयाण भोग्याए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समु-
प्पजंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया णियगा तं पुंवि परिहरंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिहेज्जा, णालं ते
तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं वि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थः—(उवाइयसेसेण) खाने के पश्चात् जो वच जाता है उससे कोई धनसंग्रह करता है (वा) अथवा (सणिहिसंणि-
चओ) कोई खाने में अत्यन्त कृपणता करके भी धन का संग्रह (किज्जइ) करता है । (इह) इस संसार मे (एगेसिं) कितनेक (असजयाण
असयमी प्राणी (भोग्याए) अपने भोग के लिए द्रव्य का सचय करते हैं, परन्तु (एग्या) कभी ऐसा होता है कि (तओ) धन उपार्जन
करने के पश्चात् भोग के समय (से) उस पुरुष के शरीर में (रोगसमुप्पाया समुज्जति) रोग उत्पन्न हो जाते हैं । तब (जेहिं सद्धिं)
जिनके साथ (वसइ) वह निवास करता है (ते) वे (णियगा) पुत्रकलत्रादि आत्मीय जन (एग्या) किसी समय (पुंवि) पहले ही (तं)
उस पुरुष को (परिहरति) छोड़ देते हैं (वा) अथवा (सो) वह पुरुष (ते) उन (णियगे) आत्मीय जनों को (पच्छा) पीछे (परिहेज्जा) छोड़
देता है । संसार की ऐसी ही स्थिति है, इसे देख कर शास्त्रकार कहते हैं कि हे भग्यजीवो ! (ते) वे पुत्र कलत्रादि आत्मीय जन
(तव) तुम्हारी (ताणाए) रक्षा करने मे (वा) अथवा (सरणाए) शरण देने मे (णाल) समर्थ नहीं हैं (वा) और (तुम वि) तुम भी (तेसिं)

उन पुत्र कलत्रादि आत्मीय जनों की (ताणए) रक्षा करने में (वा) अथवा (सरणए) शरण देने में (शाल) समर्थ नहीं हो ॥ ६७॥

भावार्थ:—ससारी जीव नाना कष्ट उठा कर धन सञ्चय करते हैं। वे समझते हैं कि यह संग्रह किया हुआ द्रव्य भविष्य में हमारे तथा हमारे सम्बन्धियों के काम में आयेगा तथा इस धन का यथेच्छ उपभोग करेंगे और इस धन से हम अपनी रक्षा कर सकेंगे ऐसा सोच कर नाना प्रकार के कष्ट सहन करके धन का संग्रह करते हैं। वे न तो स्वयं पेट भर खाते हैं और न अपने परिवार वालों को ही खाने देते हैं। परन्तु इस तरह कष्ट पूर्वक उपार्जन किया हुआ धन भी उनकी रक्षा नहीं कर सकता। बहुत बार यह भी देखा जाता है कि भोगने के समय में उस पुरुष को रोग आकर घेर लेते हैं और वह उस सम्बन्धित धन का भोग नहीं कर सकता। दूसरे लोग ही उस धन का उपभोग करते हैं। वह तो केवल परिश्रम और पाप का भागी होता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों को धन की तृष्णा से अपने अमूल्य समय को नष्ट करना उचित नहीं है ॥

जाणिन्तु दुक्खं पत्तेयं सायं ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ:—प्राणियों को (साय) सुख और (दुक्ख) दुःख (पत्तेय) प्रत्येक यानी अलग अलग भोगना पड़ता है। (जाणिन्तु) यह जान कर रोग आने पर उस कष्ट को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

भावार्थ:—ससार में जितने प्राणी हैं सभी अपने किये कर्म के फलरूप सुख दुःख को अकेले ही भोगते हैं। कोई किसी के सुख दुःख का भागी नहीं होता तथा वह कर्मफल अवश्य ही भोगना पड़ता है, बिना भोगे उससे छुटकारा नहीं होता है। अतः ऐसा विचार कर विवेकी पुरुष को समभावपूर्वक उस दुःख को सहन कर लेना चाहिए ॥

अणभिक्रंतं य खलु वयं संपेहाण ॥ ६९ ॥

अन्ययार्थः—(अणभिककत) बीती हुई अपनी (वय) आयु को (सोहाए) देख कर (खलु) निश्चय ही विवेकी पुरुष आत्म कल्याण के लिए प्रयत्न करें ॥ ६६ ॥

भावार्थः—जब तक इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं हो जाती तब तक ही मनुष्य को अपने कल्याण में प्रवृत्त हो जाना चाहिए।
खणं जाणाहि पंडिए ॥ ७० ॥

अन्ययार्थः—शास्त्रकार ससारी प्राणी को लक्ष्य कर कहते हैं कि (पंडिए) हे पण्डित ! अर्थात् आत्मतत्त्वज्ञ ! तुम (खण) इसे धर्म सेवन का अवसर (जाणाहि) समझो ॥ ७० ॥

भावार्थः—आर्यक्षेत्र और उत्तम कुल में जन्म, पाचो इन्द्रियों की पूर्णता और नीरोग शरीर की प्राप्ति होना धर्म सेवन का उत्तम अवसर है। इसे पाकर जो व्यर्थ नहीं गँवाता किन्तु धर्म सेवन करता है वही पण्डित है।

जाव सोयपरिणणा अपरिहीणा, येत्तपरिणणा अपरिहीणा, घाणपरिणणा अपरिहीणा, जीहपरिणणा अपरिहीणा, फरिसपरिणणा अपरिहीणा, इन्धेएहिं विरुवरूवेहिं पएणाणेहिं अपरिहायमाणेहिं आयहुं सम्मं समणुया-सिज्जासि ॥ ७१ ॥ त्तिवमि ॥ प्रथमोद्देशः ॥

अन्ययार्थ—(जाव) जब तक (सोयपरिणणा) श्रोत्रपरिज्ञान यानी कानों की शब्द सुनने की शक्ति (अपरिहीणा) क्षीण नहीं हुई है, (नेत्तपरिणणा) नेत्रों की रूप देखने की शक्ति (अपरिहीणा) क्षीण नहीं हुई है, (घाणपरिणणा) नाक की गन्ध ग्रहण करने की शक्ति (अपरिहीणा) क्षीण नहीं हुई है, (जीहपरिणणा) जिह्वा की रस-ग्रहण करने की शक्ति (अपरिहीणा) क्षीण नहीं हुई है और

(करिस्परिणामाणां स्वर्शनेन्द्रिय की शक्ति (अपरिहीणा) क्षीण नहीं हुई है (इत्येवहिं) इसी प्रकार (क्विवहेहिं) नाना प्रकार की (परि-
रणाणेहिं) ज्ञानशक्तियां (अपरिहायमाणेहिं) जब तक क्षीण नहीं हुई हैं तब तक (आयुः) अपने कल्याणार्थ (सम्प समणुपासिज्जासि) अच्छी
तरह उद्योग करना चाहिए ॥ ७१ ॥ (सि वेमि) पूर्ववत् ।

नोट.—इस उपरोक्त पाठ में सत्र जगह 'परिणामेहि' और 'अपरिहीणा' की जगह 'अपरिहायमाणेहि' ऐसा पाठान्तर है ।

भावार्थ:—इस विनाशी शरीर का कुछ भरोसा नहीं है तथा जरा (बुढ़ापा) और रोग इसकी इन्द्रियों की शक्ति का नाश
कर देते हैं । इसलिए जब तक उनके द्वारा इन्द्रियों की शक्ति नष्ट न की जाय तब तक ही मनुष्य को आत्मकल्याण में प्रवृत्त हो जाना
चाहिए अन्यथा अवसर बीत जाने पर केवल पश्चात्ताप के सिवाय कुछ हाथ आने का नहीं है ।

प्रथम उद्देशक समाप्त ॥ २-१ । १ ॥

दूसरे अध्ययन का दूसरा उद्देशक

द्वि० अ०
प्र० ३०
५७

अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थः--(से) वह (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (अरइं) संयम में उत्पन्न हुई अरति का (आउट्टे) त्याग करे। ऐसा करने वाला पुरुष (खणंसि) क्षण भर में ही यानी अल्प समय में ही (मुक्के) मुक्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

भावार्थः--सासारिक विषयभोगों से मन को सर्वथा हटा कर एकान्त संयम में रति रखने वाला पुरुष जिस आनन्द का अनुभव करता है, चक्रवर्ती भी उसका अनुभव नहीं कर सकता है ॥

अयाणाए पुड्डा वि एगे शियडंति, मंदा मोहेण पाउडा, अपरिगहा भविस्सामो, समुड्डाए लद्धे कामे अभिगाहइ,
अयाणाए मुणियो पडिलेहंति, इत्थं मोहे पुणो पुणो सएणा णो हव्वाए णो पाराए ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थः--(अयाणाए) तीर्थंकर भगवान् की आत्मा से विपरीत आचरण करने वाले (मोहेण) मोहसे (पाउडा) आवृत्त-ढँके हुए (एगे) कितनेक (मंदा) अज्ञानी जीव (पुड्डावि) परीषह और उपसर्गों से स्पृष्ट होकर यानी परीषह उपसर्गों के आने पर (शियडंति) संयम से अष्ट हो जाते हैं। और कितनेक जीव तो (अपरिगहा) हम परिग्रह रहित (भविस्सामो) होवेंगे ऐसी प्रतिज्ञा के साथ (समुड्डाए) उठ कर भी (कामे) काम भोगों के (लद्धे) प्राप्त होने पर (अभिगाहइ) उन्हें भोगने लग जाते हैं। (अयाणाए) तीर्थंकर भगवान्

की आशा से विपरीत यानी स्वच्छन्दबुद्धि से विचरण करने वाले कितनेक (मुण्डिणो) मुनिविपद्गारी (पण्डितेहन्ति) विषय भोग की प्राप्ति के उपायों में प्रवृत्त होते हैं (इत्य) इस प्रकार (मोह) मोह में (पुणो पुणो) बारम्बार (सण्ण) अत्यन्त आसक्त जीव (णो हव्याण णो पारण) न इस लोक के रहते हैं और न परलोक के ही रहते हैं अर्थात् उनका इहलोक और परलोक दोनों विगड़ जाते हैं ॥७३॥

भावार्थः—हिताहित के विवेक से रहित कितनेक अज्ञानी जीव गृहस्थाश्रम को छोड़ कर प्रव्रजित तो होते हैं किन्तु विषय-भोगों के सामने आने पर वे उनमें फँस जाते हैं। वे न इधर के रहते हैं और न उधर के अर्थात् वे न तो गृहस्थ ही कहे जा सकते हैं और न साधु ही कहे जा सकते हैं।

विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुग्घमाणे लद्धे कामे णाभिगाहइ ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (जणा) पुरुष (पारगामिणो) पारगामी हैं अर्थात् जिन पुरुषों ने ज्ञान दर्शन चारित्र को प्राप्त कर लिया है (ते) वे (हु) अवश्य ही (मुत्ता) मुक्ति को प्राप्त करने वाले हैं। (अलोभेण) अलोभयुक्ति के द्वारा (लोभ) लोभ से (दुग्घमाणे) घृणा करने वाले पुरुष प्राप्त हुए कामभोगों का सेवन नहीं करते हैं ॥ ७४ ॥

भावार्थः—क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चारों कषायों में लोभ सब से प्रधान है। लोभ के वश हुआ प्राणी न करने योग्य कार्य भी कर बैठता है। इसलिए लोभादि को छोड़ कर जिसने सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र को अङ्गीकार कर लिया है वह अवश्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

विणा वि लोभं शिक्खम्म एस अकम्मं जाणइ पासइ, पण्डिलेहाए णावकंखड, एस अणगारे त्ति पबुब्बइ, अहो य

राश्री परितप्पमाणे कालाकालसमुद्राई संजोगट्टी अट्टालोभी आलु'ये सहसाकारे विणिविट्टचित्ते इत्थ सत्थे पुणो पुणो से आयवले से शाइवले से सयणवले से भित्तवले से पिच्चवले से देववले से रायवले से चोरवले से अतिहिचले से किविण-
वले से समणवले, इच्चेहि विरूवरूवेहि कज्जेहि दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ, पावसुक्खो त्ति मरणभाणे, अदुवा
आसंसाए ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थः—(लोभ विणावि) लोभ के बिना अर्थात् लोभ का त्याग कर (शिवबम्भ) प्रवज्या अगीकार करके (अकम्मा) कर्म-
मल से रहित (एस) यह पुरुष (अणारं ति) अनगार (पुब्वइ) कहलाता है । लोभ के वशीभूत बना हुआ पुरुष (अहो य राओ) दिन
और रात दु ख भोगता है (कालाकालसमुद्राई) काल और अकाल में उठता है (सजोगट्टी) इष्ट संयोग की इच्छा करता है (अट्टालोभा)
धन का लोभ करता है । (आलु ये) प्राणियों का घात करता है (सहसाकारे) चोरी आदि साहस का कार्य करता है । (विणिविट्टचित्ते)
वह सदा धन का ही चिन्तन किया करता है । वह (पुणो पुणो) निरन्तर (इत्थ) पृथ्वीकायादि का (सत्थे) घात करता है । (से) वह
(आयवले) बलवान् बनने के लिए, (शाइवले) ज्ञातिबल की वृद्धि के लिए (सयणवले) स्वजन बल के लिए (भित्तवले) मित्रबल के लिए
(पेच्चवले) मरने के पश्चात् यानी परभव में बलवान् होने के लिए (देववले) देवबल के लिए (रायवले) राजबल के लिए (चोरवले) चोर
बल के लिए (अतिहिचले) अतिथिबल के लिए (किविणवले) कृपण बल के लिए (समणवले) अमण बल के लिए (इच्चेहि) इस प्रकार
(विरूवरूवेहि) नाना प्रकार के (कज्जेहि) कार्यों से लोभी पुरुष (दंडसमायाण) प्राणियों को दण्ड देता है अर्थात् प्राणियों की घात करता
है । वह (संपेहाए) यह सोचकर (भया) इस भय से प्राणियों की घात करता है कि यदि मैं बकरे आदि प्राणियों का घात न

करूँगा तो मेरे मनोरथ पूर्ण न होंगे। (पावसुखोत्ति) हम पाप से मुक्त हो जावेंगे ऐसा (मणमणो) मामते हुए कितनेक पुरुष जीव-हिंसा करते हैं (श्रुत्वा) अथवा कितनेक जीव (आससाए) आशंसा से यानी भावी शुभ फल की आशा से एव आगामी भव से शुभ फल की आशा से जीवघात करते हैं ॥ ७५ ॥

भावार्थ:—लोभ के वशीभूत पुरुष इहलौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए जीवहिंसा आदि अनेकविध पापाचरण करता है। जो पुरुष लोभ का त्याग करके सशम अङ्गीकार कर लेता है एवं चारित्र्य का विशुद्ध रूप से पालन करता है वह थोड़े ही समय में घातीकर्मों का जय करके केवलज्ञान केवलदर्शन उपार्जन कर लेता है।

इस संसार में कितने ही प्राणी ऐसे हैं जो साधु के वेश को धारण करके भी इस लोक या परलोक के सुख के लोभ में पड़ जाते हैं वे अपने को साधु कहने की धृष्टता करते हैं किन्तु वास्तव में वे साधु नहीं हैं। जो लोभ को जीत कर अकर्म बनने की चेष्टा करते हैं वे ही सच्चे साधु एव अनगार हैं।

तं परिणाय मेहावी येव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभिज्जा येव अएणं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभाविज्जा, एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतं वि अएणं ए समणुजाणिज्जा, एत मग्गे आयरिएहिं पमेइए, जहेत्थ कुसले योवल्लियिज्जासि ॥ ७६ ॥ तिवेमि ॥ लोगविजयस्स विउओ उइसो ॥

अन्वयार्थ:—(मेहावी) वस्तुतत्त्व को जानने वाला बुद्धिमान पुरुष (त) उपरोक्त बातों को (परिणाय) जानकर (एएहिं) इन उपरोक्त (कज्जेहिं) कार्यों के लिए (सयं) स्वयं (येव दंडं समारंभिज्जा) प्राणिगों की हिंसा न करे तथा (एएहिं) इन (कज्जेहिं) कार्यों के लिए (आगामी) न करने से भी (येव दंडं समारंभाविज्जा) प्राणिगों की हिंसा न करावे और (एएहिं) इन (कज्जेहिं) कार्यों के लिए (उपरोक्त) समार-

भक्ति) प्राणियों की हिंसा करने वाले (अणु) दूसरे पुरुष की (ए समणुजाणिज्जा) अनुमोदना भी न करे। (आयरिहिं) आर्य पुरुषों ने (एस) यही (मत्ते) मार्ग (पवेइए) फरमाया है। इसलिप (कुत्ते) कुशल यानी बुद्धिमान् पुरुष (जहेत्य) इस जीवहिंसा रूप व्यापार में (योवलिपिज्जासि) उपलित न होवे ॥ ७६ ॥ (तिवेमि) पूर्ववत् ।

भावार्थः—तीन योग और तीन करण से प्राणियों की हिंसा का त्याग और सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप भाव मार्ग आर्य पुरुषों के द्वारा कहा गया है इसलिप यही आदर करने योग्य है। इसलिप बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि इस आर्य मार्ग को अङ्गीकार करके आत्मकल्याण में प्रवृत्ति करे ॥

दूसरे अध्ययन का दूसरा उद्देशक सम्पूर्ण

दूसरे अध्ययन का तीसरा उद्देशक



दूसरे उद्देशक में लोभ को जीतने के विषय में कहा गया है। अब मान को जीतने के विषय में कथन किया जाता है—

से असइं उच्चागोए असइं शीयागोए, शो हीणे शो अइरित्ते, शो पीहए, इइ संखाए को गोयावाई को माणावाई, कंसि वा एगे गिज्जे, तम्हा पण्डिए शो हरिसे, शो कुज्जे, भूएहिं जाण पडिलेह सायं ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—(से) यह जीव (असइ) अनेक बार (उच्चागोए) उच्चगोत्र में उत्पन्न हो चुका है तथा (असइ) अनेक बार (शीयागोए) नीच गोत्र एवं नीच योनि में उत्पन्न हो चुका है परन्तु वस्तुतः यह जीव (शो हीणे) न तो कभी हीन हुआ है और (शो अइरित्ते) न बुद्धि को प्राप्त हुआ है अतः (शो पीहए) जीव उच्चजाति आदि प्राप्त करने की कभी इच्छा न करे। (इइ) इस उपरोक्त बात को (सत्ताए) जान कर (को) कौन पुरुष (गोयावाई) उच्च गोत्र का मद कर सकता है तथा (को) कौन (माणावाई) मान कर सकता है (वा) और (कांस) किस स्थान के लिए मनुष्य (गिज्जे) लोभ कर सकता है। (तम्हा) इसलिये (पण्डिए) पण्डित पुरुष (शो हरिसे) उच्चगोत्र आदि पाकर हर्षित न होवे तथा (शो कुज्जे—शो कुं) नीच गोत्र आदि पाकर दुःख भी न करे। पण्डित पुरुष को (पडिलेह) विचार पूर्वक (जाण) यह बात जाननी चाहिए कि (भूएहिं) समस्त प्राणियों द्वारा (साथ) सुख की इच्छा की जाती है अर्थात् सब प्राणी सुख के अभिलाषी हैं ॥ ७७ ॥

भावार्थः—यह जीव अनेक बार उच्चगोत्र में और अनेक बार नीच गोत्र में जन्म ले चुका है। किन्तु उच्च गोत्र में जन्म लेने से कोई बड़ा और नीच गोत्र में जन्म लेने से कोई हीन नहीं हो जाता। जब तक यह जीव कपायो को नहीं जीतता है तब तक इसका उत्थान संभव नहीं है। इसलिए कपायों को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। कपायों को जीतने में ही जीव सुखी हो सकता है।

समिए एयाणुपस्सी, तंजहा—अंधत्वं बहिरत्तं मूयत्तं काणत्तं कुट्तं खुज्जत्तं वडभत्तं सामत्तं सबलत्तं सह पमाएणं अण्णेरुवाओ जोणीओ संधायइ विरुवरूवे फासे पडिसंवेयइ ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थः—(समिए) पाच समिति के पालन करता हुआ पुरुष (एयाणुपस्सी) इन बातों को देखे (तजहा) जैसे किः—
(अत्ता) अन्धा होना (बहिरत्त) बधिर-बहरा होना (मूयत्त) मूक-गूंगा होना (काणत्त) काणा होना (कुट्ता) हाथ आदि का टेढ़ा होना (खुज्जत्त) कुचड़ा होना (वडभत्त) वामन होना (सामत्त) श्याम होना और (सबलत्त) शबलत्त्व यानी चित्तकवरा होना, श्वेत कुष्ठ होना। (पमाएण सह) प्रमाद करके यह जीव (अण्णेरुवाओ) अनेक प्रकार की (जोणीओ) योनियों की ओर (संधायइ—संधेइ) दौड़ता है अर्थात् अनेक योनियों में जन्म धारण करता है और (विरुवरूवे) नाना प्रकार के (फासे) स्पर्शों को यानी दुःखों को (पडिसंवेयइ) भोगता है ॥

भावार्थः—द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से अन्धा, बहरा, गूंगा, आदि होना पूर्व जन्म के भारी पाप कर्मों का फल है। विषयभोगादि प्रमाद में फस कर प्राणी अनेक प्रकार की योनियों में परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह सदा पापकर्मों से दूर रहे ॥

से अबुज्झमाणे हओविहए जाइमरणं अणुपरियट्टमाणे, जीवियं पुढो पियं इहमेगेसि माणयाणं खित्तवत्थुममायमा-

शाणं, आरत्नं विरत्नं मणिकुण्डलं सह हिरण्येण इत्थियाओ परिगिज्ज तत्थेव रत्ता, ए इत्थ तवो वा दमो वा णियमो वा दिस्सइ, संपुण्णं वाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेइ ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह (श्रुज्जमाणे) अज्ञानी जीव (हथोवहए) हतोपहत होता है अर्थात् नाना प्रकार की व्याधियों से पीड़ित और समस्त लोक के अपमान का पात्र होता है तथा (जाइमरण श्रुणपरयट्टमाणे) वह बारबार जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है । (इह) इस जगत् में (खित्तलुममायामाणे) खेल, मरान आदि परिग्रह में ममता रखने वाले (एणेसि) कितनेक (माणवाण) मनुष्यों को (पुबो जीविय) असंयम जीवन (पिय) बहुत प्रिय लगता है । ऐसे अज्ञानी जीव (आरत्तं विरत्तं) रंग विरंगे वस्त्र (मणिकुडल) मणियाँ, कानों के कुण्डल (हिरण्येण सह इत्थियाओ) सोना और खी आदि का (परिगिज्ज) संग्रह करके (तत्थेव) उन्हीं में (रत्ता) आसक्त रहते हैं । (वाले) बाल-अज्ञानी जीव (जीविउकामे) अयंयम जीवन की रत्ता करता हुआ (सपुण्ण) प्राप्त हुए कामभोगों को भोगता हुआ उनमें आसक्त रहता है और (इत्थ) 'इस संसार में (तवो वा दमो वा णियमो वा) तप, दम-संयम और नियमों का कुछ भी फल (ण दिस्सइ) देखा नहीं जाता है, इस प्रकार (लालप्पमाणे) कहता हुआ (मूढे) वह मूढ—अज्ञानी जीव (विप्परियासमुवेइ) समस्त पदार्थों को विपरीत ही देखता है ॥ ७६ ॥

भावार्थः—प्राणियों को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है । इस संसार में जो नाना प्रकार के दुःख भोगे जाते हैं वे सब प्राणियों के किये हुए कर्म के ही फल हैं । अतः विवेकी पुरुष सावदय कर्म का सेवन नहीं करते हैं परन्तु अज्ञानी जीव इस बात को नहीं समझते हैं इसीलिए वे पाप कर्मों का उपार्जन कर ऊँच नीच नाना प्रकार के गोत्रों में उत्पन्न होकर संसार में परिभ्रमण

करते रहते हैं ॥

इणमेव शावकं वृंति, जे जणा धुवचारिणो । जाइमरणं परिणाय, चरे संकमणो दढे ॥ १ ॥

एतथ कालस्सणागमो, सव्वे पाणा पियाउया । सुहसाया दुक्खपडिक्खला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसि जीवियं पियं, तं परिगिज्ज दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया वं संसिचिया वं तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गडिहए चिट्ठइ, भोयणाए, तओ से एगया विविहं परिसिहं संभूयं महोवगरणं भवइ, तं वि से एगया दायाया वा विभयंति, अदत्तहारी वा से अवहरइ, रायाणो वा से विलुं पंति, एस्सइ वा से, विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से उज्झइ, इइ से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुन्वमाणे तेण दुक्खेण सम्मूढे विप्परियासमुवेइ, मुणिया हु एयं पवेइयं, अणोहंतरा एए, एणो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए, एणो य तीरं गमिच्चए, अपारंगमा एए, एणो य पारं गमिच्चए, आयाणिज्जं य आयाय तम्मि ठाणे न चिट्ठइ, वितहं पप्प अखेयणो तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ ॥ ८० ॥

अन्वयार्थः—(३) जो (जणा) मनुष्य (धुवचारिणो) ध्रुवचारी हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यक्चारित्र का पालन करते हैं वे (इणमेव) इन सांसारिक विषय भोगों की (शावकं वृति) इच्छा नहीं करते हैं । (जाइमरण) जन्म और मरण के तत्त्व को (परिणाय) जान कर (संकमणो) संयम में (दढे) दृढ़ होकर (चरे) विचरे (कालस्सणागमो एतथि) काल अर्थात् मृत्यु के आने का कोई नियत समय नहीं है । (सव्वे) सब (पाणा) प्राणियों को (पियाउया) अपना आयुष्य प्रिय है । (सुहसाया) सभी प्राणी सुख भोगना चाहते हैं । (दुक्खपडिक्खला) सभी प्राणी दुःख को प्रतिकूल मानते हैं । (अप्पियवहा) सभी को नघ अप्रिय है । (पियजीविणो) सभी को अपना जीवन

प्रिय होता है। (जीविका) सभी प्राणी जीना चाहते हैं। (स्वैसि) सब जीवों को (जीविय) अपना जीवन (विय) प्रिय होता है। तथापि अज्ञानी जीव (त) असंयम जीवन को (परिगल्भ) स्वीकार करके (दुय) छिपद अर्थात् दास दासी आदि नौकरों को तथा (चतुर्पद) अर्थात् ऊँट बैल आदि को (अभिजुलिया) काम में लगाकर (विविधेण) तीन करण तीन योग से (ससिधिया) धन की वृद्धि करते हैं। इस प्रकार कठोर परिश्रम करने पर (श्रणा) अल्प (वा) अथवा (गुश्रा) बहुत (जायि) जो कुछ (से) उस धन की (मत्ता) मात्रा (भवइ) होती है (तत्थ) उसमें वह प्राणी (गोयणण) भोग के लिए (गट्ठिण) अत्यन्त आसक्त (चिट्ठइ) रहता है। (तश्चो) इसके पश्चात् (एण) किसी समय (ने) अर्थोपार्जन करते हुए उस पुरुष के गभान्तराय कर्म के क्षमोपशम से (परिसिट्ठ) भोग करने से बची हुई सम्पत्ति (विक्खि) विविध पच (सोवगरण) काफ़ी मात्रा में (सभूय भवइ) इकट्ठी हो जाती है परन्तु (से) उसकी (त) उस सम्पत्ति को (एण) कभी तो (शायया) दायद अर्थात् पेटक सम्पत्ति के भागीदार (विभयति) बाँट कर ले लेते हैं (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति को कभी (अदत्तहरो) चोर (अवइ) चुरा लेता है (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति को कभी (रायाणो) राजा (बिलु पत्ते) उससे छीन लेते हैं (अ) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति (णसइ) नष्ट हो जाती है (वा) अथवा (विणसइ) विविध प्रकार से नष्ट हो जाती है (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति (अणत्ताइण) घर में आग लग कर (उज्झइ) जल जाती है। इस प्रकार (परस अट्ठाण) दूसरों के लिए (कूराइ) क्रूर (कम्माइ) कर्म (पकुन्माले) करता हुआ (से) वह (मले) बाल-अज्ञानी (तेण) उस पाप से उत्पन्न (दुम्भेण) दुःख से (सम्मूडे) मूढ़ बन कर (विप्परियासमुवेइ) कर्तव्य अकर्तव्य के विवेक से हीन हो जाता है। (मुण्णि) श्री वीतराग देव ने (हु) निश्चय ही (एय) यह (पयेइय) फरमाया है कि (एण) ये अज्ञानी जीव (अणोदत्तरा) संसार-सागर को पार करने वाले नहीं हैं। (य) और ये (ओह) संसार सागर को (तरित्ताण) पार करने में (णे) समर्थ नहीं हैं। (एण) ये अज्ञानी जीव (अतीरग्गमा) संसार सागर के

तीर पर जाने वाले नहीं है (य) और (तीर) संसार सागर के तीर पर (गमित) जाने में (शे) समर्थ नहीं है । (एए) ये अज्ञानी जीव (अपरगता) संसार सागर के पार जाने वाले नहीं है (य) और (पार) संसार सागर के पार (गमित) जाने में (शे) समर्थ नहीं है (य) और वे (आयण्डज) द्विपद चतुष्पद आदि भोग सामग्री को (आयाय) ग्रहण करके (तमि ठणे) उस सर्वज्ञोक्त मार्ग में (ए चिद्धे) स्थित नहीं होते हैं । (अलेयणे) वह अकुशल पुरुष (विह) असंयम मार्ग का (पय) आश्रय लेकर (तमि) उसी (ठाणमि) स्थान में (चिद्धे) रहता है अर्थात् असंयम मार्ग में ही रमण करता है ॥ ८० ॥

भावार्थः—मोक्ष की इच्छा करने वाले ज्ञानी पुरुष परीपह और उपसर्गों को सहन करते हुए दृढता के साथ सयम का पालन करते हैं किन्तु अज्ञानी मनुष्य धर्माचरण में प्रमाद करते हैं । वे सोचते हैं कि वृद्धावस्था आने दर धर्माचरण कर लेने परन्तु ऐसा सोचना उनकी भूल है क्योंकि मृत्यु के आने का कोई नियत समय नहीं है अतः धर्माचरण में एक क्षण मात्र का भी प्रमाद न करना चाहिए । संसार में जितने प्राणी हैं सभी को अपनी आयु बड़ी प्यारी होती है । सभी सुख के अभिलाषी हैं, दुःख कोई नहीं चाहता । अतः किसी भी प्राणी को दुःख न देना चाहिए और न किसी के प्राणों का विनाश करना चाहिए । अज्ञानी पुरुष धनोपार्जन के निमित्त नाना प्रकार का आरम्भ करते हैं किन्तु वह धन उनके लिए त्राण शरण रूप नहीं होता । वह विचारा केवल अपने पाप कर्म को अपने साथ लेकर परलोक में जाता है और वहाँ नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है । श्री तीर्थङ्कर देव ने स्पष्ट कहा है कि सावध आरम्भ में जीवन व्यतीत करने वाले पुरुष कभी संसार सागर को पार नहीं कर सकते हैं । अतः विवेकी पुरुष को सावध आरम्भ का अवश्य त्याग कर देना चाहिये ।

उदेसी पासगस्स णत्थि, वाले पुण णिहे कामसमणुणो असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ठं अणुपरियट्ठइ ॥ ८१ ॥ त्ति वेमि ॥

दुक्खाणमेव आवट्ठं अणुपरियट्ठइ

अन्वयार्थः—(पासगस्त) जो मनुष्य ज्ञानवान् है उसके लिए (जैसे) उपदेश की आवश्यकता (एतत्) नहीं है। (वाले) बाल-अज्ञानी (शिष्टे) रागद्वेष से मोहित और कपार्यों से पीड़ित (पुण) और (कामसमणुण्यो) विषयभोगो को मनोहर मान कर उनमें आसक्त रहने वाला पुरुष (असमियदुक्खे) विषयभोग और कपार्यों से उत्पन्न दुःख को शान्त नहीं करता है। इस प्रकार (दुक्खी) शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित वह (दुक्खाणमेव) दुःखों के (आवृट्) चक्र में ही (अणुपरियद्व) सदा घूमता रहता है ॥२१॥

(ति वेमि) पूर्ववत् ।

भावार्थः—जो वस्तु स्वरूप को देखने वाला है उसे पश्यक कहते हैं अथवा केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानने वाले तीर्थंकर भगवान् और उनकी आज्ञा में चलने वाले पुरुष पश्यक कहलाते हैं। इस सब के लिए उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है। वे स्वतः ही अहित से निवृत्ति और हित में प्रवृत्ति करते हैं।

रागादि से मोहित और विषयभोगों में आसक्त अज्ञानी पुरुष शारीरिक और मानसिक दुःखों से सदा पीड़ित होता हुआ ससार-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए विवेकी पुरुष को रागादि तथा विषयभोगों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥

तीसरा उद्देशक समाप्त

दूसरे अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक



तच्चो से एगया रोगसमुप्या समुप्यज्जति, जेहि वा सद्धि संवसइ ते वा णं एगया गियया पुव्वि परिवयंति, सो वा ते गियगे पच्छा परिवइज्जा, णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा तुमं वि तेसिं खालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्कलं पत्तेयं सारयं, भोगा मे व अणुसोयंति इहमेगेसि माणवाणं ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थः—(तन्मो) त्रिविधभोग में आसक्त रहने से (मे) उस विषयासक्त पुरुष को (एग्या) कभी (रोगसमुपपाया समुपज्जति) रोग उत्पन्न हो जाते हैं। तब (जहिं सद्धि) जिनके साथ (सवसह) वह रहता है (ते) वे (शियया) उसके आत्मीय जन (एग्या) कभी (पुर्वि) पहले ही (णं) उस रोगी पुरुष की (परिव्यति) अवहेलना एवं निन्दा करते हैं (वा) तथा (सो) वह भी (पच्छा) पीछे (ते) उन (शियगे) आत्मीय जनों की (परिवइजा) अवहेलना एवं निन्दा करता है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि (ते) वे आत्मीय जन (तव) तुम्हारे (ताणए) त्राण या (सरणए) शरण के लिए (णाल) समर्थ नहीं हैं (वा) और (हुम वि) तुम भी (तिसिं) उनके लिए (ताणए) त्राण (वा) या (सरणए) शरण रूप (णालं) नहीं हो सकते हो। (पतेयं) प्रत्येक प्राणी को (हुक्व) अपना-अपना दुःख और (साय) सुख भोगना पड़ता है ऐसा (जाणिणु) जान कर रोग के समय धवराना न चाहिए। (इह) इस संसार में (एगसिं) कितनेक (माणवाण) मनुष्यों को रोगावस्था में इस प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं कि (भोगा) ये भोग (मे) मेरे हैं, मैंने इन भोगों को कितने परिश्रम

से उपार्जन किया है परन्तु भाग्यदोष से मैं इन्हे नहीं भोग पाता हूँ। ऐसा विचार कर (अणुसोचंति) शोक करते हैं ॥ ८२ ॥

भावार्थः—विषयभोग दुःखरूप है। उनमें आसक्त प्राणी को अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जिन माता पिता स्त्री पुत्रादि के लिए मनुष्य जी जान लड़ा कर तथा अनेकों कष्टों की परवाह न करके धन का उपार्जन करता है वे आत्मीय जन उस मनुष्य की रोगावस्था में त्राण-शरण रूप नहीं हो सकते। इसी तरह वह मनुष्य भी द्रव्यादि द्वारा भले ही अपने बन्धु बान्धवों की सहायता करे परन्तु उनकी शारीरिक व्याधि को तो वह भी नहीं मिटा सकता है। इसलिए रोग एव दुःख की उत्पत्ति होने पर विद्वान् पुरुष चित्त में किसी प्रकार की उदासीनता नहीं लाते हैं। उसे वे अपने कर्म का फल जान कर समभाव और धीरता के साथ सहन कर लेते हैं।

तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ता भवइ अण्णा वा बहुया वा, से तत्थ गड्डिहए चिट्ठइ, भोयणाए, तथो से एगया विपरिसिद्धं संभूयं महोवगरणं भवइ, तं वि से एगया दायाया विभयंति, अदत्तहारी वा से हरइ, रायाणो वा से विलुं—पंति, णस्सइ वा से, विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ, इह वाले परस्स अट्ठाए कूराणि कम्माणि पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थः—इस संसार में कितनेक मनुष्य (तिविहेण) तीन करण तीन योग से धनोपार्जन करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। इस प्रकार कठिन परिश्रम करने पर (अण्णा) अल्प (वा) अथवा (बहुया) बहुत (जा वि) जो कुछ (से) उस धन की (मत्ता) मात्रा (भवइ) होती है (तत्थ) उसमें वह (भोयणाए) भोग के लिए (गड्डिहए) अत्यन्त आसक्त (चिट्ठइ) रहता है। (तथो) इसके पश्चात् (एगया) किसी समय (से) धनोपार्जन करते हुए उस पुरुष के लाभान्तराग कर्म के क्षयोपशम से (गरिसिद्धं) भोग करने से बची

हुई सम्पत्ति (विविध पदं) विविध पदं (महोत्सव) काफ़ी मात्रा में (संभूय) इकट्ठी (भवइ) हो जाती है परन्तु (से) उसकी (त वि) उस सम्पत्ति को (एग्या) कभी तो (दायादा) दायाद अर्थात् पैत्रिक सम्पत्ति के भागीदार भाई वन्धु आदि (विभयति) बांट कर ले लेते हैं (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति को कभी (अदत्तहरो) चोर (अवहइ) चुरा ले जाता है (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति (एस्तइ) नष्ट हो जाती है (वा) अथवा (विणस्तइ) (रायाणो) राजा (विलुपति) उससे छीन लेते हैं (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति (अग्रादोहेण) घर में आग लग कर (डज्झइ) जल जाती है । विविध प्रकार से नष्ट हो जाती है (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति (कम्मइ) करत हुआ (से) वह (वाले) वाल-अज्ञानी (तेण) उस पाप इस प्रकार (परस्स) दूसरों के लिए (कूराइ) क्रूर (कम्मइ) कर्म (पकुब्बमाणो) करता हुआ (से) वह (वाले) वाल-अज्ञानी (तेण) उस पाप से उत्पन्न (हुक्खेण) दुःख से (सम्मूदे) मूढ़ बन कर (विणरियासमुदेइ) कर्तव्याकर्तव्य के विवेक से हीन हो जाता है ॥ ८३ ॥

भावार्थ:— अज्ञानी पुरुष धनोपाजन के निमित्त नाना प्रकार का आरम्भ करते हैं किन्तु वह धन उनके लिए त्राण शरण रूप नहीं होता । वह विचारा केवल अपने पाप कर्म को अपने साथ लेकर परलोक में जाता है और वहाँ नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है । अतः विवेकी पुरुष को सावध आरम्भ का अवश्य त्याग कर देना चाहिए ।

आसं य छंदं य विगिंच धीरे, तुमं चैव तं सल्लमाहड्डु, जेण सिया तेण णो सिया, इणमेव णावबुज्झंति जे जणा मोहयाउडा, थीभि लोए पव्वहिए, ते भो ! वयंति एयाइं आययणाइं, से दुक्खाए मोहाए माराए खरमाए खरगतिरि- क्खाए, सययं मूढे धम्मं णाभिजाणाइ, उदाहु वीरे, अप्पमाओ महामोहे, अलं कुसलस्स पमाएणं, संतिमरणं संपेहाए, भेउ- धम्मं संपेहाए, णालं पास, अलं तव एएहि ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार धीर पुरुष को सम्बोधित कर कहते हैं कि (धीरे) हे धीर ! तुम (आस) आशा (य) और (इंद्र) भोग की इच्छा को (विरिच्य) छोड़ दो । (तुम चैव) तुम स्वयं (त स्म) भोग की आशा रूप शल्य को (आहृद्) हृदय में डाल कर दुःख भोगते हो क्योंकि (जेण) जिन उपायों से (सिया) भोगों की प्राप्ति होती है, कभी २ (तेण) उन्हीं उपायों से (णो सिया) भोगों की प्राप्ति नहीं भी होती है । (जे) जो (जण) लोग (भोदणउडा) मोह से ढंके हुए हैं वे (दणमेव) इस बात को (णावुज्जगति) नहीं जानते हैं । (लोए) यह लोक (गोभि) स्त्रियों से (पब्बहिए) पीड़ित है । (भां) हे शिष्य ! (ते) वे स्त्रीमोहित जीव (वयति) कहते हैं कि (एयाइ) ये स्त्री आदि (आययणाइ) उपभोग के साधन हैं, इनके बिना शरीर की स्थिति नहीं हो सकती है परन्तु (से) उनका यह मन्तव्य (हुक्खाए) दुःख के लिए (मोहाए) मोह के लिए (मायए) मृत्यु के लिए (एरणए) नरक के लिए और (एरणतिरिस्साए) नरक से निकल कर तिर्यच योनि के लिए होता है । (सयय) निरन्तर (गळे) दुःख से पीड़ित मूढ़ जीव (यम्म) धर्म को (णाभिजाणइ) नहीं जानता है । (वीरे) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने (उवाहु) फरमाया है कि (महागोहे) महामोह रूप स्त्रियों में (वप्पमाओ) प्रमत्त न बनना चाहिए । (कुलस) कुशल यानी सुखदर्शी पुरुष को (ग्माण अन्न) सर्वथा प्रमाद नहीं करना चाहिए । (सतिमरण) शान्ति अर्थात् मोक्ष और मरण अर्थात् संसार के स्वरूप को (संवेहाए) विचार कर तथा (भेउययम्म) शरीर को नश्वर (संवेहाए) जान कर प्रमाद नहीं करना चाहिए । शास्त्रकार फरमाते हैं कि अधिक भोग प्राप्त होने पर भी वे (गात्ता) इच्छा की तृप्ति करने में समर्थ नहीं हैं (पास) यह देखो ! (त्व) हे सुखमदर्शिन ! तुम को (एणहि अल) इन विषयभोगों से प्रयोजन नहीं रखना चाहिए ॥ ८४ ॥

भावार्थः—हिताहित के ज्ञान में दक्ष वीर पुरुष को लक्ष्य करके शास्त्रकार कहते हैं कि हे धीर ! तुम आशा को यानी विषय

तृष्णा को छोड़ दो। यह आत्मा स्वयं आशा रूपी चाण को अपने हृदय में डाल कर दुःख भोगता है। आशा से केवल दुःख ही प्राप्त होता है परन्तु भोग प्राप्त नहीं होते। कर्मों का परिणाम विचित्र है इसलिए द्रव्यादि द्वारा जिन उपायों से एक मनुष्य को भोग की प्राप्ति होती है उन्हीं उपायों से दूसरे को नहीं भी होती है किन्तु अज्ञानी जीव कर्मों की इस विचित्रता को नहीं समझते। वे धन और स्त्री आदि भोगसाधनों को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझते हैं। वे स्त्रियों के फन्दे में पड़ कर तथा विषयभोगों में आसक्त होकर अनेक दुःख भोगते हैं और नरक की वेदना को भी भोगते हैं। वहाँ से निकल कर तिर्यञ्च योनि में और फिर नरक गति में जाते हैं। इस प्रकार वे अनन्त काल तक दुःख के चक्र में पड़े रहते हैं। इसलिए जगत् के हित के लिए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है कि बीसमर्ग से महाभोग की उत्पत्ति होती है। इसके समान कोई दूसरा बन्धन नहीं है। इसको जीत लेने पर दूसरे विषय सुगमता से जीत लिये जाते हैं। इसलिए विवेकी पुरुष को विषयभोगों में कभी प्रमत्त न बनना चाहिए।

एयं पास मुणी ! महब्भयं, णाइवाइज्ज कंचणं, एस वीरे पसंसिए, जे ण णिविज्जइ आयाणाए, ण मे देइ ण कुप्पिज्जा, थोवं लद्धं ण खिसए, पडिसेहिओ परिणमिज्जा, एयं मोणं समणुवासिज्जासि ॥ ८५ ॥ ति वेमि ॥

अन्वयार्थ—यहा पर शास्त्रकार मुनि को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि (मुणी) हे मुने ! (एय) भोगों की लालसा रखना (महब्भय) महान् भय का हेतु है, इस बात को (पास) तुम देखो। (कंचणं) किसी भी प्राणी का (णाइवाइज्ज) वध न करो। (एस) भोगों की लालसा रखने वाला पुरुष (वीरे) वीर है और (पसंसिए) देवों द्वारा भी उसकी प्रशंसा की जाती है। (जे) जो (आयाणाए) संयम से (ण विज्जइ) नहीं घबराता है वही पुरुष श्रेष्ठ है। यह गृहस्थ (मे) मुझे (ए) नहीं (देइ) देता है। (ण

कुपिज्जा) यह जान कर उसके ऊपर क्रोध नहीं करना चाहिए। अथवा गृहस्थ से (यैव) थोड़ा आहार (लड्डु) मिलने पर (ए खित्ते) उसकी निन्दा न करना चाहिए। (पडिभेहिओ) गृहस्थ द्वारा निषेध करने पर अर्थात् 'मेरे घर मत आओ' इस प्रकार मत्ता कर देने पर (परिणमिज्जा) उस गृहस्थ के घर से लौट जाय अर्थात् उसके घर में न जाय। (एय) इस प्रकार (मोण) मुनि के व्रत का (समणुवासिज्जासि) आचरण करना चाहिए। (ति वैमि) पूर्ववत् ॥ ८५ ॥

भावार्थः—विषयभोगों को जीत लेने वाला पुरुष सत्त्वा वीर है। उसकी प्रशंसा इन्द्रादि देव भी करते हैं। वह पुरुष सयमा-नुष्ठान से कभी उदासीन नहीं होता बल्कि उत्साह के साथ मयम का पालन करता है।

सयम पालने में तत्पर साधु किसी गृहस्थ के घर पर भिक्षादि के निमित्त जाय तब उस गृहस्थ के पास दान योग्य सम्पूर्ण सामग्री के होते हुए भी यदि वह साधु को दान न देव तो साधु उस पर क्रोध न करे। यदि वह गृहस्थ थोड़ा दान दे तो साधु उसका नीन्दा न करे तथा यदि कोई गृहस्थ अपने घर में आने से साधु को मना कर दे तो साधु उसके घर से तुरन्त लौट जाय। यह मुनि का आचार है। मुनि को इस आचार का दृढता के साथ पालन करना चाहिए।

इति चतुर्थ उद्देशक समाप्त

दूसरे अध्ययन का पांचवां उद्देशक

द्वि० अ०
पा० उ०

७५

जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारम्भा कज्जंति, तंजहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुएहाणं णाईणं धाईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आएसाए पुढो पहेणाए सामासाए पायरासाए, सण्हिसंखिचओ, कज्जइ, इहमेगेसि माणवाणं भोयणाए ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थः—(ज) जिन्होंने (इण) इन्म (लोगस्स) जगत् का यथार्थ स्वरूप नहीं जाता है वे लोग सुख की प्राप्ति और दुःख के नाश के लिए (विरूवरूवेहिं) नाना प्रकार के (सत्थेहिं) शस्त्रों द्वारा (कम्मसमारम्भा) कर्मों का आरम्भ (कज्जंति) करते हैं (तंजहा) जैसे कि—(से) लोग अपने (पुत्ताण) पुत्रों के लिए (धूयाण) पुत्रवधुओ के लिए, (णाईण) हातिजनों के लिए (धाईण) धाई के लिए (राईण) राजा के लिए (दासाण) दासों के लिए (दासीणं) दासियों के लिए (कम्मकराण) कर्मचारियों के लिए (कम्मकरीण) कर्मचारिणियों के लिए (आएसाए) अपने सम्बन्धियों के यहा भेजने के लिए (सामासाए) शाम को खाने के लिए (पायरासाए) प्रातः काल खाने के लिए (सण्हिसंखिचओ) खाद्य पदार्थों का तथा भोग्य पदार्थों का संचय किया करते हैं तथा (इह) इस लोक में (एगेसि) कितनेक (माणवाण) मनुष्यों के (भोयणाए) भोजन के लिए वस्तुओं का संग्रह करते हैं ॥ ८६ ॥

भावार्थः—गृहस्थ लोग अपने लिए और पुत्र, पुत्री, स्त्री आदि परिवार नर्ग के लिए भोजन बनाते हैं। साधु को उनके यहाँ से भिक्षावृत्ति द्वारा आहारादि लाकर संयमजीवन का निर्वाह करना चाहिए।

समुद्रिण अरण्यगारे आरिण आरियपण्ये आरियदंसी अयं मंधिति प्रदक्खु, से णाईण णाइयावण णाइयंते समणु-
जाणइ, सव्वामगंधं परिणाय गिरामगंधो परिव्वण ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थः—(समुद्रिण) संयम मार्ग में उत्पन्न भवन (अरण्यगारे) गृहस्थधन से रहित (आरिण) आर्य (आरियपण्ये) आर्य मुनि चाला (आरियदंसी) आर्यवर्ती (अथसंधि ति) समयानुसार कार्य करने वाला और (अदक्खु) जिसने परमार्थ तरघ को देखा है (से) ऐसा साधु (णाईण) अकल्पनीय पदार्थ को स्वयं ग्रहण न करे और (णाइयावण) दूसरे से भी ग्रहण न करवावे तथा (आइयंते) ग्रहण करते हुए को (ए समणुजाणइ) अच्छा न समझे अर्थात् अनुमोदन न करे। (मग्गाम्म १) सर्व प्रकार के अशुद्ध और औद्देशिक आदि आहार को (परिणाय) क्षपण द्वारा जान कर तथा प्रत्याख्यान परित्याग कर (निरामं गे) निर्दोष आहार ग्रहण करना हुआ साधु (परिव्वण) विचरे ॥ ८७ ॥

भावार्थः—पुत्र कलत्रादि के ग्रन्थन से रहित, संयम का पालन करने में तत्पर मुनि अशुद्ध तथा प्राधाकर्मोदि दोषों से रहित आहार को ग्रहण करता हुआ विचरे।

अदिस्समाणे कयविक्कणसु, से ण क्रिणे ण किणावण कियंतं ण समणुजाणइ, से भिक्खू कालण्ये नलण्ये मायण्ये खेयण्ये खणयण्ये विणयण्ये सममयण्ये परममयण्ये भावण्ये परिगहं असमायमाणे कालाणुड्ढाई अपडिण्ये ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थः—(कयविक्रयसु) खरीदने और बेचने के व्यवहार में (अविस्मरणे) न देखा जाता हुआ अर्थात् क्रय विक्रयादि कार्यों से निवृत्त साधु (ए क्रिये) स्वय कोई वस्तु न खरीदे (ए क्रियाए) दूसरों से भी न खरीदवावे तथा (क्रियत) खरीदते हुए को (ए समणुजाणइ) अच्छा न जाने। (से) वही (भिक्षु) साधु (कालण्ये) काल को जानने वाला (बलण्ये) आत्मबल को जानने वाला (भावण्ये) मात्रा अर्थात् परिमाण को जानने वाला (खेयण्ये) खेदज्ञ (यण्यण्ये) अवसर को जानने वाला (विण्यण्ये) विनय को जानने वाला (ससमयण्ये) स्वसमय—स्वसिद्धान्त को जानने वाला (परसमयण्ये) परसमय—परसिद्धान्त को जानने वाला और (भावण्ये) भाव को जानने वाला है। वह साधु (परिगहं) परिग्रह में (अममायमाण्ये) मूर्छित न होता हुआ अर्थात् परिग्रह के ममत्व का त्याग करके (कालाणुद्गहं) कालानुसार अनुष्ठान करे और (अपडिण्ये) किसी प्रकार की प्रतिज्ञा अर्थात् नियामा न करे ॥ ८८ ॥

भावार्थः—साधु क्रयविक्रय यानी कोई भी वस्तु खरीदना या बेचना, यह कार्य न करे किन्तु क्रयविक्रय के साधनभूत द्रव्य से रहित होकर विचरे। ऐसा साधु काल, आत्मबल, मात्रा, खेद, अवसर, विनय और स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्त को जानने वाला होता है। साधु को किसी प्रकार नियामा और ऐसी प्रतिज्ञा, जिससे स्वपर की हानि हो, नहीं करनी चाहिए।

दुहओ छित्ता गियाइ, वत्थ पडिगहं कंवलं पायपुंछणं ओगहं, य कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थः—(दुहओ) राग और द्वेष दोनों से की जाने वाली प्रतिज्ञा को (छित्ता) त्याग कर (गियाइ) ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग के अनुष्ठान में अथवा संयम के अनुष्ठान में प्रतिज्ञा करनी चाहिए। (वत्थ) वत्थ (पडिगहं) प्रतिग्रह—पात्र (कवलं) कमल (पायपुंछण) पाद प्रोज्ज्वलन यानी रजोहरण (य) और (ओगहं) अन्नग्रह (चेव) तथा (कडासण) कटासन यानी संस्ता-

रक (एण्ड) इनमें (आणिज्जा) उपयोग रते यानी शुद्ध ग्रहण करे, अशुद्ध ग्रहण न करे ॥ ८६ ॥

भावार्थः—राग और द्वेष के कारण जो प्रतिज्ञा की जाती है वह पाप को उत्पन्न करने वाली है। अतः साधु को वैसी प्रतिज्ञा कदापि न करनी चाहिए। 'मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप मोक्ष मार्ग की अवश्य आराधना करूँगा एवं मैं शास्त्रोक्त रीति से समय का पालन करूँगा' इत्यादि शुभ प्रतिज्ञाएँ साधु को करनी चाहिए। साधु अपने आवश्यक पदार्थों की शुद्धि और अशुद्धि का विचार रखता हुआ शुद्ध वस्त्रादि को ग्रहण करे और अशुद्ध को ग्रहण न करे।

लदे आहार अणगारी मायं जाणिज्जा, से जहेयं भगवया पनेइयं, लाभुत्ति ण मज्जिज्जा, अलाभुत्ति ण सोइज्जा, बहुं वि लद्धु ण सिहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थः—(आहार) आहार के (लदे) प्राप्त होने पर भी (अणगारी) साधु (मायं) मात्रा यानी परिमाण को (जाणिज्जा) जाने (जहा) जेसा कि (से) उस (इय) आहार की मात्रा (भगवया) भगवान् ने (पनेइय) फरमाई है। (लाभुत्ति) लाभ होने पर (ण मज्जिज्जा) साधु गर्व न करे। (अलाभुत्ति) लाभ न होने पर (ण सोइज्जा) शोक न करे (बहुं वि लद्धु) बहुत प्राप्त हो जाने पर भी (ण सिहे) संवच्य न करे। (परिग्गहाओ) परिग्रह से (अप्पाण) अपने को (अवसक्किज्जा) दूर रखे ॥ ८७ ॥

भावार्थः—आहार, वस्त्र, औषधि आदि लेते समय साधु उतने ही परिमाण में वस्तु को ग्रहण करे जितने के ग्रहण से वह गृहस्थ फिर उस वस्तु को बनाने के आरम्भ में प्रवृत्त न हो। किसी समय साधु को आहारादि न मिले तो वह यह शोक न करे कि 'मैं जेसा अभागा हूँ जो ममस्त वस्तुओं को देने वाले दाता के विद्यमान होते हुए भी मैं कुछ प्राप्त नहीं कर सकता। आहारादि के मिल जाने पर 'गर्व भी न करे कि 'मैं बड़ा ही भाग्यवान हूँ' किन्तु साधु लाभालाभ में समभाव रखे। यदि कभी साधु को आहारादि

बहुत मिल जाय तो उसका सञ्चय नहीं करे । साधु पाप के मूल कारण परिग्रह का सर्वथा त्याग करे और सयम के साधनभूत धनोपकरणों में मूर्च्छा—ममत्व न रखे ॥

अएएहा गुं पासए परिहरिज्जा, एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए, जहिथ कुसले गोवलिपिज्जासि त्तिवेमि ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थः—(अएएहा ए) अन्य प्रकार से (पासए) देखता हुआ साधु (परिहरिज्जा) परिग्रह का त्याग करे (एस) यह (मग्गे) मार्ग (आयरिएहिं) आर्य पुरुषों द्वारा (पवेइए) कहा गया है । (जहिथ) जिस प्रकार इस पाप रूप परिग्रह से (गोवलिपिज्जासि) उपलिप्त न हो उसी प्रकार (कुसले) कुशल पुरुष कार्य करे । (त्तिवेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ ६१ ॥

भावार्थः—साधु धर्मोपकरणों को अन्यथाबुद्धि से देखे अर्थात् उनको सयम पालन का साधन समझे किन्तु उनसे ममत्व बुद्धि न रखे । कुशल अर्थात् विवेकी पुरुष शास्त्रोक्त रीति से सयम का पालन करे जिससे उसे पाप कर्म का बन्ध न हो, प्रत्युत कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की शीघ्र प्राप्ति हो ।

कामा दुरइक्कमा, जीवियं दुप्पडिवूहंगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ जूरइ तिप्पइ परितप्पइ ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थः—(कामा) काम को (दुरइक्कमा) जीतना बढ़ा कठिन है । (जीवियं) जीवन (दुप्पडिवूहंग) बढ़ाया नहीं जा सकता । (कामकामी) कामभोगों की लालसा रखने वाला (अयं) यह (पुरिसे) पुरुष (खलु) निश्चय ही (सोयइ) शोक करता है (जूरइ) खेद रखता है (तिप्पइ) मर्यादा से अग्र हो जाता है (पिद्ध) दुःखी होता है (परितप्पइ) पश्चात्ताप करता है ॥ ६१ ॥

भावार्थः—अनादि काल से अभ्यस्त होने के कारण कामभोगों का जीतना बड़ा कठिन है । कामभोगों की लालसा रखने वाले पुरुष को जब इष्ट पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती अथवा उसका वियोग हो जाता है तब वह अत्यन्त शोक करता है, हृदय में बड़ा

खेद अनुभव करता है, शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित रहता है कागासक्त मनुष्य जब तक युवा रहता है तब तक वह जीवन और धन के मद से अन्ध होकर दुराचार का सेवन करता है परन्तु जब युद्धावस्था आती है तब वह मृत्युकाल को निकट देख कर अत्यन्त पश्चात्ताप करता है। अतः विवेकी पुरुष को पहले से ही सोच विचार कर ऐसा कार्य करना चाहिये जिससे भविष्य में किसी तरह का पश्चात्ताप न करना पड़े।

आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणइ, उड्डं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ, गड्डिण्णं लोए अणु-परियड्डमाणे, संधिं विइत्ता इह मच्चिण्हिं, एस वीरे पसंसिए जे वड्ढं पडिमोयए, जहा अंतो तहा चाहि जहा चाहि तहा अंतो, अंतो अंतो पूइ देहंतराणि पासइ पुहो वि सवंताइ पंडिए पडिलेहाए ॥ ६३ ॥

अन्यार्थः—(आययचक्खू) दीर्घ दृष्टि वाला तथा (लोगविपस्सी) लोक को देखने वाला पुरुष (लोगस्स) लोक के (अहो भाग) अयोभाग को (जाणइ) जानता है, (उड्डं भाग) ऊर्ध्व भाग को (जाणइ) जानता है और (तिरिय भाग) तिरिछे भाग को (जाणइ) जानता है। (गड्डिण्णं) विषय भोग में आनक्त प्राणी (लोण) संसार में (अणुपरियमाणे) परिभ्रमण करते हैं, यह वह जानता है। (इह) इहा (मच्चिण्हिं) मनुष्य जन्म में ही (संधिं) सन्धि अर्थात् ज्ञानादिक की प्राप्ति होती है यह (पिराण) जान कर, जो विषय-कथायों को त्याग देता है, (एस) वही (वीरे) वीर है और वही (पसंसिए) प्रशंसनीय है (जे) जो वह, स्वयं कर्मों में मुक्त होकर (वड्ढं) कर्मों से बन्धे हुए दूसरे जीवों को (गडिमोयए) मुक्त कराने में समर्थ होता है। यह पुरुष (जहा) जिसे (अतो) अन्तर के बन्धनों को तोड़ता है (तहा) वैसे ही (गडिं) बाहर के बन्धनों को भी तोड़ता है और (जहा) जेमे वह (गडिं) बन्धु बान्धवों के सम्बन्ध रूप बाह्य

बन्धनों को तोड़ता है (तद्वा) वैसे ही (अतो) कपायादि आन्तरिक बन्धनों को भी तोड़ता है। वह (अतो अतो) शरीर के अन्दर के (पृष्ठ देहतराणि) अपवित्र पदार्थों को तथा देह की अवस्थाओं को (पावह) देखता है तथा (पुढो वि) अलग-अलग (संवताहं) मलमूत्र आदि अपवित्र पदार्थों को बहाने वाली इन्द्रियों को देखता है। अतः (पडिण्) पण्डित पुरुष (पडिलेखाए) इस शरीर के स्वरूप को अच्छी तरह जाने ॥ ६३ ॥

भावार्थः—जो दीर्घ दृष्टि और ससार के स्वरूप को जानने वाला पुरुष है वह इस बात को जानता है कि संसारी प्राणी कामभोग की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के सावध्य कार्य करके उनका फल भोगने के लिए सदा ससार चक्र में घूमते रहते हैं।

ज्ञानादि भावसन्धियों मनुष्य भव में ही पूर्ण रूप से प्राप्त होती है, दूसरे भवों में नहीं होती हैं। अतः इस विषय को जान कर जो विवेकी मनुष्य विषय कषायों का त्याग कर देता है वही पुरुष इस जगत् में वास्तविक धीर है तथा जो पुरुष द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के बन्धनों से स्वयं मुक्त होकर दूसरे जीवों को भी बन्धन से मुक्त होने का उपदेश करता है वही पुरुष धीर है।

इस शरीर के इन्द्रिय रूपी नौ दरवाजे हैं। उन में से अलग-अलग अपवित्र और दुर्गन्ध पदार्थ ही निकलते रहते हैं। ऐसे अपवित्र पदार्थों से पूर्ण और नश्वर इस शरीर के तत्त्व को जान कर पण्डित पुरुष इसमें राग नहीं करता है किन्तु वह शरीरादि समस्त पदार्थों से समत्व त्याग कर शुद्ध सयम का पालन करता है।

से मइमं परिणाय मा य हु लालं पञ्चासी, मा तेसु तिरिच्छमप्याणमावायए, कासंक्रसे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई कडेण मूढे, पुणो तं करेइ लोहं वेरं वड्ढेइ अप्पणो, जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिवूहणयाए, अमरायइ महासड्ढी अट्टमेयं तु पेहाए अपरिणयाए कंदइ ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थः—(३) वह उपरोक्त (गद्य) बुद्धिमान् पुरुष (बाल) लाला यानी मुख के लार को (भा गच्छांगी) न खावे अर्थात् त्यागे हुए कामभोगों की फिर अभिलाषा न करे। (अप्राण) अपनी आत्मा को (तेज) सम्यग्ज्ञानादि से (तिरिच्य) प्रतिकूल (भा आत्मायण) न होने दे। (अयं) यह (पुरिसे) पुरुष अर्थात् सम्यग्ज्ञानादि से प्रतिफल जागे वाला पुरुष (गन्तु) निश्चय ही (कासकृते) संसार चक्र को बढाता है तथा (बहुमाई) बहुत माया करता है और (लक्षण गूँ) किर्कतव्य मूढ़ होकर दुःख भोगता है। (पुणो) फिर (त) वह (लोह करेइ) बारबार विषयभोग का लोभ करता है और जीवों के साथ (अप्यणो) अपनी आत्मा का (वेर) घेर (गच्छ) बढ़ाता है। अज्ञानी जीव (इमस्स) इस नाशवान् शरीर की (गि गहणाण) वृद्धि के लिए प्राणातिपात आदि करता है (अमरायइ) यह रेचता की तरह सदा जवान रहता चाहता है (गहणाण्ण) निषय-भोग में महान् भ्रष्टा रहने वाला अर्थात् विगयासक्त पुरुष (अइ) आर्त्त यानी दुःख को प्राप्त होता है (एय तु) यह (गिहारा) देरा कर बुद्धिमान् पुरुष भोग की इच्छा न करे (अपरिगणा) जो पुरुष विषय भोगों के परिणाम को न जान कर उनमें आसक्त रहता है वाह (कइइ) तज्जन्य दुःखों को प्राप्त कर रोता है। विषयभोगों के कटु-परिणाम को चतलाने के लिए (अमिण) यह (परिकहिज्जअ) बारबार कथन किया जाता है ॥ ६४ ॥

भावार्थः—बुद्धिमान् पुरुष विषयभोगों के कटु परिणाम को जान कर उनका त्याग कर देवे और उन त्यागे हुए विषयों को फिर भोगने की इच्छा न करे। जैसे बालक अधिवेकी होने के कारण अपने मुँह में निरुल कर बाहर लटकत हुए लार को खा जाता है उसी तरह अविवेको पुरुष विषय भोग को त्याग कर भी फिर उसे भोगने की इच्छा करता है। अतः शास्त्रकार उपदेश करते हैं कि— विषय भोग को त्याग कर फिर उसका उपार्जन मत करो, क्योंकि जो ऐसा करता है वह यमन को मारने वाला अतिगुणित पुरुष है। कामी पुरुष अपने आपको देवता के समान अजर अमर मानता हुआ विषयों में भ्रामक रहता है किन्तु काम से उसके दुःख की

शुद्धि ही होती है। अत विवेकी पुरुषों को कामभोगों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

से तं जाणह जमहं वेमि, तेडच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुं पइत्ता विलुं पइत्ता उइवइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मरणमाणे, जस्स वि य णं करेइ, अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारइ बाले, ण एवं अणगारस्स जायइ

॥ ६५ ॥ त्ति वेमि ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार कहते हैं कि काम भोग दुःख के कारण हैं (से) इसलिये (त) इस बात को (जाणह) समझो (ज) जो (अह) मैं (वेमि) कहता हूँ। (तेडच्छं) काम की चिकित्सा का (पवयमाणे) उपदेश देने वाला (पंडिए) पण्डितताभिमानि—अपने आप को पण्डित मानने वाला अन्यतीर्थी (से) प्राणियों को (हंता) हनन करता है (छित्ता) उनके कान नाक आदि का छेदन करता है (भित्ता) शूल आदि से उनके अंगों को भेदन करता है (लु पइत्ता) उनकी गाठ काटता है (विलु पइत्ता) उनको बन्धन आदि के द्वारा रोकता है (उइवइत्ता) उनके प्राणों को हरण करता है। (अकडं) जो कार्य दूसरों ने नहीं किया वह कार्य (करिस्सामित्ति) मैं करूँगा ऐसा (मरणमाणे) मानता हुआ अज्ञानी प्राणिघातदि क्रियाएँ करता है और (जस्स वि य णं) जिसको वह ऐसा (करेइ) उपदेश देता है उसका भी ग्रहित है। अत (बालस्स) अज्ञानी का (संगेण अलं) संग भी न करना चाहिए। (वा) जो (जे) जो (बाले) अज्ञानी (से) उन प्राणियों की हिंसा द्वारा (कारइ) चिकित्सा कराता है, उसका कार्य भी बुरा है। (ण्व) इस प्रकार हिंसा के द्वारा चिकित्सा करने का उपदेश या चिकित्सा कराना (अणगारस्स) साधु को (ण जायइ) नहीं कल्पता है ॥ ६५ ॥ (त्तिवेमि) ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थः—अज्ञानी जीव समझता है कि—“दूसरे ने जो कामभोगों की चिकित्सा या व्याधि की चिकित्सा अब तक नहीं

की है वह मैं कहूँगा” यह समझ कर वह स्वयं प्राणिघात आदि पापकर्म करता है और दूसरों को भी वैसा ही उपदेश देता है किन्तु इससे उन दोनों का अहित ही होता है। ऐसे अज्ञानी जोवों का सग भी कर्मबन्धन का कारण होता है; अतः उनका सग भी न करना चाहिये। जो प्राणिघातादि रूप पापकारी चिकित्सा न तो स्वयं करता है और न ऐसी चिकित्सा का उपदेश देता है वही ससार के स्वरूप को जानने वाला सच्चा साधु है। उनका सग हितकारी एवं कल्याणकारी होता है ॥

इति पांचवां उद्देशक समाप्त

दूसरे अध्ययन का छठा उद्देशक

से तं संवृजभ्माणे आयाणीयं समुडाय तम्हा पावं कम्मं शेव कुज्जा ण कारवेज्जा ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थः—(त) प्राणियो की हिसा के द्वारा चिकित्सा का उपदेश देना अथवा चिकित्सा करना पाप का कारण है यह (संवृजभ्माणे) समझता हुआ (शे) वह माधु (आयाणीयं) आदरणीय यानी ग्रहण करने योग्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र को (समुडाय) ग्रहण करके (तम्हा) संयम सर्वसावध निवृत्ति रूप है इसलिये (पाव कम्म) पाप कर्म (शेव कुज्जा) स्वयं न करे और (ण कारवेज्जा) अन्य से भी न करावे ॥ ६६ ॥

भावार्थः—सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में रमण करने वाला अतगार स्वयं सावध कार्य न करे, दूसरों से भी न करवावे और करते हुए को भला भी न जाने ।

सिया तत्थ एगयरं विप्परासुइ छसु अएणयरम्मि, कप्पइ सुहट्ठी लालप्पमाणे, एएण दुक्खेण मूढे विप्परियास-मुवेइ, सएण विप्पमाएण पुढी वयं पकुव्वइ, जंसिमे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए शो णिकरण्याए, एस परिण्णा पबु-चवइ, कम्मोवसंती ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थः—(सिया) यदि (तत्थ) छ काय के प्राणियों में से (एगयर) किसी एक का भी (विप्परासुइ) आरम्भ करता है वह (छसु अएणयरम्मि) छः ही काय का आरम्भ करता है । (सुहट्ठी) सांसारिक विषय सुख की इच्छा करने वाला (लालप्पमाणे) मन, वचन काया से सावधक्रियाएँ करता हुआ (मूढे) अज्ञानी जीव (सएण) अपने किये हुए (दुक्खेण) दुःख फल देने वाले कर्मों द्वारा (विप्परि-

यामुपेक्ष) दुःख को प्राप्त करता है अज्ञानी जीव (गण) अपने (विषमार्ण) प्रमाद के कारण (पुत्रो) पृथक्-२ रूप में (व्यपकुन्द) अपने संसार को उड़ाता है। (जति) जिस संसार में (इमे) ये प्राणी (गर्हिया) व्यथा—कष्ट हो प्राप्त होते हैं (गर्हियाए) जानवान् पुरुष यह जान कर (णो गिरुण्यए) जिनसे शारीरिक और मानसिक क्लेश होता है उन कर्मों को न करे। (एल) यही अर्थात् सावन्त्र कार्यों से निवृत्ति ही (परिणो) सच्चा ज्ञान (पुनः) कहा जाता है (गन्धोगती) सावन्त्र योग की निवृत्ति से ही कर्मों का क्षय रूप मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ६७ ॥

भावार्थ:—जैसे कुम्हार की शाला में जल डालने से केवल जल का ही आरम्भ नहीं होता किन्तु अग्नि का, पृथ्वी का, व्रस का, वनस्पति का और वायुकाय का भी आरम्भ होता है। इस तरह एक काय का आरम्भ करने से ह् ही काय का आरम्भ होता है। जो पुरुष एक आश्वघटार को खोलता है वह सभी आश्वों को खोलने वाला है। जैसे कि एक प्राणतिपात आश्व को खोलने वाला पुरुष अपनी ली हुई प्रतिज्ञा तोप करके मिला रूप दूसरे आश्वद्वार को भी खोलता है तथा जिस प्राणी को वह मारता है उस प्राणी ने अपने प्राण हरण की अनुमति उसे नहीं दी है इसलिए उसके प्राणों का हरण करने से वह अदत्तादान का भी मेघन करता है। सावन्त्र को ग्रहण करने से वह परिग्रहमेवी भी बनता है। परिग्रही होने से वह मैथुन और गन्निभोजन का भी सेवन करता है। इस प्रकार एक आश्व के सेवन से समस्त आश्वों का सेवन और एक काय के आरम्भ से सभी काय का आरम्भ होता है। अज्ञानी जीव विषयभोगों में आसक्त होकर ह् ही काया का आरम्भ करता है जिससे कर्मों का बन्ध कर वह दुःखों का भागी बनता है। विवेकी पुरुष इन विषयभोगों का त्याग कर शुद्ध मयम का पालन करता है वह नमस्त कर्मों का क्षय हुकर मोक्ष को प्राप्त करता है फिर उसे कभी संसार में आने का कारण नहीं रहता है।

जे (मे) ममाइयमंडं जहाइ से चयइ ममाइयं, से ह् मुणी जसम एत्थि ममाइयं, तं परिणाय मेहावी विइत्ता लोग

वंता लोगसरणं से महं परिक्रमिज्जासि त्ति वेमि ॥ ६८ ॥

शारङं सहई वीरे, वीरे ए सहई रई । जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे ए रज्जइ ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ — (जे) जो पुरुष (ममाइयमइ) ममत्व बुद्धि को (जहइ) त्याग देता है (से) वह (ममाइय) परिग्रह को (चयइ) त्याग देता है । (जस्स) जिसको (ममाइय) किसी वस्तु पर ममत्व (एत्थि) नहीं है (से) वही (मुणी) मुनि (दिट्ठमहे) मोक्ष के मार्ग को देखने वाला है । अतः (मेधावी) मेधावी (महस) मतिमान् पुरुष (त) उसे (परिणाय) त्याग कर तथा (लोग) लोक के स्वरूप को (विइता) जान कर एव (लोगसरण) लोक संज्ञा को (वता) छोड़ कर (परिक्रमिज्जासि) संयम का पालन करे (त्ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ (वीरे) वीर पुरुष (अरइ) संयम में अरति को (ए सहइ) सहन नहीं करता है अर्थात् संयम में अरति नहीं करता है (वीरे) वीर पुरुष (रइ) असंयम में रति को (ए सहइ) नहीं सहता है अर्थात् असंयम में रति नहीं करता है (जम्हा) क्योंकि (वीरे) वीर पुरुष (अविमणे) रागी नहीं है (तम्हा) इसलिये (वीरे) वह वीर पुरुष (ए रज्जइ) शब्दादि विषयों में अनुरक्त नहीं होता है ॥ ६८ ॥

भावार्थ:—जिसने आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रह का और ममत्व बुद्धि का त्याग कर दिया है वही सम्यग् ज्ञानादि रूप मोक्षमार्ग का देखने वाला है । वही मेधावी और मतिमान् है वह कभी भी असंयम में रति और संयम में अरति नहीं करता । ऐसा करने वाला पुरुष ही वीर है क्योंकि वही आठ प्रकार के कर्मों को त्याग करने में समर्थ होता है ।

सदे फासे अहियासमाणे, णिव्विद शंदि इह जीवियस्स । मुणी मोणं समायाय, धुणे कम्मसरीरगं ॥
पतं लूहं सेवंति, वीरा सम्मत्तदंसिणो । एस ओहंतरे मुणी तिरणे, मुत्ते विरए वियाहिण ॥
त्ति वेमि ॥ ६९ ॥

अन्यथायः—गुरु महाराज कहते हैं कि दे शिष्य ! (क) शब्दों को और (काले) स्पर्शों को (अधियागमाले) सहन करते हुए तुम (उह) इस लोक में (जीवियस) असंयम जीवन में (गर्ह) सन्तुष्टि को (गिहित) घुरा ममको अर्थात् असंयम जीवन में रमण मत करो । (मुणो) मुक्ति (मोण) संयम को (ममायाय) स्वीकार कर (रुमसराण) कर्म शरीर को (पुणे) भङ्गका देवे । (गमगदसिणो) सम-त्वदर्शी (वीर) वीर पुरुष (पत) नीरस और (लू) रूत आहार का (व्यति) सेवन करते हैं । (एम) ऐसा (मुणो) मुनि (ओहत्तरे) संसार नागर को तिरने वाला (सिणो) तीर्ण (मुले) मुक्त और (विल) विरत (नियहिण) कहा गया है (मिपेभि) यह में कहता है ॥ ६६ ॥

भावार्थः—शास्त्रकार उपदेश देते हुए कहते हैं कि मुमुक्षु पुरुष को मनोद शब्दादि में राग और असतोद शब्दादि में द्वेष न करना चाहिये किन्तु मनोद और असतोद दोनों प्रकार के विषयों में समभाव रहना चाहिये । ऐसा करने वाला पुरुष नीरस एवं रुत आहार करता हुआ शुद्ध मयम का पालन करता है । जिससे अष्ट कर्मों का त्याग कर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करता है ।

दुव्वसु सुणी आणाणाए, तुच्छए गिलाड वत्तण, एस वीरे पसंमिण, एस खाए पवुच्चड । १००।

अन्यथार्थः—(आणाणाए) जो भगवान् की आशा में न रह कर स्वेच्छा से आचरण करता है वह (पुणो) मुनि (मुणउ) मोक्ष गमन के योग्य नहीं है । (तुच्छए) वह दानान्ति से रहित है । जय कोई श्रावक आदि उससे कुछ संशयात्मक बातें पूछता है तब यह अज्ञान के कारण (जए) उत्तर देने में समर्थ नहीं होता है, इस कारण (गिलाड) उसके मन में न्लानि उत्पन्न होती है । (एस) वही पुरुष जो भगवान् की आशा में रह कर यथावस्थित मार्ग की प्ररूपणा करने वाला और वेसा ही आचरण करने वाला है, (वीरे) कर्मों की निवारणा करने में समर्थ होता है और वही (पसंमिण) प्रजसा के योग्य है । वह पुरुष (नीयमजोग) लोक के संयोग

को (अच्छे) उल्लयन कर जाता है अर्थात् सांसारिक समस्त बन्धनो को तोड़ देता है। (एस) यही (एण) न्याय मार्ग—सन्मार्ग (पुच्छइ) कहा गया है ॥ १०० ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा का आराधक पुरुष ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है अनाराधक अर्थात् तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा की अवहेलना कर अपनी इच्छानुसार आचरण करने वाला पुरुष नहीं ॥

जं दुक्खं पवेइयं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिणमुदाहरंति, इइ कम्मं परिणाय सव्वसो जे अणायण-
दंसी से अणायणारामे, जे अणायणारामे से अणायणदंसी, जहा पुण्यस्स कत्थइ तथा पुच्छस्स कत्थइ, जहा पुच्छस्स कत्थइ
तथा पुण्यस्स कत्थइ ॥ १०१ ॥

अन्ययार्थः—(इह) इस ससार मे (माणवाण) मनुष्यों के (ज) जो (दुक्ख) दुःख (पवेइय) तीर्थङ्कर भगवान् ने बताया है (कुसला) कुशल पुरुष (तस्स) उस (दुक्खत्स) दुःख को (परिण) जान कर उसको त्याग करने का (उदाहरति) उपदेश देते है (इइ) इस प्रकार विद्वान् पुरुष उनके कारण रूप (कम्म) कर्म को (परिणाय) जान कर (सव्वसो) सर्वथा अर्थात् तीन करण तीन योग से त्याग करे। (जे) जो पुरुष (अणायणदंसी) अनन्यदर्शी है यानी यथावस्थित वस्तु तत्त्व को जानता है (से) वह (अणायणारामे) अनन्याराम होता है अर्थात् वह तीर्थङ्करोक्त मोक्षमार्ग से अन्यत्र रमण नहीं करता है। (जे) जो पुरुष (अणायणारामे) मोक्षमार्ग से अन्यत्र रमण नहीं करता है (से) वही (अणायणदंसी) यथार्थ वस्तु तत्त्व को देखने वाला है। मुनि (जहा) जैसे (पुण्यस्स) पुण्यवान्—भायवान् को (कत्थइ) कहता है (तथा) वैसे ही (पुच्छस्स) पुच्छ को (कत्थइ) कहता है और (जहा) जैसे (पुच्छस्स) पुच्छ को (कत्थइ) कहता है (तथा)

वैसे ही (पुरणस) पुरणवान् को भी (कहते) कहता है ॥ १०१ ॥

भावार्थः—तीर्थंकर भगवान् ने प्राणियों के जो दुःख बताये हैं उनसे मुक्त होने के लिए कुशल पुरुष उपदेश देते हैं कि वह दुःख कर्मकृत है। अतः कर्मों के स्वरूप को तथा आश्रवद्वारों को समझ कर तीन योग तीन करण से उनका त्याग कर देना चाहिए।

जो पुरुष वस्तु स्वरूप को यथार्थ रूप से जानता है उसका चित्त मोक्षमार्ग से अन्य पदार्थ में नहीं लगता है वही पुरुष अनन्यवशी है अर्थात् वह तीर्थंकरोक्त शास्त्र के सिधाय दूसरे शास्त्रों में रत नहीं होता है।

जैसे मुनि, देवों के इन्द्र, चाक्रवर्ती, माण्डलिक राजा और जाति, कुल, बल, धनादि से सम्पन्न पुण्यवान् पुरुषों के लिए उपदेश देते हैं वैसे ही काष्ठ के होने वाले दरिद्र, क्रूर और धनादि से रहित तुच्छ पुरुषों के लिए भी उपदेश देते हैं क्योंकि मुनि तो सब जीवों का कल्याण एव हित चाहते हैं। वे किसी से प्रत्युपकार की आशा नहीं रखते हैं। इसलिये वे सब जीवों को समान दृष्टि से देखते हुए उनके कल्याण के लिए उपदेश देते हैं ॥

अवि य ह्ये अणाइयमाणे, इत्थं वि जाण सेयंति णत्थि, केयं पुरिसे कं य णए ? एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए, उड्डह अहं तिरियं दिसासु, से सव्वाओ सन्नपरिएणचारी, लिप्पइ छणपण, वीरे, से मेहावी अणुघायणस्स खेयणो, जे य वंधपमुक्खमणोसी कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थः—(केयं पुरिसे) यह पुरुष कौन है (य) और (क) किसको (णए) नमस्कार करने वाला है (इ) इस प्रकार उपदेश देने वाले साधु को पहले (जाण) जानना चाहिए। (इत्थं वि) ऐसा जाने बिना उपदेश देना (येयं) श्रेयस्कर (णत्थि) नहीं है क्योंकि साधु द्वारा उपदेश दिया जाने पर (अवि य) यदि क्वचिन् (अणाइयमाणे) अपने आपको अपमानित हुआ समझ कर राजा

आदि (हो) उस साधु को मार सकता है। अतः (ले) जो द्रव्य क्षेत्र काल भाव को देखकर उपदेश देता है, (एस) वही (वीर) वीर पुरुष (पससिए) प्रशसनीय होता है और वही (उड्ड) ऊँची (अह) नीची और (तिरिय) तिरछी (दिसायु) दिशाओं में (वड्डे) कर्मग्रन्थ से बन्धे हुए प्राणियों को (मोयए) मुक्त करने में समर्थ होता है। (मे) वह पुरुष (सब्बओ) सब काल में सर्व प्रकार से (सब्ब-परिणाचारी) सर्व सबर और सर्व चारित्र से युक्त होकर रहता है। वह पुरुष (खण्णएण) हिंसा से (णो सिण्णइ) लिप्त नहीं होता है। (से) वह (वीर) वीर पुरुष (मेहावी) बुद्धिमान है और (अणुघायणस्स) कर्मों का नाश करने में (खेयणो) कुशल है (य) और (ले) जो पुरुष (यथमुक्ख) बन्धन से मुक्त होने के उपाय का (अण्णेली) अन्वेषण करता है (पुण) और अन्वेषण करते जिसने (कुसले) घाती कर्मों का क्षय कर दिया है ऐसा कुशल पुरुष (णे वड्डे) न तो बद्ध ही है और (णो मुक्के) न मुक्त ही है ॥ १०२ ॥

भावार्थ:—वर्मोपदेश करने वाले साधु को पहले उपदेश देने की विधि सीखनी चाहिए पश्चात् धर्म का उपदेश करना चाहिए। इसके विपरीत जो साधु उपदेश की विधि को जाने बिना धर्म का उपदेश करता है वह इस लोक में हानि को प्राप्त करता है और परलोक में भी कर्मबन्ध करके पाप का भागी बनता है। सभा में बैठे हुए पुरुषों की योग्यता को देख कर द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार उपदेश देना चाहिए। सभा में यदि कोई राजा महाराजा बैठा हो और वह अन्यदर्शनी हो तो साधु उसके दर्शन का एकाएक खण्ड करना आरम्भ करदे क्योंकि ऐसा करना अविधि है। इससे वह राजा महाराजा कुपित होकर साधु को अपनी इच्छानुसार घोर दण्ड भी दे सकता है। इसलिए जो धर्मोपदेश की विधि को नहीं जानता है उसको मौन रहना ही अच्छा है।

वर्मोपदेश की विधि का वर्णन करते हुए श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाया है कि—वर्मोपदेश करने वाले साधु के पास आकर यदि कोई धर्म विषयक प्रश्न करे तो उसके विषय में साधु को विचार करना चाहिए कि यह पुरुष कौन है। यह मिथ्यादृष्टि है या भद्र-

स्वभावी ? यह किस अभिप्राय से धर्म पूछ रहा है ? यह किस दर्शन और किस देवता को मानने वाला है ? इत्यादि बातों का निश्चय करके पश्चात् धर्म का उपदेश करना चाहिए । इस प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विचार कर जो साधु पुण्यवान् और तुच्छ को समान भाग स उपदेश देता है वह प्रशंसा का पात्र है । वह स्वयं कर्मों से मुक्त कराने में समर्थ होता है ।

जो पुरुष कर्मों के घात के उपायों को जानता है और अन्वेषण करता है वह पुरुष कुशल है । ऐसा पुरुष छद्मस्थ और केवली दोनों तरह का हो सकता है क्योंकि जो छद्मस्थ पुरुष ज्ञान दर्शन चारित्र्य सम्पन्न है वह मिथ्यात्व और कपाय के उपशम हो जाने के कारण पतन नहीं है और यह कर्म से युक्त होने के कारण मुक्त भी नहीं है । अथवा ऐसा कुशल पुरुष केवली भी हो सकता है क्योंकि चार घाती कर्मों का क्षय कर देने कारण वह नष्ट नहीं है और भयोपग्राही चार अघाती कर्मों के होने से वह मुक्त भी नहीं है । इसलिये ऐसा कुशल पुरुष न तो बद्ध है और न मुक्त है ।

से जं ग आरभे जं य गारभे, अणारद्धं य ण आरभे, छणं छणं परिणाय लोगसणं य सव्वसो ॥ १०३ ॥

अन्यार्थः—(शे) वह उपरोक्त कुशल पुरुष (ज) जो कार्य करता है अथवा उसने जो किया है (आलो) वह करना चाहिए (य) और (ज) जो कार्य नहीं किया है वह (ण आरभे) नहीं करना चाहिए । (य) और (अणारद्धं) केवलियों ने तथा विशिष्ट मुनियों ने जो आचरण नहीं किया है वह (ण आरभे) मोक्षार्थी को कदापि न करना चाहिए । (एण दण) जिन जिन कार्य से हिता होती है उनको (परिणाय) जानकर उनका त्याग कर देना चाहिए (य) और (गव्वसो) तीनों योग और तीनों करणों से (लोगसण) विषय सुख की इच्छा और परिग्रह को त्याग देना चाहिए ॥ १०३ ॥

भावार्थः—केवलियों ने तथा विशिष्ट मुनियों ने मोक्ष प्राप्ति के लिये जो आचरण किया है मोक्षार्थी पुरुष को वैसा ही आच-

रण करना चाहिए । जिन कार्यों से हिसा होती है तथा जिस कार्य का आचरण ज्ञानियो ने निषिद्ध बतलाया है उसका कदापि आचरण न करे ॥

उद्देशो पासगस्स णत्थि, बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खमाणमेव आवट्ठं अणुपरियट्ठइ

॥ १०४ ॥ त्ति वेमि ॥

अन्वयार्थः—(पासगस्स) जो मनुष्य ज्ञानवान् है उस के लिए (उद्देशो) उपदेश की आवश्यकता (णत्थि) नहीं है । (बाले) बाल-अज्ञानी (णिहे) राग द्वेष से मोहित और कपायों से पीड़ित (पुण) तथा (कामसमणुण्णे) विषयभोगों को मनोहर मान कर उनमें आसक्त रहने वाला पुरुष (असमियदुक्खे) विषयभोग और कपायों से उत्पन्न दुःख को शांत नहीं करता है इस प्रकार (दुक्खी) शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित वह (दुक्खमाणमेव) दुःखों के (आवट्ठं) चक्र में ही (अणुपरियट्ठइ) सदा घूमता रहता है ॥ १०४ ॥ (त्ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ।

भावार्थः—जो वस्तुस्वरूप को देखने वाला है उसे पश्यक कहते हैं अथवा केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानने वाले तीर्थंकर भगवान् और उनकी आज्ञा में चलने वाले पुरुष पश्यक कहलाते हैं । इन सब के लिए उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है । वे स्वतः ही अहित से निवृत्ति और हित में प्रवृत्ति करते हैं ।

रागादि से मोहित और विषयो में आसक्त अज्ञानी पुरुष शारीरिक और मानसिक दुःखों से सदा पीड़ित होता हुआ ससारचक्र में परिभ्रमण करता है । इसलिये विवेकी पुरुष को रागादि का तथा विषयभोगों का संवथा त्याग कर देना चाहिए ।

॥ इति लोकविजय नामक द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

शीतोष्णीय नामक तृतीय अध्ययन

प्रथम उद्देशक

अब तीसरे अध्ययन में यह बतलाया जायगा कि साधु को शीत और उष्ण एवं अनुकूल और प्रतिकूल उपमार्गों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। प्रथम अध्ययन में बताया हुआ महाव्रतों से युक्त और दूसरे अध्ययन में वर्णित मयम में स्थित तथा कषाय आदि का विजय किये हुए मोक्षार्थी मुनि को यदि कभी अनुकूल और प्रतिकूल परीपह उत्पन्न हों तो वह समभाव से उनको सहन करे यह उपदेश करने के लिए इस अध्ययन का आरम्भ हुआ है इसलिए इसे शीतोष्णीय अध्ययन कहते हैं।

सुत्ता अमुणी सया मुणिणो सययं जागरंति ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थः—(अमुणी) अमुनि यानी अज्ञानी पुरुष (सया) सदा (सुता) मोये हुए हैं परन्तु (मुणिणो) मुनि (सययं-सया) सदा (जागरति) जागते हैं ॥ १०५ ॥

भावार्थः—शयन यानी सोना दो प्रकार का है—एक द्रव्यशयन और दूसरा भावशयन। इसमें निद्रा रूप शयन द्रव्यशयन है और मिथ्यात्व तथा अज्ञानमय शयन भाव शयन है। भाव शयन समस्त दुर्गों का कारण है। जो जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं वे द्रव्य से जागते हुए भी भाव से मोये हुए हैं क्योंकि वे उत्तम ज्ञान के अनुष्ठान से रहित हैं। जो उत्तम ज्ञान से सम्पन्न और मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति करने वाले मुनि हैं वे द्रव्य से सोते हुए भी भाव से सदा जागते हैं ॥

लोयंसि जाण अहियाय, दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए, जस्सिमे सद्दा य रुवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमएणागया भवंति ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थः—(लोयसि) छः काय के जीवों से परिपूर्ण इस लोक में (दुक्ख) अज्ञान ही (अहियाय) अहित के लिए है यह (जाण) जानो । (लोगस्स) लोक के (समय) आचार को या समता को (जाणित्ता) जानकर किसी भी प्राणी की घात न करे । (इत्थ) इस छः काय के लोक में (सत्थोवरए) शस्त्र का प्रयोग न करते हुए धर्म जागरणा का आश्रय लेना चाहिए । (इमे) ये (सद्दा) शब्द (रुवा) रूप (रसा) रस (ग.ग) गन्ध (य) और (फासा) स्पर्श (जस्स) जिस पुरुष को (अभिसमएणागया) पूर्ण रूप से ज्ञात (भवति) हो जाते हैं वही पुरुष लोक को जानने वाला है ॥ १०६ ॥

भावार्थः—छ. काय के जीवों से परिपूर्ण इस लोक में अज्ञान ही दुःख का कारण है । इसी से प्राणी इस लोक और परलोक में नानाविध दुःखों को प्राप्त होता है । इसलिए अज्ञान के उन्मूलन के लिए प्रयत्न करना चाहिए । अज्ञान के वशीभूत होकर जीव प्राणियों की हिसा करता है एवं विविध पाप उपाजन करता है उनका फल भोगने के लिए नरकादि गतियों में जाता है । आर्यक्षेत्र, मनुष्यभव आदि का मिलना बड़ा कठिन है । इसे प्राप्त कर अज्ञान के नाश के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

अज्ञानी जीव मनोद्वन्द्व रूप रसादि में राग और अमनोद्वन्द्व में द्वेष करते हैं किन्तु विवेकी पुरुष दोनों में समभाव रखते हैं क्योंकि राग-द्वेष कर्मबन्ध के कारण हैं ॥

से आर्यवं त्यायवं वेयवं धम्मवं बंभवं पएणाणेहि परियाणइ लोयं, सुणीति वच्चे, धम्मविज्जति अंजू आवइसोए संगमभिजाणइ ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थः—(शे) वह पुरुष (आया) आत्मवान् है (णायं) ज्ञानवान् है (यस्य) वेद अर्थात् आचारागादि सूत्रों को जानने वाला है (धम्म) धर्मज्ञ है (वस्य) ब्रह्मज्ञ है। वह (पण्णोहिं) मति आवि ज्ञानों के द्वारा (लोग) लोक को (परियाणइ) जानता है, वही (मुणी ति) मुनि (वच्चे) कहलाने के योग्य है। (अम्मविज्जति) वह धर्मवेत्ता है (अज्ज) सरल है। वह (आवटोए संग) संसार रूप आवर्त्त और स्रोत के संग को (अभिजाणइ) जानता है ॥ १०७ ॥

भावार्थः—जो आत्मवान् ज्ञानवान् आदि उपरोक्त विशेषणों वाला मुनि है वह मसार के मूल कारण रागद्वेष को जान कर उन्हें छोड़ देता है। अतः वास्तव में वही विद्वान् और धर्मज्ञ है ॥

सीउल्लिखच्चार्द्धं से शिर्गथि अरइइराह, फरुगं को वेणइ, जागरवेरोवरण, वीरे एव दुक्खा पमुक्खसि, जरामच्चु-वसोवणीए मारे सययं मूढे धम्मं शाभिजाणइ ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थः—(सीउल्लिखच्चार्द्धं) शीत और उष्ण को त्यागने वाला यानी शीत और उष्ण के कष्ट को सहन करने वाला (अरइइराह) असंयम में अरति और संयम में रति रतने वाला (शे) वह (णिगथे) निर्ग्रन्थ (फरुगं) गरीयह और उपसर्गों को पोंढ़ा-कारी (शो वेणइ) नहीं समझता है। (जागइ) वह पुरुष असंयम जीवन रूप भावनिद्रा को त्याग कर सदा जागृत रहता है। (वोरो-वरण) वह वैरभाव से सदा निवृत्त रहता है। (एव) इस तरह (वीरे) वीर पुरुष (दुक्खा) दुःखों से (पमुक्खसि) छूट जाता है। (जराम-च्चुवसोवणीए) जरा और मृत्यु के वश में जाने वाला (शो) पुरुष (सयय) सदा (गळे) मूढ़ है। वह (धम्मं) धर्म को (शाभिजाणइ) नहीं जानता है ॥ १०८ ॥

भावार्थः— जिसने आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार की ग्रन्थियों को तोड़ दिया है ऐसा निर्ग्रन्थ न तो सासारिक सुख की इच्छा करता है और न दुःखों से घबराता है किन्तु वह अनुकूल और प्रतिकूल सब परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करता है। ऐसा वीर पुरुष भावनिद्रा का त्याग कर समय में निरन्तर रत रहता है। वह समस्त दुःखों से छूट जाता है ॥

पासिय आउरे पाये अप्पमत्तो परिव्वए, मंता एय मइमं पास आरंभजं दुक्खमिणं ति शच्च, माई यमाई पुण एइ गब्भं, उवेहमाणो सद्व्वेसु अंजू माराभिसंकी मरणा पमुच्चइ, अप्पमत्तो कामेहि, उवरओ पावकम्महि, वीरे आय-- गुत्ते जे खेयएणे, जे पज्जवजायसत्थस्स खेयएणे, जे असत्थस्स खेयएणे से पज्जवजायसत्थस्स खेयएणे, अकम्मस्स ववहारी ण विज्जइ, कम्मणा उवाही जायइ, कम्मं य पडिलेहाए ॥ ६०६ ॥

अन्ययार्थः— भाव से जागता हुआ पुरुष (आउरे) आतुर अर्थात् शारीरिक और मानसिक दुःख पाते हुए (पाणे) प्राणियों को (पासिय) देख कर (अप्पमत्तो) प्रमाद रहित बन कर (परिव्वए) संयम का अनुष्ठान करे। शास्त्रकार कहते हैं कि (मइमं) हे मति-मन ! (पास) भाव से सोये हुए जीवों की दुर्देशा को देखो। (एय) यह (मता) मान कर भाव से सोने का विचार मत करो। (इण) यह जो प्राणियों में नाना प्रकार का (दुक्ख) दुःख देखा जाता है वह (आरंभजं) आरम्भ जनित है (इइ) ऐसा (एक्का) समझ कर, आरम्भ रहित बनने का प्रयत्न करो। (माई) मायावी और (यमाई) प्रमादी पुरुष (पुण) बारबार (गब्भ) गर्भवान्म को (एइ) प्राप्त होता है। (सद्व्वेसु) शब्द और रूपादि विषयों में (उवेहमाणो) रागद्वेष न करने वाला जीव ही (अंजू) वास्तव में सरल है तथा (माराभिसंकी) मृत्यु से शंका रखने वाला पुरुष ऐसा प्रयत्न करता है, कि (पमुच्चइ) वह मृत्यु से ही छूट जाता है। (कामेहि) जो

कामभोगों में न फँस कर (अथमतो) प्रमाद नहीं करता है किन्तु (पापकर्मो) से (उपर) उपरत हो गया है। (वीरे) वह पुरुष वीर है और (प्रायुते) वह अपनी आत्मा की रक्षा करने वाला है। (जे) जो पुरुष (रोयणो) संयम पालन और तप आदि के कष्टों को सहन करता जानता है वही पुरुष अपनी आत्मा की रक्षा को भी जानता है। (जे) जो पुरुष (पञ्जजायस्यस) शब्दादि विषयों की प्राप्ति के लिए प्राणियों द्वारा किये जाने वाले बातकर्मों के अनुष्ठान को (रोयणो) जानता है (से) वही (असत्यस) अशस्त्र अर्थात् निरवद्यानुष्ठान रूप संयम पालन के कष्टों को भी (लेयणो) जानता है। (जे) जो पुरुष (असत्यस) संयम पालन के कष्टों को (रोयणो) जानता है (से) वही (पञ्जजायस्यस) शब्दादि विषयों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले सावधानुष्ठानों को भी (रोयणो) जानता है (अक्रमस) जो पुरुष कर्मों से रहित हो जाता है उसका (वहारो) इस संसार में व्यवहार (ए विज्जइ) नहीं होता है अर्थात् वह फिर संसार में नहीं आता है। (कम्मुणा) कर्मों से ही (उभाही) उपाधिया (अयइ) प्राप्त होती है अतः (कम्म) कर्म को ही संसार का कारण (पडिलेहाए) जान कर उसके क्षय के लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥ १०९ ॥

भावार्थः—भावनिद्रा अति दुःखदायिनी है अतः उरा का त्याग कर अप्रमत्त भाव से विचरना चाहिए। शब्दादि विषयों में प्रमत्त न होने वाला पुरुष ही सच्चा वीर है। सांन्य अर्थात् पापकारी अनुष्ठानों से निवृत्त होकर शुद्ध मयम का पालन करने वाला पुरुष शीघ्र ही समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है। वह फिर कभी संसार में नहीं आता क्योंकि जन तक कर्म है तब तक ही सारारिक् उपाधियाँ हैं। कर्मों का क्षय हो जाने पर जीव निरुपाधिक होकर अनन्त सुखों में विराजमान हो जाता है ॥

कम्ममूलं य जं छणं, पडिलेहिय सव्वं समायाय दोहिं अंतेहि अदिस्समाणे तं परिणाय मेहावी विहत्ता लोगं वंता लोगसणं से मेहावी परक्कमिज्जासि ॥ ११० ॥ त्ति वेमि ॥

अन्वयार्थः—(जं) जो (कम्ममूल) कर्म का मूल कारण है उसे (य) और (छण) हिंसा को (पडिलेदिय) जान कर त्याग देवे । (सव्व) पूर्वोक्त समस्त उपदेशों को (समायाय) ग्रहण करके (अत्तेहि) राग और द्वेष (दोहिं) दोनों के साथ (अदिस्समाणे) दिखाई न देता । हुआ अर्थात् राग द्वेष से लिप्त न होता हुआ (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (त) कर्म और रागद्वेष को (परिणाय) त्याग कर तथा (लोग) रागद्वेष में फँसे हुए लोक को (विहता) जान कर एव (लोगसण्ण) लोक संज्ञा को अर्थात् विषयभोग तथा कषायों को (वत्ता) छोड़ कर (परक्कमिज्जासि) संयम का अनुष्ठान करे । (त्ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ ११० ॥

नोट.—“कम्ममूल य ज छण पडिलेदिय” के स्थान पर “कम्ममाहूय ज छण य” ऐसा पाठान्तर भी देखा जाता है । जिसका अर्थ इस प्रकार है —

(जं) जिस (छण) क्षण में (कम्म) कर्मबन्ध हो उसी क्षण में (आहूय) उसकी निवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् अज्ञान और प्रमाद-वश जिस क्षण में कर्मबन्धनकारक कार्य हो जावे उसी क्षण में सावधान होकर कर्म के कारणों की निवृत्ति कर देनी चाहिए ।

भावार्थः—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये कर्म के मूल कारण हैं । इन्हें जान कर धिवेकी पुरुष इनका त्याग कर देवे और शुद्ध समय के अनुष्ठान में प्रयत्न करे ॥

॥ इति शीतोष्णीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

तीसरे अध्ययन का दूसरा उद्देशक

भी तत्परगन्धीय ज्ञान मन्दिर, ज

पृ० ४०
प्र० ३०

१००

जाइं य बुद्धि य इहज पास, भूहि सायं पडिलेह जागे ।

तम्हा अह विज्जे परमं चि गच्छा, सम्भत्तदंसी ए करेइ पावं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार कहते हैं कि हे आर्य (अज्ज) आज ही यानी एक क्षण भर का भी निमित्त किये विना (इह) इस जगत् में (जाइं) जन्म (य) और (बुद्धि) बुद्धि को अर्थात् जन्म मरण के दुखों को (पास) देखो । (सायं) अगले सुख को (भूणि) प्राणियों के साथ समान रूप से (गडिलेह) विचार कर (जागे) जानो (तम्हा) इसलिये (अविज्जे) विद्वान् पुरुष (गत्त शि) मोक्ष मार्ग को (एण) जान कर और (सम्भत्तदंसी) सम्यक्त्वदर्शी बन कर (पावं) पाय (ए करेइ) नहीं करता है ॥

भावार्थः—अमण भगवान् महावीर स्वामी गौतम स्वामी को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे आर्य ! तुम जन्म और मरण के दुखों को देखो । जिस प्रकार तुम को सुग प्रिय है उसी प्रकार मसार के समस्त जीवों को सुख प्रिय है ऐसा समझ कर ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे दूसरे प्राणियों को तुम उत्पन्न हो । ऐसा करने वाला पंडित मम्यक्त्वदर्शी पुरुष जन्म और मरण के दुखों से मुक्त हो जाता है ।

उम्मां च पासं धइ मच्चिण्हि, आरंभजीवी उययाधुयस्सी ।

कामेसु गिद्धा सिच्चर्य करंति, संसिचमाणा पुणेरिति गम्भं ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! (इह) इस मनुष्य लोक में (मच्चिण्हि) प्राणियों के साथ (पासं) पाय को यानी

पाश के नमान बन्धन करने वाले हिसादि पापों को (उम्मु'च) त्याग दो । (आरभजीवी) जो पुरुष आरम्भ से जीवन व्यतीत करता है वह (उभयाणुपस्ती) उभयानुदर्शी अर्थात् शारीरिक और मानसिक दुखों का भागी होता है । (कमेसु) कामभोगों में (गिद्धा) आसक्त जीव (शिव्य) कर्मों का सञ्चय (करति) करते हैं । इस प्रकार (ससिच्चमाणा) कर्मों के संचय से भारी बने हुए प्राणी (पुणो) बार २ (गन्ध) गर्भवास को (इति) प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—कामभोगों में आसक्त बने हुए जीन हिसा आदि नाना प्रकार का पापाचरण करते हैं जिससे बारवार गर्भवास को प्राप्त होते हैं और शारीरिक और मानसिक दुःखों से दुःखित होते रहते हैं । अत बुद्धिमान् पुरुषों को विषयभोगों में आसक्त न होना चाहिए ॥

अवि से हासमासज्ज, हंता खंदीति मण्णई । अलं बालस्स संगेण, वेरं वड्डई अप्पणो ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह विषयी जीव (हासमासज्ज) हास्य के लिए (हता अवि) जीवों को मार कर भी (खंदीति) उसे एक क्रीड़ा (मण्णई) मानता है । ऐसा करके वह अज्ञानी जीव प्राणियों के साथ व्यर्थ ही (अप्पणो) अपना (वेर) बैर (वड्डई) बढ़ाता है । अतः (बालस्स) ऐसे बाल अज्ञानी जीव का (संगेण अल) संग भी न करना चाहिए ॥ ३ ॥

भावार्थः—बहुत से कामासक्त जीव अपने हास्य क्रीडार्थ एव मनोविनोदार्थ जीवों की हिसा करते हैं । वे अज्ञानी व्यर्थ ही उन प्राणियों के साथ अनेक जन्म के लिए अपना बैर बढ़ाते हैं । अतः विवेकी पुरुषों को ऐसा कदापि न करना चाहिए ।

तम्हा अइविज्जो परमंति णच्चा, आयंकदंसी ण करेइ पावं ।

अग्गं य मूलं य विगिंच धीरे, पलिच्छिदिया णं शिक्कम्मदंसी ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(तम्हा) इसलिय (अश्विज्जो) अतिशय विद्वान् पुरुष (परम ति) मोक्ष को सब से श्रेष्ठ (एच्छा) जान कर एव (आयकदसो) आतकदर्शी अर्थात् नरक आदि से भय करता हुआ (पाव) पापकर्म (ए करे) नहीं करता है। (धरे) हे धीर ! तुम (अयं) अत्र यानी भव को ग्रहण कराने वाले चार कर्मों को (य) और (मूल) मूल यानी चार घाती कर्मों को (विगिच) अपने से अलग करो। क्योंकि (पल्लिच्छिया) कर्मवन्धनों को काट कर (ए) ही पुरुष (णिम्मदसी) आत्मदर्शी होता है। ४ ॥

भावार्थः—विषयभोगों को दुःख रूप जानने वाले परिणत पुरुष विषयों में आसक्त नहीं होते। वे समस्त कर्मों का त्याग करके अनन्त सुखमय मोक्ष में चले जाते हैं ॥

एस मरणा पमुच्चइ से हु दिट्ठभए सुणी, लोगंसि परमदंसी विविचजीवी उवसंते समिए सहिए सया जए काल-
कंखी परिव्वए, बहुं य खलु पावं कम्मं पण्डं ॥ १११ ॥

अन्वयार्थ—(एस) यह पुरुष अर्थात् चार मूल यानी घाती और चार अत्र यानी अघाती कर्मों को अपनी आत्मा से पृथक् करने वाला पुरुष (मरणा) मरण से (पमुच्चइ) मुक्त हो जाता है। (से हु) वह (सुणी) मुनि (दिट्ठभए) संसार के सारों भयों को देखने वाला है। वह (लोगंसि) लोक में (परमदसी) सत्य से श्रेष्ठ मोक्ष या संयम को देखने वाला (विविचजीवी) भाव से रागद्वेष रहित और द्रव्य से स्त्री पशु नपुंसक रहित स्थान में जीवन व्यतीत करने वाला (उवसंते) उपशान्त (समिए) समितियों से मुक्त (सहिए) क्षानादि सहित (सया) सदा (जए) यत्नवान् रहता है। ऐसा साधु (कालकगी) काल की अपेक्षा करता हुआ (परिव्वए) शुद्ध संयम का पालन करे। (खलु) निश्चय ही इस जीवन ने (बहु) बहुत (पाव) पाप (कम्म) कर्म (पण्डं) किये हैं ॥ १११ ॥

भावार्थः—परमदर्शी मुमुक्षु पुरुष अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हुआ शुद्ध संयम का पालन करता है और ज्ञान आदि से युक्त रहता हुआ कभी भी प्रमाद नहीं करता है। वह पुरुष मृत्युकाल तक पूर्वोक्त गुणों का पालन करता रहता है और मृत्युकाल आने पर वह पण्डितमरण से मरता है। अतः विवेकी पुरुष को पूर्वोक्त गुणों से युक्त होकर मरण पर्यन्त संयम का पालन करना चाहिए। यदि कोई कहे कि मरण पर्यन्त संयम का पालन करने की क्या आवश्यकता है? तो इसका समाधान यह है कि जीव के साथ इतने कर्म बन्धे हुए हैं कि थोड़े काल में उनका क्षय होना सम्भव नहीं है। अतः मरण पर्यन्त संयमपालन की आवश्यकता है ॥

सत्त्वम्भि विद्ं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं भोसेइ ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार कहते हैं कि हे प्राणियो! (सत्त्वम्भि) सत्य यानी संयम में (विद्ं) धीरता (कुव्वहा) रखो (एत्थोवरए) इस संयम में स्थित (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (सव्व) समस्त (पाव) पाप (कम्म) कर्मों को (भोसेइ) क्षय कर देता है ॥ ११२ ॥

भावार्थः—संयम में धीरता रखने वाला पुरुष समस्त कर्मों का क्षय कर देता है ॥

अयोगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहइ पूइत्तए, से अएणपरियावाए अएणपरिग्गहाए जणवयवहाए जणवयपरियावाए जणवयपरिग्गहाए ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थः—(खलु) निश्चय ही (अयं) यह (पुरिसे) पुरुष (अयोगचित्ते) अनेक चित्त वाला होता है। (से) वह (केयणं) केतन अर्थात् अपनी लोभेच्छा एवं तृष्णा को (पूइत्तए) पूरा करने का (अरिहइ) प्रयत्न करता है। (से) उसकी वह तृष्णा (अएणवहाए) दूसरे प्राणियों के वध के लिए (अएणपरियावाए) उनको परिताप अर्थात् शारीरिक और मानसिक कष्ट देने के लिए और (अएण-

परिग्रहाए) अन्य पदार्थों के परिग्रह के लिए होती है तथा (जणक्कवाए) जनपद के वध के लिए (जणक्कपरियावाए) जनपद को परि-
ताप पहुँचाने के लिए एव (जणक्कपरिगहाए) जनपद के परिग्रह के लिए होती है ॥ ११३ ॥

भावार्थ:—कामासक्त पुरुष अपनी भोगलालसा और वृष्णा को पूरा करने के लिए नाना प्रकार से जीवों का वध करते हैं किन्तु यह लालसा कभी पूरी नहीं होती है। अब तक जितने जीम उत्पन्न हुए हैं किसी की भी यह भोगलालसा पूरी नहीं हुई और न किसी की होगी ॥

आसेविच्चा एयं अट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया, तम्हा तं विइयं णो सेवे, णिस्सारं पासिय णाणी, उववायं चवण णब्बा,
अण्णणं चर माहणे, से ण छणे ण छणावए छणंतं णाणुजाणए, अण्विद णंदि, अए ययासु, अणोमदंसी, णिसण्णे
पावेहि कम्मेहि ॥ ११४ ॥

अन्वयार्थ:—(एगे) कितनेक पुरुष (एयं) इस (अट्ठं) अर्थ को (आसेविच्चा) सेवन करके (समुट्ठिया) संयम में स्थित होते हैं (तम्हा) इसलिये उन्हें (विइयं) फिर असंयम अववा मृपावाद का (णो सेवे) सेवन नहीं करना चाहिए। (णाणी) क्षात्री पुरुष (णिस्सार) विषयसेवन को सार रहित (पासिय) जानकर उसकी इच्छा न करे। (माहणे) “जीवों को मत मारो” इस प्रकार उपदेश देने वाला मुनि (उववायं) जन्म और (चवण) मरण को (णच्चा) जान कर (अण्णण) संयम का (चर) पालन करे। (से) वह पुरुष (ण छणे) किसी प्राणी की हिसा न करे, (ण छणावए) हिसा न करावे और (छणंतं) हिसा करने वाले की (ण अणुजाणए) अनुमोदना भी न करे। गुरु महाराज शिष्य को उपदेश करते हुए कहते हैं कि हे शिष्य ! तुम (णदि) विषयानन्द से (णिब्बिद) घृणा करो (ययासु) स्त्रियों में

(अरए) अनुरक्त मत बनो तथा (अणोमदसो) सम्यग् ज्ञान दर्शन चरित्रवान् बनो । जो उक्त गुणों वाला पुरुष होता है वह (भवहि कर्मेहि) पाप कर्मों से (खिलणो) निवृत्त हो जाता है ॥ ११४ ॥

भावार्थः—पूर्वकाल में भरत चक्रवर्ती आदि अनेक राजा लोगो ने परिग्रह का खूब उपार्जन किया था किन्तु उससे भी तृष्णा की वृत्ति न हुई तब उन्होंने तृष्णा का त्याग कर सयम धारण किया और उसका विधिवत् पालन कर मोक्ष प्राप्त किया । अतः मुमुक्षु पुरुषों को तृष्णा का त्याग कर सयम का पालन करना चाहिए । माहन अर्थात् 'मा-मत' हन-मारो" इस प्रकार उपदेश देने वाला मुनि तीन करण तीन योग से हिसा का त्याग कर दे ॥

क्रोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं ।

तम्हा य वीरे विरए वहाओ, छिदिज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(वीरे) वीर पुरुष (क्रोहाइमाण) क्रोध, मान (य) और माया को (हणिया) हनन करे तथा (लोभस्स) लोभ का फल (महत) महान् (णित्य) नरक है ऐसा (पासे) देखे—विचार करे । (तम्हा) इसलिय (वीरे) वीर पुरुष (वहाओ) प्राणिवध से (विरए) निवृत्त हो जाय (य) और (लहुभूयगामी) द्रव्य और भाव से लघुभूत बन कर संयम का पालन करता हुआ (सोय) शोक या भाव खोत का (छिदिज्ज) छेदन करे ॥ १ ॥

भावार्थः—शास्त्रकार फरमाते हैं कि क्रोधादि कषाय का विनाश कर डालो जिसमें भी लोभ का फल तो महा दुःखदायी है । लोभी पुरुष प्राणिवधादि पाप कर्मों में प्रवृत्ति करके सातवें नरक तक जाता है । अतः मुमुक्षु पुरुष को क्रोधादि कषायों का छेदन करके संसार का छेदन कर देना चाहिए ॥

गंयं परिणाय इह यज्ज ! धीरे, मोयं परिणाय चरिज्ज दंते ।
उम्मज्ज लद्धं इह माणवेहिं, णो पाणिणं पाणे समारभिज्जा ॥ २ ॥

तु० अ०
द्वि० उ०

१०६

अन्वयार्थः—शास्त्रकार उपदेश करते हुए कहते हैं कि (अज्ज) हे आर्यो ! प्राज्ञ हो (धीरे) धैर्यवान् बन कर (इह) इन (गय) बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के बन्धनों को (परिणाय) जान कर त्याग दो । (दंते) इन्द्रिय तथा मन का दमन करके और (मोय) विषय सग रूप ससार के स्त्रोतों का (परिणाय) त्याग करके (चरिज्ज) संयम का पालन करो । (इह) इस संसार में (उम्मज्ज) उन्मज्जन अर्थात् मनुष्य भव, धर्मश्रवण, शुद्ध श्रद्धा आदि सुश्रवसर को (नद्धं) प्राप्त करके (माणवेहिं) मनुष्यों को (पाणिणं) प्राणियों के (पाणे) प्राणों का (णो गमारभिज्जा) आरम्भ न करना चाहिए अर्थात् प्राणियघ नहीं करना चाहिए ॥ २ ॥

भावार्थः—मोक्षार्थी पुरुष को चाहिए कि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के बन्धनों को तोड़ कर विषयामक्ति का त्याग कर दे । यह संसार एक महान् समुद्र है । मनुष्य भव को प्राप्त कर जो पुरुष शुद्ध श्रद्धा को ग्रहण कर संयम का पालन करता है वह ससार समुद्र तिर जाता है । अतः मनुष्य भव को प्राप्त कर इस ससार सागर से निकलने का प्रयत्न करना चाहिए ॥

॥ इति द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तीसरे अध्ययन का तीसरा उद्देशक

संधि लोयस्स जाणित्ता, आयओ बहिया पास, तम्हा ए हंता ए विघायए, जमिणं अरणमणविमितिगिच्छाए पडिलेहाए ए करेइ पावं कम्मं, किं तत्थ सुणी कारणं सिया ? ॥ ११५ ॥

अन्वयार्थः—(लोयस्स) लोक की (संधि) संधि को यानी अवसर को (जाणित्ता) जानकर प्रमाद न करना चाहिए । (बहिया) अपने से सिन्न प्राणियों को भी (आयओ) अपने समान ही सुख प्रिय है ऐसा (पास) समझना चाहिए । (तम्हा) इसलिये (ए हंता) किसी भी प्राणी को न मारना चाहिए और (ए विघायए) दूसरों के द्वारा भी प्राणियों का घात न करना चाहिए (ज) जो (अरणमण-वितिगिच्छाए) परस्पर की आशंका से (इण पाव कम्म) ऐसा पाप कार्य (ए करेइ) नहीं करता है अपितु (पडिलेहाए) प्रतिलेखनादि क्रियाएं करता है (किं) क्या (तत्थ) उसमें (सुणा) मुनि होना (कारण सिया) कारण है ? ॥ ११५ ॥

भावार्थः—मनुष्य भव, उत्तमकुल, धर्मश्रवण आदि दुर्लभ अङ्गों को प्राप्त करके विवेकी पुरुष को आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्ति करने में किञ्चिन्मात्र भी प्रमाद न करना चाहिए । सभी प्राणी सुख के अभिलाषी हैं अतः किसी भी प्राणी का वध न करना चाहिए और न दुःख देना चाहिए । जो भावपूर्वक समय का पालन करता है वही सच्चा मुनि है ॥

समयं तत्थ उवेहाए अप्पाणं विप्पसायए । अणएणपरमं णाणी, णो पमाए कयाइवि । आयगुत्ते सया वीरे जाया-मायाइ जावए ॥ १ ॥

विरागं स्वेसु गच्छिज्जा महया खुदुएहि वा, आगइं गइं परिणाय दोहिवि अंतेहि अदिस्समाणेहि से ण भिज्जइ ण भिज्जइ ण हम्मइ कं य णं मच्चलोए ॥ ११६ ॥

अन्यार्थः—(तस्य) ब्रह्मा (सम्यग्) समभाव को या भागम को (उत्तम) सोच कर (अप्राण) अपनी आत्मा को (विपसाय) संयमानुष्ठान में सावधान रखे। (अण्णणस्य) समस्त पदार्थों से मोक्ष को धेष्ठ (गणा) जानने वाला पुरुष (स्यइ गि) कभी भी (णो वमायए) प्रमाद न करे। (वीरे) वीर पुरुष (सया) सदा (व्यापुत्तो) आत्मगुप्त अर्थात् अपनी आत्मा की पाप से रक्षा करता हुआ (जायामायाइ) संगम के निर्वाण मात्र आहार से (जावण) अपना निर्वाण करे। (महया) महान् यानी दिव्य (या) अथवा (उपएहि) खुद-तुच्छ (स्वेसु) रूपों में (विरागं) वैराग्य को (गच्छिज्जा) प्राप्त करे। (आगइ) आगति और (गइ) गति को (परिणाय) जान कर (रोहिवि अंतेहि) राग और उप दोनों को (अदिस्समाणेहि) त्याग देने वाला पुरुष (मच्चलोए) सम्पूर्ण लोक में (कं य णं) किसी के द्वारा (ण भिज्जइ) छेदन नहीं किया जाता (ण भिज्जइ) मेघन नहीं किया जाता (ण उज्जइ) अग्नि आदि से जलाया नहीं जाता और (ण हम्मइ) हनन नहीं किया जाता है ॥ ११६ ॥

भावार्थः—इस मसार में संयम से ब्रह्म कर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। अतः संयम के अनुष्ठान में मुनि को प्रमाद न करना चाहिए। साधु इन्द्रिय और मन को पाप में न जाने देकर अपनी आत्मा की रक्षा करे और जितना आहार करने से संयम के आधार-भूत शरीर का निर्वाह हो सके उतने से ही अपना निर्वाह करे परन्तु अधिक आहार का सेवन न करे। मनोद्वेष रूप रसादि में आसक्त न होवे और अमनोज्ञ से द्वेष न करे किन्तु समभाव रहे। इस प्रकार शुद्ध संयम का पालन करने वाला मुनि स्थूल काल में ही समस्त कर्मों का क्षय कर मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

अवरेण पुंवि ए सरंति एगे, किमस्स तीयं किं वाऽगमिस्सं ।

भासंति एगे इह माणवाओ, जमस्स तीयं तमाऽगमिस्सं ॥ १ ॥

अन्ययार्थः—(एगे) कोई अज्ञानी (अवरेण) पीछे होने वाली बात के साथ (पुंवि) वीती हुई बात को (ए सरत) याद नहीं भासंति एगे इह माणवाओ, जमस्स तीयं तमाऽगमिस्सं ॥ १ ॥ (इह) करते हैं । (अस्स) इस जीव की (किं) क्या क्या अवस्थाएँ (तीय) वीत चुकी है (वा) और (किं) क्या २ (आगमिस्स) वीतेगी ? (इह) इस संसार में (एगे) कितनेक (माणवाओ) मनुष्य (भासति) इस प्रकार कहते हैं कि (अस्स) इस जीव को (ज) जो स्त्रीत्व, पुरुषत्व और नपुंसकत्व आदि (तीय) प्राप्त हो चुका है (त) वही (आगमिस्स) आगे के भवों में भी प्राप्त होगा ॥ १ ॥

भावार्थः—दूस जगत् में बहुत से पुरुष वर्तमान को ही देखते हैं, भूत और भविष्यत् का विचार नहीं करते । वे यह नहीं जानते हैं कि—हम कहीं से आये हैं और कहाँ जायेंगे तथा हमारी क्या दशा होने वाली है ? ऐसा विचार वे नहीं करते हैं इसलिये वे भ्रमण करते रहते हैं । कितनेक अज्ञानी तो यह कहते हैं कि—यह जीव पूर्व भव में स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि भेदों में जैसा भेद वाला था वह आगामी भव में भी वैसा ही होगा ।

णार्हियसट्ठं ए य आगमिस्सं, अट्ठं णियच्छंति तहागया उ ।

विहूयकप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवए तवस्सी ॥ २ ॥ ११७ ॥

अन्ययार्थः—(तहागया) तथागत अर्थात् जो फिर संसार में नहीं आते ऐसे सिद्ध भगवान् (ए) न तो (अइय) अतीत काल के सुख को (णियच्छंति) स्मरण करते हैं (य) और (न) (ए आगमिस्स) न आगामी काल के सुख की इच्छा करते हैं (उ) इसी प्रकार (विहूयकप्पे) कर्मों का क्षय करने के लिए उद्यत बना हुआ (तवस्सी—महसी) महर्षि साधु भी (एयाणुपस्सी) इसी मार्ग का अनु-

सरण करता है प्रार्थित सुख का स्मरण नहीं करता और भविष्य में स्वर्गादि सुख पाने की इच्छा नहीं करता है किन्तु (शिज्जोसइत्ता खण) पूर्वोपाजित कर्मों का क्षय करता है और मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २ ॥ ११७ ॥

भावार्थ:—आठों कर्मों का क्षय करके जो जीव मोक्ष में चले जाते हैं वे 'सिद्ध' कहलाते हैं। वे फिर कभी ससार में नहीं आते हैं। वे सिद्ध भगवान् और उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले पुण्य गत काल के सुखों का स्मरण नहीं करते और आगामी काल के सुखों की चाह नहीं करते हैं ॥

का अरई के आणंदे ? इत्थं वि अण्णहे चरे, सर्वं हासं परिच्चज्ज अलीणगुत्तो परिव्वण, पुरिसा ! तुममेव तुमं भित्तं किं बहिया भित्तमिच्छसि ? ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थ:—योगी के लिए (अरई) अरति (का) क्या है और (आणंदे) आनन्द (के) क्या है। (इत्थं वि) इन अरति और आनन्द के विषय में (अण्णहे) आसक्ति भाव न रखता हुआ (चरे) विचरे। (सर्वं) समस्त (हास) हास्य को (अलीणगुत्तो) त्याग कर जितेन्द्रिय एवं मन वचन काया से गुप्त होकर (परिव्वण) संयम का पालन करे। (पुरिसा) हे पुरुष !—हे आत्मन् ! (तुममेव) तू ही (तुम) तेरा (भित्तं) भित्त है (बहिया) बाह्य (भित्तं) भित्त की (किं इच्छसि) इच्छा क्यों करता है।

भावार्थ:—रति और अरति अर्थात् हर्ष और विषाद अज्ञानियों को हुआ करते हैं, ज्ञानी पुरुष त सभी अवस्थाओं में सम-भाव रखते हैं और शुद्ध संयम का पालन करते हैं।

शास्त्रकार फरमाते हैं कि—हे आत्मन् ! तू ही तेरा भित्त है। बाह्य भित्त की तू क्यों इच्छा करता है ? कुमार्ग पर चलता हुआ यह आत्मा ही आत्मा का शत्रु है और सुमार्ग पर चलता हुआ आत्मा ही आत्मा का मित्र है ॥

जं जाणिज्जा उच्चालइयं तं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणिज्जा उच्चालइयं, पुरिसा !
अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवड्डिए मेहावी
मारं तरइ, सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थः—(ज) जिस पुरुष को (उच्चालइय) विषय के संग को दूर करने वाला (जाणिज्जा) जानो (त) उसको (दूरालइय)
मोक्ष मार्ग का पथिक (जाणिज्जा) समझो और (ज) जिसको (दूरालइय) मोक्ष मार्ग का पथिक (जाणिज्जा) समझो (त) उसको
(उच्चालइय) विषय के संग को दूर करने वाला (जाणिज्जा) समझो । (पुरिसा) हे पुरुष ! —हे आत्मन् ! तू (अत्ताणमेव) अपनी आत्मा
को ही (अभिणिगिज्झ) विषय संग से दूर रख । (एवं) ऐसा करने से यह आत्मा (दुक्खा) दुःखों से (पमुच्चसि) छूट जाता है । (पुरिसा)
हे पुरुष ! हे आत्मन् ! (सच्चमेव) सत्य को ही वास्तविक तत्त्व (समभिजाणाहि) जानो अर्थात् समस्त व्यापारों को त्याग कर संयम
की ही आराधना करो क्योंकि (सच्चस्स) सत्य की (आणाए) आज्ञा यानी आराधना करने में (उवड्डिए) उद्यमवान् (सि) वह (मेहावी)
बुद्धिमान् पुरुष (मार) मृत्यु को अर्थात् जन्म मरण के कारणभूत संसार को (तरइ) तिर जाता है । (सहिओ) ज्ञान दर्शन और
चारित्र से युक्त पुरुष (धम्म) श्रुत और चारित्र रूप धर्म को (आयाय) स्वीकार करके (सेय) यथार्थ कल्याण को (समणुपस्सइ)
देखता है ॥ ११८ ॥

भावार्थः—विषयों से विरक्त पुरुष ही मोक्षमार्ग का आराधक है किन्तु विषयों में आसक्ति रखने वाला नहीं । इसलिए
शास्त्रकार फरमाते हैं कि हे आत्मन् ! सुमार्ग पर चलता हुआ आत्मा ही अपना मित्र है । तुम्हें बाह्य मित्र दू देने की क्या आवश्यक-
कता है ? सयम का पालन करो । शुद्ध सयम का पालन करता हुआ आत्मा संसार सागर को तिर जाता है ॥

दुहश्चो जीवियस्स परिवंदण भाणणपूयणाए, जंसि एगे पमायंति ॥ ११६ ॥

अन्वयार्थः—(दुहश्चो) दोनों प्रकार से अर्थात् राग और द्वेष से अज्ञानी जीव (जीवियस्स) इस जीवन को (परिवदणभाणणपूयणाए) वन्दनीय माननीय और पूजनीय बनाने के लिए चेष्टा करते हैं। (जंसि) जिस में अर्थात् इन वन्दन आदि के लिए (एगं) कितनेक अज्ञानी (पमायति) प्रमाद का सेवन करते हैं ॥ ११९ ॥

भावार्थः—अज्ञानी मनुष्य अपने इस क्षणभङ्ग जीवन को वन्दनीय माननीय और पूजनीय बनाने के लिए नाना प्रकार से पापाचरण करते हैं ॥

सहिश्चो दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो भंक्काए, पासिमं दविए लोए लोयालोयपवंचाश्चो मुच्चइ ॥ १२० ॥ त्ति चेमि ॥

अन्वयार्थः—(सहिश्चो) दानादि से सहित पुरुष (दुक्खमत्ताए) दुःख की मात्रा से (पुट्ठो) स्पृष्ट होकर अर्थात् गरीयह उपसर्गादि जनित दुःखों के आने पर (णो भंक्काए) द्वेष न करे। (इमं) यह (पास) देखो कि (दविए) द्रव्यभूत अर्थात् शुद्ध संयम का पालन करने वाला मुनि (लोयातोक्खवचाश्चो) लोकालोक के प्रपन्न गानी विस्तार से (मुच्चइ) मुक्त हो जाता है ॥ (त्ति चेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १२० ॥

भावार्थः—दृष्ट विषय की प्राप्ति होने पर जो राग नहीं करता और अनिष्ट की प्राप्ति में जो द्वेष नहीं करता किन्तु समभाव रखता है ऐसा समभावी शुद्ध संयम का पालन करने वाला मुनि मांसारिक समस्त बन्धनों से छुट कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥

॥ इति तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

से वंता कोहं य माणं य मायं य लोभं य, एवं पासगस्स दंसणं, उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं सगडब्बि ।

अन्वयार्थः—जो पुरुष शास्त्रोक्त रीति से संयम का अनुष्ठान करता है (सं) वह (कोहं) क्रोध (माण) मान (माय) माया (य) और (लोभ) लोभ को (वता) शीघ्र ही नष्ट कर देता है (एय) यह (दसण) उपदेश (उवरयसत्थस्स) शस्त्र से निवृत्त और (पलियंतकरस्स) कर्म एवं संसार का अन्त करने वाले (पासगस्स) सर्वज्ञ तीर्थंकरों का है । (आयाण) आदान अर्थात् हिंसा आदि आस्रवों का त्याग करने वाला पुरुष (सगडब्बि) अपने कर्मों का नाश कर देता है ॥ १२१ ॥

भावार्थः—“जो पुरुष सम्यग्ज्ञानादि सहित होकर सयम का पालन करता है वह क्रोध मान माया लोभ का क्षय करके एव आठो कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हो जाता है” ऐसा केवलज्ञान केवलदर्शन के धारक तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर स्वामी ने फरमाया है ॥

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥ १२२ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (एग) परमाणु आदि द्रव्यों में से किसी एक को (जाणइ) जानता है (से) वह (सव्व) संसार के समस्त पदार्थों को (जाणइ) जानता है । (जे) जो (सव्व) संसार के समस्त पदार्थों को (जाणइ) जानता है (से) वह (एगं) एक पदार्थ

को (जाणइ) जानता है ॥ १२२ ॥

अ०
च० उ०

११४

भावार्थः—भूतकाल और भविष्यत् काल की अपेक्षा एक पदार्थ की अनन्त पर्यायि होती हैं। उन्हें समस्त रूप से सर्पन्न सर्व-वर्षा भगवान् ही जान सकते हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध होती है कि—जो अनन्त पर्यायों सहित एक पदार्थ को जानता है वह समस्त पदार्थों को जानता है और जो समस्त पदार्थों को जानता है वही अनन्त पर्यायों सहित एक पदार्थ को सम्पूर्ण रूप से जानता है।

सर्व्वओ पमत्तस्स भयं, सर्व्वओ अप्पमत्तस्स णत्थि भयं, जे एगं णामे से वहुं णामे से एगं णामे,
दुक्खं लोगस्स जाणित्ता वंता लोगस्स संजोगं जंति धीरा महाजाणं, परेण परं जंति, णानकंवंति जीवियं ॥ १२३ ॥

अन्वयार्थः—(पमत्तस्स) प्रमाद करने वाले पुरुष को (सर्व्वओ) सब जगह (भय) भय है और (अप्पमत्तस्स) प्रमाद न करने वाले पुरुष को (सर्व्वओ) सर्वत्र (भय) भय (णत्थि) नहीं है। (जे) जो पुरुष (एग) एक कषाय का (णामे) लय करता है (से) वह (बहु) बहुत का (णामे) क्षय करता है और (जे) जो (बहु) बहुत का (णामे) लय करता है (से) वह (एगं) एक का (णामे) लय करता है। (लोगस्स) लोक के अर्थात् संसारी प्राणियों के (दुक्ख) दुःख को तथा दुःख के कारणभूत कर्मों को (जाणिता) जान कर उन्हें त्याग देना चाहिए और (लोगस्स) लोक के अर्थात् संसारी प्राणियों के (संजोगं) धन पुत्र आदि में ममत्वकृत सम्बन्ध को (वंता) त्याग कर (धीरा-वीरा) धीर पुरुष (महाजाण) महायान अर्थात् मोक्ष को (जति) प्राप्त करते हैं। वे पुरुष (परेण) उत्कृष्ट पद को प्राप्त करके फिर (पर) परमपद अर्थात् मोक्ष को (जति) प्राप्त करते हैं। वे पुरुष (जीविय) असंयम जीवन की (णानकलति) इच्छा नहीं करते हैं ॥ १२३ ॥

भावार्थः—जो पुरुष प्रमाद करता है यानी आत्मोद्धार के मार्ग को छोड़ कर अवनति के मार्ग में जाता हुआ मद्यपान आदि निन्दित कर्म करता है उसको इस लोक और परलोक दोनों में ही भय होता है। जो पुरुष अपने कल्याण में सदा मावधान रहता है उसको संसार से अथवा कर्मों से भय नहीं होता है क्योंकि समस्त अनर्थों के मूलभूत कपाय का वह विनाश कर चुका है।

सासारिक प्राणियों को शारीरिक या मानसिक जो दुःख उत्पन्न होता है उसका मूल कारण धन और पुत्र आदि में ममत्वपूर्वक सम्बन्ध है और ममत्वपूर्वक सम्बन्ध ही कर्मबन्ध का कारण है। अतः विवेकी पुरुष इनका त्याग करके चारित्र्य का अनुष्ठान करते हैं। उनमें से कितनेक जीव तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और कितनेक जीव अनुत्तरविमान पर्यन्त स्वर्ग लोक को प्राप्त करते हैं और बाद में समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥

एवं विगिचमाणे पुढो विगिचइ, पुढो विगिचमाणे एगं विगिचइ, सड्ढी आणाए मेहावी लोगं च आणाए अभि-
समिच्च अकुओभयं, अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थः—क्षपक श्रेणी पर चढ़ा हुआ पुरुष (एण) एक अनन्तानुबन्धी कपाय का (विगिचमाणे) क्षय करता हुआ (पुढो) दूसरों का भी (विगिचइ) क्षय करता है और (पुढो) दूसरों का (विगिचमाणे) क्षय करता हुआ पुरुष (एण) एक अनन्तानुबन्धी का (विगिचइ) क्षय करता है। (सड्ढी) मोक्षमार्ग के आराधन में श्रद्धा वाला तथा (आणाए) तीर्थकर भगवान् के फरमाये हुए आगम के अनुसार आचरण करने वाला (मेहावी) बुद्धिमान मुनि ही क्षपक श्रेणी के योग्य होता है (च) और वह (लोगं) छः काय के जीव रूप लोक को (आणाए) सर्वज्ञ भगवान् के फरमाये हुए आगम के उपदेश से (अभिसमिच्चा) ज्ञान कर (अकुओभयं) किसी भी प्राणी को भय नहीं देता। (सत्थं) शस्त्र (परेण परं) तीक्ष्ण से भी तीक्ष्ण (अत्थि) होता है परन्तु (असत्थं) अशस्त्र यानी संयम से (परेण

पर) उत्कृष्ट (गति) कुछ नहीं है ॥ १२४ ॥

भावार्थ:—क्षपक श्रेणी पर चढ़ा हुआ साधु एक अतन्तानुबन्धी क्रोध का लय करता हुआ दूसरे भी दर्शनमोह आदि का लय करता है। जो साधु कपायो का लय कर देता है उसको किसी से भी भय नहीं होता है।

शस्त्र के द्वारा प्राणियों को भय उत्पन्न होता है। वह शस्त्र दो प्रकार का है। एक द्रव्य शस्त्र और दूसरा भाव शस्त्र। द्रव्य शस्त्र एक दूसरे से तीक्ष्ण सं तीक्ष्ण होता है। संयम से किसी भी प्राणी को भय नहीं होता। संयम सद्य प्राणियों को अभय देने वाला है। वह एक ही प्रकार का है। उसकी भिन्न भिन्न कक्षाएँ नहीं हैं क्योंकि संयमधारी पुरुष पृथ्वी आदि समस्त प्राणियों में समभाव रखता है। उसका किसी के साथ द्वेष नहीं होता। अथवा शैलेशी अवस्था वाले संयम से बढ़ कर दूसरा संयम नहीं है क्योंकि उससे ऊपर कोई गुणस्थान नहीं है ॥

जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गन्धदंसी, जे गन्धदंसी से जम्भदंसी, जे जम्भदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से शरयदंसी, जे शरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी। से मेहावी अभिणिव—
द्विजा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च दोसं च मोहं च गन्धं च जम्भं च मारं च शरयं च तिरियं च दुक्खं च।
च। एवं पासगस्स दंसणे उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं णिसिद्धा सगडब्भि, किमत्थि ओवाही पासगस्स ?
ए विज्झइ ?, णत्थि ॥ १२५ ॥ त्ति वेमि ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो पुरुष (कोहदसी) क्रोध को अनर्थकारी देखता है (से) वह (माणदसी) मान को अनर्थकारी देखता है । (जे) जो पुरुष (माणदसी) मान को अनर्थकारी देखता है (से) वह (माधदसी) माया को अनर्थकारी देखता है । (जे) जो पुरुष (मायादसी) माया को अनर्थकारी देखता है (से) वह (लोभदसी) लोभ को अनर्थकारी देखता है । (जे) जो पुरुष (पेजदसी) पेज को अनर्थकारी देखता है । (जे) जो पुरुष (पेजदसी) पेज को अनर्थकारी देखता है (से) वह (दोसदसी) दोष को अनर्थकारी देखता है । (जे) जो पुरुष (दोसदसी) दोष को अनर्थकारी देखता है (से) वह (मोहदसी) मोह को अनर्थकारी देखता है (जे) जो पुरुष (मोहदसी) मोह को अनर्थकारी देखता है (से) वह (गम्भदसी) गम्भवास के दुःखों को देखता है । (जे) जो पुरुष (गम्भदसी) गम्भवास के दुःखों को देखता है (से) वह (जन्मदसी) जन्म के दुःखों को देखता है । (जे) जो पुरुष (जन्मदसी) जन्म के दुःखों को देखता है (से) वह (मारदसी) मरण के दुःखों को देखता है । (जे) जो पुरुष (मारदसी) मरण के दुःखों को देखता है (से) वह (नरकदसी) नरक के दुःखों को देखता है । (जे) जो पुरुष (नरकदसी) नरक के दुःखों को देखता है (से) वह (तिरियदसी) तिर्यग्-योनि के दुःखों को देखता है । (जे) जो पुरुष (तिरियदसी) तिर्यग्योनि के दुःखों को देखता है (से) वह (दुःखदसी) उपरोक्त सभी दुःखों को देखता है अर्थात् उपरोक्त सभी दुःखों को अनर्थकारी समझ कर उनसे छूटने का प्रयत्न करता है अथवा पूर्वोक्त सभी दूयों का इस प्रकार अर्थ करना चाहिए ।

(जे) जो पुरुष (कोहदसी) क्रोध करता है (से) वह (माणदसी) मान भी करता है । इस प्रकार “दुःखदंसी” तक सभी वाक्यों का अर्थ करना चाहिए । इसलिये (से) वह (मिहावी) बुद्धिमान् पुरुष (कोह) क्रोध (माण) मान (माय) माया (लोभ) लोभ (पिज्ज)

राग (दोष) द्वेष (मोह) मोह (गब्भ) गर्भ (जन्म) मरण (एत्य) नरक (तिरियं) तिर्यग्योनि (य) और (दुम्प) दुःख इन सब को (अभिणिव्वेजा) त्याग दे । (एयं) यह (दमण) उपदेश (अवयसत्तस्स) सभी प्रकार के शस्त्रों से निवृत्त (पलियतत्तस्स) कर्मों का अन्त करने वाले (पासगस्स) सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् का है । वे तीर्थंकर भगवान् (आथाण) कर्म के उपादान रूप हिंसादि को (णिसिद्धा) त्याग कर (सगडब्भि) अपने कर्मों का नाश करने वाले हैं । (किं) क्या (पासगस्स) सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् के (ओवाही) किसी प्रकार की उपाधि (अत्थि) होती है या (ए विज्झ) नहीं होती ? (अत्थि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १२५ ॥

भावार्थः—सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् ने फरमाया है कि—बुद्धिमान् पुरुष को क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के स्वरूप को अच्छी तरह जान कर उनका त्याग कर देना चाहिए ॥

॥ इति शीतोष्णीय नामक तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

सम्यक्त्व नामक चौथा अध्ययन

प्रथम उद्देशक

अ० च०

प्र० उ०

११६

शस्त्रपरिज्ञा नामक पहले अध्ययन में छ' काय के जीवों का वर्णन करके जीव और अजीव पदार्थों का वर्णन किया गया है। जीवों के वध से कर्मबन्ध और उनका वध न करने से तथा उनकी रक्षा करने से कल्याण होना बताकर आश्रव और सवर नामक दो पदार्थ कहे गये हैं। इस प्रकार प्रथम अध्ययन में जीव, अजीव, आश्रव और सवर ये चार पदार्थ कहे गये हैं। लोक विजय नामक दूसरे अध्ययन में जिस प्रकार प्राणियों के कर्मबन्ध होता है और जिस प्रकार उनकी कर्मों से सुक्ति होती है यह बताकर बन्ध और निर्जरा नामक पदार्थ कहे गये हैं। शीतोष्णीय नामक तीसरे अध्ययन में साधु को शीत और उष्ण परीपहों को सहन करना चाहिए यह कह कर उनके फलरूप मोक्ष का वर्णन किया गया है। इस प्रकार इन तीन अध्ययनों में जीव, अजीव, आश्रव, सवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ कहे गये हैं परन्तु इन अध्ययनों में सम्यक्त्व का वर्णन नहीं आया है। इसलिए अब चौथे अध्ययन में सम्यक्त्व का वर्णन किया जाता है।—

से वेमि जे य अईया जे य पडुप्पण्णा जे य आगमिस्सा अरहता भगवंतो ते सब्बे एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवैति एवं परूविति—सब्बे पाणा सब्बे भूया सब्बे जीवा सब्बे सत्ता ण हंतव्वा ण अप्पजवेयव्वा ण परिधेतव्वा ण परियावेयव्वा ण उद्वेयव्वा, एस धम्मो सुद्धे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहि पवेइए, तंजहा—उट्टिएसु वा अणु-ट्टिएसु वा उवट्टिएसु वा अणुवट्टिएसु वा उवरयदंडेसु वा अणुवरयदंडेसु वा सोवहिइएसु वा अणुवहिइएसु वा संजोगएसु

वा असंजोगएसु वा, तत्त्वं चेयं तथा चेयं अस्मि चेयं पबुच्चइ ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थः—(से वेमि) मे कहती हूँ (जे) जो (आहंता) अरिहन्त (भगवतो) भगवान् (अहंता) पूर्वकाल में हो चुके हैं (य) और (जे) जो (पदुग्गणा) वर्तमान काल में होगे (य) तथा (जे) जो (आग्गिस्ता) भविष्यत् काल में विद्यमान हैं (ते) वे (सब्बे) सब (एव) इस प्रकार (आइक्खति) कहते हैं (एव) इस प्रकार (भासति) भाषण करते हैं (एव) इस प्रकार (पणविति) उपदेश करते हैं (एव) इस प्रकार (पविति) प्रवृत्ति करते हैं— (सब्बे) सब (पाणा) प्राणी—वेइन्द्रिय तेइन्द्रिय, और चौइन्द्रिय (सब्बे) सब (भूया) भूत—वनस्पति—काय के जीव (सब्बे) सब (जीवा) जीव—पचेन्द्रिय और (सब्बे) सब (सत्ता) सत्त्व—पृथ्वीकाय, अण्काय, तेउकाय और वायुकाय, इन एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी जीवों को (एव इत्त्वा) न मारना चाहिए (एव अज्जवेयत्वा) उन्हें ब्राह्मण न देने चाहिए (एव परिचैत्त्वा) उन्हें दास दासी आदि के रूप में रख कर दुःख न देना चाहिए (एव परिचैत्त्वा) उन्हें परिताप न देना चाहिए (एव उदयत्त्वा) उन्हें उपद्रव न पहुँचाना चाहिए । (एव) यही (यस्से) धर्म (सुद्धे) शुद्ध है (सिद्धे) नित्य है (साम्मे) शाश्वत है । (लोग) समस्त लोक को (सम्मिच्च) केवलज्ञान के द्वारा देख कर (वेय्योहिं) तीर्थंकरों के द्वारा (पवेइए) यह कहा गया है (तज्झा) जैसे कि (उट्ठिएसु) धर्म का आचरण करने में प्रवृत्त (वा) अथवा (अणुट्ठिएसु) अप्रवृत्त पुरुषों के लिए (ज्वट्ठिएसु) धर्म सुनने के लिए उपस्थित (वा) अथवा (अणुनट्ठिएसु) अनुपस्थित पुरुषों के लिए, (उवरयदहेसु) प्राणियों को दण्ड देने से निवृत्त (वा) अथवा (अणुवरयदहेसु) अनिवृत्त पुरुषों के लिए (सोवहिएसु) सोपधिक यानी हिरण्य आदि द्रव्य उपधि और माया रूप भाव उपधि से युक्त (वा) अथवा (अणोवहिएसु) उपधि से रहित पुरुषों के लिए (सजोगएसु) स्त्री, पुत्र, मित्र आदि के संयोग में रत (वा) अथवा (असजोगएसु) इनके संयोग

में रति न रखने वाले पुरुषों के लिए अर्थात् संसार के समस्त प्राणियों के लिए भगवान् ने उपदेश दिया है। भगवान् ने जो उपदेश दिया है (एय) वह (तच्च) सत्य है (य) और (एय) वह (तहा) वैसा ही है (य) और (आस्सि) इस जैनदर्शन में ही (एयं) यह धर्म (पवुच्चइ) कहा जाता है, अन्यत्र नहीं ॥ १२६ ॥

नोट — किसी किसी प्रति में 'न परियावेयव्वा' के आगे 'न किलामेयव्वा' ऐसा पाठ है। जिसका अर्थ है — क्लामना न उपजानी चाहिए यानी कष्ट न देना चाहिए।

भावार्थः—गत काल में अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं और भविष्यत् काल में अनन्त तीर्थंकर होंगे तथा वर्तमान काल में पाच महाविदेह क्षेत्र में जघन्य २० उत्कृष्ट १६० तीर्थंकर विद्यमान हैं उन सब का यही फरमान है कि एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए, उन्हे शारीरिक या मानसिक कष्ट न देना चाहिए तथा उनके प्राणों का नाश नहीं करना चाहिए। यह अहिंसा धर्म नित्य है, शाश्वत है। संसार सागर में डूबते हुए प्राणियों पर अनुकम्पा करके उनके उद्धार के लिए तीर्थंकर भगवान् ने यह अहिंसात्मक धर्म फरमाया है। भगवान् ने जगत्जीवों के कल्याणार्थ जो धर्मोपदेश दिया है सर्वथा सत्य है। वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा ही भगवान् ने फरमाया है, उसमें किञ्चिन्मात्र भी अन्यथा नहीं है। इस प्रकार पदार्थ का यथार्थ वर्णन इस जैनदर्शन में ही पाया जाता है, अन्य दर्शनों में नहीं क्योंकि उनमें पूर्वापर विरुद्ध बातें पाई जाती हैं ॥

तं आइत्तु ए णिहेण णिक्खिन्ने जाणित्तु धम्मं जहा तथा, दिट्ठेहिं णिञ्चयं गच्छिज्जा, णो लोगस्सेसणं चरे ॥ १२७ ॥

अन्वयार्थः—(त) उस सम्यग्दर्शन को (आइत्तु) प्राप्त करके उसके अनुसार कार्य न करके (ए णिहे) उसका गोपन न करे तथा (ए णिक्खिन्ने) उसका त्याग न करे। (धम्म) धर्म के स्वरूप को (जहातहा) जान कर (दिट्ठेहि) इष्ट विषयों

से (शिवैव गच्छेज्जा) विरक्त हो जाय । (लोगस्सेसणं) लोकैषणा (शो चरे) न करे ॥ १०७ ॥

भावार्थः—सम्यग् दर्शन को प्राप्त करके उसके अनुकूल कार्य न करना उस सम्यग्दर्शन को छिपाना है अतः विवेकी पुरुष ऐसा न करे तथा मिथ्यादृष्टियों के ससर्ग से उसका त्याग भी न करे । वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान कर मनोज्ञ और असनोज्ञ शब्दादि विषयों में रागद्वेष न करे किन्तु समस्त पदार्थों में समभाव रखे ।

जस्स गतिथि इमा गार्ह, अणणा तस्स कओ सिया ? दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ, समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जाइं पक्कप्पंति ॥ १२८ ॥

अन्वयार्थः—(जस्स) जिस मोक्षार्थी पुरुष की (इमा) यह पूर्वोक्त लोकैषणा (गार्ह) क्षाति-बुद्धि (गतिथि) नहीं है (तस्म) उसकी (अणणा) दूसरी सावद्य आरम्भ में प्रवृत्ति (कओ) कैसे (सिया) हो सकती है ? (एयं) यह (ज) जो (परिकहिज्जइ) मेरे द्वारा कहा जा रहा है वह (दिट्ठं) सर्वज्ञ के द्वारा देखा गया है और (सुयं) अवगर्थियों द्वारा सुना गया है तथा (मयं) भव्य जीवों द्वारा मनन किया गया है और (विण्णायं) विशेष रूप से जाना गया है । (समेमाणा) जो पुरुष मनुष्य आदि जन्मों में अत्यन्त आसक्त हैं और (पलेमाणा) मनोज्ञ इन्द्रियसुख में तल्लीन हो रहे हैं वे (पुणो पुणो) बारबार (जाइं) एकैन्द्रिय आदि जाति को (पक्कप्पंति) प्राप्त करते हैं ॥ १२८ ॥

भावार्थः—मनोज्ञ विषयो में राग और असनोज्ञ में द्वेष करना लोकैषणा कहलाती है । इस लोकैषणा के द्वारा जीव मोहित हो रहे हैं और इसी से प्रेरित होकर प्राणी नाना प्रकार के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं किन्तु जिस ज्ञानी मोक्षार्थी पुरुष ने इस लोकैषणा को ससारभ्रमण का कारण जान कर त्याग दिया है उसकी सावद्य कर्मों में कभी भी प्रवृत्ति नहीं होती है ।

गुरु शिष्य से कहते हैं कि हे शिष्य ! मैं जो कुछ यह कह रहा हूँ वह सर्वथा सत्य है क्योंकि केवलज्ञानियो ने केवलज्ञान के द्वारा इसे देखा है और उनके शिष्यों ने इसे श्रवण कर मनन किया है । अतः इस विषय में किसी प्रकार का सशय न करते हुए इसका यथार्थ रूप से पालन करना चाहिए ।

अहो य रात्रो य जयमाणे धीरे सया आगयपण्णणे पमस्से बहिया पास अप्पमत्ते सया परक्कमिज्जासि त्ति वेमि अन्वयार्थः—गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! तुम (अहो य रात्रो य) दिन रात (जयमाणे) मोक्ष का प्रयत्न करते हुए (सया) सदा (धीरे) धैर्यवान् और (आगयपण्णणे) विवेकवान् बनो । (पमस्से) प्रमादी पुरुष को अथवा परतीर्थियों को (बहिया) धर्म से बाहर (पास) समझो और तुम (अप्पमत्ते) प्रमाद रहित होकर सदा (परक्कमिज्जा) मोक्ष मार्ग में ही पराक्रम करो (त्ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १२६ ॥

भावार्थः—जो लोग प्रमादी हैं यानी धर्मोवरण से विमुक्त है उनका अनुकरण न करते हुए मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि निद्रा विकथा आदि प्रमादों से रहित होकर निरन्तर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे ॥

॥ इति प्रथम उद्देशक समाप्त

चौथे अध्ययन का दूसरा उद्देशक

पहले उद्देशक में सम्यक्त्व का वर्णन किया गया है। इस दूसरे उद्देशक में आस्रव और निर्जरा का वर्णन किया जाता है—
जे आस्रवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आस्रवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा, एए
पए संवुज्झमाणो लोयं य खाए अभिसमिच्च पढो पवेइयं ॥ १३० ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (आस्रवा) आस्रव हैं (ते) वे (परिस्सवा) परिश्रव यानी निर्जरा के स्थान हो सकते हैं। (जे) जो (परिस्सवा) परिश्रव यानी निर्जरा के स्थान हैं (ते) वे ही (आस्रवा) आश्रव के स्थान हो सकते हैं। (जे) जो (अणासवा) अनाश्रव यानी द्रव-विशेष हैं (ते) वे भी (अपरिस्सवा) कर्मबन्ध के कारण हो सकते हैं और (जे) जो (अपरिस्सवा) कर्मबन्ध के कारण हैं (ते) वे (अणासवा) अनाश्रव यानी कर्मबन्ध के कारण नहीं हो सकते हैं (एए) इन (एए) पदों को (संवुज्झमाणे) समझ कर (१) और (लोग) लोक को (आणाए) तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा से (अभिसमिच्च) जानकर और (पुढो) अलग-अलग (पवेइय) कहे हुए पदार्थों को जानकर कौन मनुष्य घर्माचरण न करेगा ? ॥ १३० ॥

भावार्थः—विषयलोलुप जीव अज्ञानवश जिन फूलमाला और सुन्दरी बियों को सुख का कारण समझते हैं वे उनके कर्मबन्ध के कारण होने से आश्रव हैं और तत्त्वदर्शी पुरुषों के लिए वे ही फूलमाला और स्त्री आदि परिश्रव यानी कर्मनिर्जरा के कारण हैं क्योंकि वे इन्हे निःसार जान कर त्याग देते हैं। अतः तत्त्वदर्शी पुरुषों को वैराग्य उत्पन्न करने के कारण वे पदार्थ कर्मनिर्जरा के कारण हो जाते हैं। इस प्रकार संसार के जितने पदार्थ हैं वे सभी अनेकान्त हैं यह दिखाते हुए इसी बात को उलट कर शास्त्रकार कहते हैं—

कि जो परिश्रव है वे ही आश्रव हो सकते हैं, अर्थात् सम्यग्दृष्टि तत्त्वदर्शी पुरुष के लिए जो कर्मनिर्जरा के स्थान हैं वे ही विपरीत बुद्ध मिथ्यादृष्टियों के लिए पाप के कारण हो जाते हैं ।

इसी विषय का निवेद्यदृष्टि से वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि 'जो अनाश्रव हैं वे अपरिश्रव हैं अर्थात् अनाश्रव यानी व्रत आदि यद्यपि कर्मनिर्जरा के कारण माने जाते हैं किन्तु कर्म के उदय से जिनका अध्यवसाय अशुभ है ऐसे लोगों के लिए अपरिश्रव यानी कर्मनिर्जरा के कारण नहीं होते हैं तथा जो परिश्रव यानी पापबन्ध के कारण माने जाते हैं वे कार्य सम्यग्दृष्टि पुरुषों के लिए निर्जरा के कारण हो सकते हैं । इस प्रकार ससार के जितने भी पदार्थ हैं वे सभी अनेक धर्मात्मक हैं ।

आघाद ग्राणी इह माणवाणां संसारपड्विगणाणां विगणाणपत्ताणां, अट्टा वि संता अट्टुवा पमत्ता अहा सञ्चमिणां ति वेमि, गणागमो मञ्चुमुहस्स अत्थि, इञ्छापणीया वंकाणिकेया कालगहिया णिचयणिविट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थः—(इह) इस जैन शासन में (संसारपड्विगणाणां) संसार को प्राप्त (सबुज्झमाणाण) धर्मोपदेश को समझ सकने वाले (विगणाणपत्ताण) विज्ञान को प्राप्त यानी पूर्ण पर्याप्तियों से युक्त (माणवाण) मनुष्यों के लिए (ग्राणी) सर्वज्ञ पुरुष (आघाद) धर्म का कथन करते हैं । हिताहित का विवेक रखने वाले पुरुष यदि किसी कारणवश (अट्टा वि संता) आर्त्त हो गये हों (अट्टुवा) अथवा (पमत्ता) विषयासक्ति के कारण प्रमत्त हो गये हों तो जिस प्रकार वे समझ सकें उसी तरह हानी पुरुष उपदेश देते हैं । श्री सुधर्मास्वामी फरमाते हैं कि (ति वेमि) मैं जो कह रहा हूँ या जो कहा है (इण) यह सब (अहासच्च) यथातथ्य-सत्य है । (मञ्चुमुहस्स) मृत्यु का (अणागमो) न आना (ए अत्थि) नहीं हो सकता है अर्थात् मृत्यु न आयेगी ऐसा कभी नहीं हो सकता । (इञ्छापणीया) इच्छा

नुसार विषय में प्रवृत्ति करने वाले पुरुष (वंकाशिक्या) असमय के घर हैं। (कालगहिया) वे बार बार काल के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। (शिवयणिविद्या) वे कर्मों का संग्रह करने में दत्तचित्त हैं। वे (पुढो पुढो जाइ) एकेन्द्रिय आदि अलग-अलग जन्मों को (पक्कयति) धारण करते रहते हैं ॥ १३१ ॥

भावार्थः—सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवान् ससार के समस्त पदार्थों को जानते और देखते हैं। वे ससार के प्राणियों को इस तरह उपदेश देते हैं जिससे वे हित की प्राप्ति और अहित का त्याग करने में समर्थ हो सकते हैं। शास्त्रकार फरमाते हैं कि मृत्यु के आने का कोई समय निश्चित नहीं है अतः धर्म कार्य करने में क्षण भर का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो हवइ, अहोववाइए फासे पडिसंयेयंति, चिहं कूरेहि कम्महि, चिहं परिचिहइ, अचिहं कूरेहि कम्महि, एगे चिहं परिचिहइ, एगे वयंति अदुवावि खाणी, खाणी वयंति अदुवा वि एगे ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थः—(इह) इस ससार में (एगेसिं) किन्हीं जीवों का (तत्थ तत्थ) उन उन स्थानों में (संथवो) परिचय (हवइ) होता है। वे (अहोववाइए) नरकादि दुःखा के (फासे) स्पर्श का (पडिसंयेयंति) अनुभव करते हैं। (चिहं) अत्यन्त (कूरेहि) क्रूर (कम्महि) कर्म करने वाला पुरुष (चिहं) अत्यन्त पीडाकारी स्थानों में (परिचिहइ) निवास करता है। जो पुरुष (अचिहं कूरेहि कम्महि) अत्यन्त क्रूर कर्म नहीं करता वह। (एगे चिहं परिचिहइ) नरकादि स्थानों में निवास नहीं करता है। (एगे) चौदह पूर्वधारी (वयति) ऐसा कहते हैं। (अदुवावि) अथवा (खाणी) केवलज्ञानी ऐसा कहते हैं। (अदुवावि) अथवा (खाणी) केवलज्ञानी (वयति) जैसा कहते हैं वैसा ही (एगे) श्रुतकेवली भी कहते हैं ॥ १३२ ॥

भावार्थः—केवलज्ञानी भगवान् अथवा चौदह पूर्वधारी श्रुतकेवली फरमाते हैं कि इन्द्रियों के वशीभूत पुरुष पाप कर्मों का फल

भोगने के लिए नरकादि नीच गतियों में बार बार जन्म धारण करते हैं और अत्यन्त दुःख भोगते हैं ।

आवंती केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयंति, से दिहुं य रो सुयं य रो मयं य रो विणायं य रो उड्डु अहे तिरियं दिसासु सन्वओ सुपडिलेहियं य रो, सन्वे पाणा, सन्वे जीवा, सन्वे भूया, सन्वे सत्ता, हंतन्वा अज्जावेयन्वा परियावेयन्वा परिघेत्तन्वा उद्देयन्वा, इत्थवि जाणह णत्थित्थ दोसो अणारियवयणमेयं, तत्थ जे ते आरिया ते एवं वयासी, से दुद्धिंय भे, दुस्सुयं य भे, दुम्मयं य भे, दुब्बिएणायं य भे, उड्डुं अहे तिरियं दिसासु सन्वओ दुप्पडिलेहियं य भे, जं णं तुन्ने एवमाइक्खह, एवं भासह, एवं पएणवेह, एवं परूवेह—सन्वे पाणा, सन्वे जीवा, सन्वे भूया, सन्वे सत्ता हंतन्वा अज्जावेयन्वा परियावेयन्वा परिघेत्तन्वा उद्देयन्वा, इत्थवि जाणह णत्थित्थ अणारियवयणमेयं । वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो एवं पएणवेमो एवं परूवेमो—सन्वे पाणा, सन्वे जीवा, सन्वे भूया, सन्वे सत्ता, ण हंतन्वा, ण अज्जावेयन्वा, ण परियावेयन्वा, ण परिघेत्तन्वा, ण उद्देयन्वा, इत्थवि जाणह णत्थित्थ दोसो आरियवयणमेयं; पुब्बं णिकायसमयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि, हं भो पावादुया किं भे सायं दुक्खं उदाहु असायं ? समिया पडिवरणो यावि एवं बूया—सन्वेसि पाणाणं सन्वेसि भूयाणं सन्वेसि जीवाणं सन्वेसि सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं सहभयं दुक्खं त्ति

मि ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थः—(लोयंसि) इस जगत् में (आवती) जितने (केयावंती) कितनेक (ममणा) श्रमण (य) और (माहणा) ब्राह्मण हैं वे (पुढो) अलग अलग (विवाय) विवाद अर्थात् परस्पर विरुद्ध अपना सिद्धान्त (वयंति) वतलाते हैं । (से) वे कहते हैं कि—(रो) हमने

या हमारे आचार्यों ने (दिष्ट) यह मत दिव्यज्ञान के द्वारा देखा है (य) तथा (ते) हमने (सुं) गुरु से सुना है (ते) हमारा यह सिद्धांत (मय) मनन किया हुआ है यानी युक्रियुक्त है। यह सिद्धान्त (ते) हमारे और हमारे गुरुओं द्वारा (विण्णाय) जाना हुआ है। (उद्ध) ऊपर (अहे) नीचे (य) और (तिरिय) तिरछी (दिसासु) दिशाओं में (सब्यओ) सब प्रकार से (सुण्डिलेहिय) विचार हुआ है कि (सब्वे) सब (पाणा) प्राणी (सब्वे) सब (जीवा) जीव (सब्वे) सब (भूया) भूत और (सब्वे) सब (सत्ता) सत्त्वों का (हतब्बा) हनन करना चाहिए (अज्जा-वेयब्बा) उन पर अनुशासन करना चाहिए (परियावेयब्बा) उन्हें परिताप देना चाहिए (परिघेतब्बा) कष्ट देना चाहिए, दासी आदि रूप से रखना चाहिए (उह्वेयब्बा) उन पर उपद्रव करना चाहिए (इत्यवि) इस विषय में (अत्थ) ऐसा (जाणह) जानना चाहिए कि धर्म के लिए की जाने वाली हिंसा में (दोसै) कोई दोष (गत्थि) नहीं है परन्तु (एय) यह (अणारियवयण) अनार्यों का सिद्धान्त है। (तत्थ) इस विषय में (ते) वे (जे) जो (आरिया) आर्य पुरुष हैं (ते) उन्होंने (एव) इस तरह (वयासी) कहा है कि (से) यह (मे) आप लोगों का सिद्धान्त (बुद्धि) बुरी तरह से देखा हुआ है (दुसुयं) बुरी तरह से सुना गया है (दुम्मय) बुरी तरह से मनन किया हुआ है (य) और (दुब्बिण्णायं) बुरी तरह से जाना हुआ है (उद्ध) ऊपर (अहे) नीचे (य) और (तिरिय) तिछी (दिसासु) दिशाओं में (सब्वओ) सब प्रकार से (सुण्डिलेहिय) बुरी तरह से देखा हुआ है (ज) जो (तुब्बे) तुम लोग (एव) इस प्रकार (आइक्खह) कहते हो (एव) इस प्रकार (भासह) भाषण करते हो (एवं) इस प्रकार (पह्वेह) प्रवृत्त करते हो और (एव) इस प्रकार (परणवेह) विज्ञापन करते हो कि (सब्वे) सब (पाणा) प्राणी (सब्वे) सब (जीवा) जीव (सब्वे) सब (भूया) भूत और (सब्वे) सब (सत्ता) सत्त्वों का (हतब्बा) हनन करना चाहिए (अज्जावेयब्बा) उन पर अनुशासन करना चाहिए (परियावेयब्बा) उन्हें परिताप देना चाहिए (परिघेराब्बा) कष्ट देना चाहिए,

दास दासी आदि रूप से रखना चाहिए (उद्देय्यत्वा) उन पर उपद्रव करना चाहिए क्योंकि (इत्य वि) इस विषय में (अत्य) ऐसा (जाणह) जानना चाहिए कि धर्म के लिए की जाने वाली हिंसा में (दोसो) कोई दोष (एतिय) नहीं है सो (एव) यह आपका कथन (अणारियवयण) अनार्यों का वचन है। (पुण) परन्तु (वय) हम लोग तो (एव) इस प्रकार (आइक्खामो) कहते हैं (एव) इस प्रकार (भासामो) भाषण करते हैं एवं इस प्रकार (पह्वेमो) प्ररूपण करते हैं (एव) इस प्रकार (पणवेमो) विष्वापन करते हैं कि (सब्बे) सब (पाणा) प्राणी (सब्बे) सब (जीवा) जीव (सब्बे) सब (सत्ता) सत्त्वों का (ए इतब्बा) हनन न करना चाहिए (ए अज्जवेय्यत्वा) उन पर अनुशासन न करना चाहिए (ए परियवेय्यत्वा) उन्हें परिताप न देना चाहिए, (ए परिघेताब्बा) उन्हें कष्ट न देना चाहिए और न दास दासी के रूप में रखना चाहिए (ए उद्देय्यत्वा) उन पर उपद्रव न करना चाहिए, (इत्यवि) इस अहिंसा रूप वचन में (दोसो) कोई दोष (एतिय) नहीं है (अत्य) ऐसा (जाणह) जानना चाहिए (एय) यह (आरियवयण) आर्य पुरुषों का वचन है। (पुब्ब) पहले (समय) उन परमतावलम्बियों के सिद्धांत की (णिकाय) व्यवस्था करके अर्थात् उनका सिद्धान्त बतला कर (परोयं पत्तेय) प्रत्येक के लिए (पुच्छिस्तामि) प्रश्न करूँगा। (हमो ! पवादुया) हे प्रवादुको ! (कि) क्या (दुक्ख) दुःख (मे) आप लोगों के (सायं) मन को प्रसन्न करने वाला है (उदाहु) अथवा (असायं) मन के प्रतिकूल है ? (समिया पडिवण्णे यावि) जब वे सम्यक् बात को स्वीकार करें अर्थात् यह कहे कि दुःख हमारे मन के प्रतिकूल है, दुःख हमें अभीष्ट नहीं है तब उन लोगों को (एव) इस प्रकार (व्या) कहना चाहिए कि जिस प्रकार आपको दुःख अप्रिय है उसी प्रकार (सब्बेसि) सब (पाणाणं) प्राणी (सब्बेसि) सब (भूयाणं) भूत (सब्बेसि) सब (जीवाणं) जीव और (सब्बेसि) सब (सत्ताणं) सत्त्वों के लिए (दुक्ख) दुःख (असायं) मन के प्रतिकूल है, अप्रिय है (अपरि-णिब्बाणं) आनन्द रहित है और (महब्भयं) महान् भयकारी है॥ (ति नेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १३३ ॥

नोटः—किसी किसी प्रति में 'ए परियायेयव्वा' के आगे 'ए फ़िलामेयव्वा' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ है — फ़िलामना न उपजानी चाहिए यानी कष्ट न देना चाहिए ।

भावार्थः—इस लोक में जितने दार्शनिक हैं वे सभी अपने-अपने दर्शन के अनुराग से भिन्न भिन्न मतों की स्थापना करते हैं । वे कहते हैं कि हमारे आगमों को बनाने वाले आचार्यों ने दिव्य ज्ञान के द्वारा इस धर्म को देखा है और युक्तिपूर्वक विचार एवं मनन किया है और अच्छी तरह जाना है कि धर्म के लिए जो हिंसा की जाती है उसमें कोई दोष नहीं है, उससे कोई पापबन्ध नहीं होता है । शास्त्रकार फ़रमाते हैं कि हे अन्यतीर्थियो ! तुम्हारा उपरोक्त वचन हिंसा का समर्थक होने के कारण पापानुबन्धी और अनार्य-प्रणीत है । हमारा धर्मानुकूल सिद्धान्त यह है कि—किसी भी प्राणी को हनन न करना चाहिए यावत् किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना चाहिए । आर्य पुरुषों ने हिंसा का प्रतिपेक्ष किया है अतः हिंसा में धर्म नहीं है । जिस प्रकार अपने को सुख अभीष्ट है, दुःख नहीं, उसी प्रकार जगत् के समस्त प्राणियों को सुख अभीष्ट है दुःख नहीं । अतः किसी भी प्राणी का हनन न करना चाहिए । प्राणी का हनन करने से पापबन्ध होता है । ऐसी दशा में प्राणी के वध का समर्थन करने वाला वचन अनार्यों का ही है, आर्य पुरुषों का नहीं है । अतः किसी भी प्राणी का हनन न करना चाहिए ।

॥ इति चौथे अध्ययन का दूसरा उद्देशक समाप्त ॥

पहले के उद्देशों में सम्यक्त्व, ज्ञान और विरति का कथन किया है। अब इस उद्देश में तप का वर्णन किया जाता है —

उवेहए णं वहिया य लोगं, से सव्वलोगम्मि जे केइ विएणू, अणुवीइ पास शिक्खित्तदंडा, ने केइ सत्ता पलियं चयंति, एरा मुयन्चा धम्मविउत्ति अंजू, आरंभजं दुक्खमिणं ति शन्चा, एवमाहु सम्मत्तदंसिणो, ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिणमुदाहरंति इय कम्मं परिणाय सव्वसो ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थः—(वहिया लोग) जो लोग धर्म से वहिर्भूत है उन अन्यतीर्थियों की (उवेहए) उपेक्षा करो। (जे केइ) जो धार्मिक अन्यतीर्थियों की उपेक्षा करता है (से) वह (सव्वलोगम्मि—सव्वलोगसि) समस्त लोक में (विएणू) सब विद्वानों में उत्तम है। (शिक्खित्तदंडा) जो मन, वचन, काया से प्राणियों को दण्ड नहीं देते है वे ही जगत् में विद्वान् हैं (अणुवीइ) ऐसा विचार कर (पास) देखो। (जे केइ सत्ता) प्राणियों को दण्ड देने से निवृत्त हुए जो पुरुष (पलिय) अष्ट प्रकार के कर्मों का (वयति) त्याग करते हैं वे विद्वान् हैं। (मुयन्चा) मृतक शरीर की तरह जो अपने शरीर का संस्कार नहीं करते हैं (एरा) वे मनुष्य (धम्मविउत्ति) धर्म के ज्ञाता और (अंजू) सरल हैं। (इण) यह (दुक्ख) दुःख (आरंभज) आरम्भ से उत्पन्न होता है ऐसा (शन्चा) जान कर विवेकी पुरुष शरीर का संस्कार नहीं करते है (सम्मत्तदंसिणो) सम्यक्त्वदर्शी पुरुष (एव) ऐसा (आहु) कहते हैं। (दुक्खस्स कुसला) दुःख का नाश करने में कुशल (ते) वे (सव्वे) सब (पावाइया) उत्कृष्ट वक्ता पुरुष (परिणं) सावद्य कर्मों के प्रत्याख्यान की शिक्षा (उदाहरति) देते हैं। (इय) इस तरह

(सम्बन्ध) सब प्रकार से (कर्म) कर्म को (परिणाम) जान कर विद्वान् पुरुष उसके प्रत्याख्यान का उपदेश करते हैं ॥ १३४ ॥

भावार्थ:—शास्त्रकार कहते हैं कि जिन परपाखण्डियों का वर्णन पहले किया जा चुका है उनके साथ परिचय आदि भी न करना चाहिए। जो पुरुष परपाखण्डियों को और अनार्यों के पूर्वोक्तवचनों को जान कर उनकी उपेक्षा करता है वह विद्वानो में श्रेष्ठ गिना जाता है। जो पुरुष मन, वचन और काया से किसी प्राणी को दण्ड नहीं देता और शरीरसंस्कार से भी निवृत्त हो जाता है वह विद्वान् पुरुष आठ कर्मों का त्याग कर मोक्ष प्राप्त करता है ॥

इह आणाकंखी पंडिए अण्हि, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं, जहा जुएणाइं कड्डां हव्ववाहो पमत्थइ एवं अत्तसमाहिए अण्हि, विगिंच कोहं अविकंपमाणे ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थ:—(इह) इस जैन शासन में (आणाकंखी) जो पुरुष तीर्थंकर की आज्ञा का अनुसरण करता है वह (पंडिए) पंडित है और वह (अण्हि) कर्मों से लिप्त नहीं होता है। शास्त्रकार फरमाते हैं कि (अप्पाण) आत्मा को (एण) अकेला (सपेहाए) जान कर (सरीर) शरीर को (धुणे) धुन डालो (अप्पाण) अपने शरीर को (कसेहि) कुश करो (अप्पाण) अपने शरीर को (जरेहि) जीर्ण करो। (जहा) जिस प्रकार (जुएणाइं) जीर्ण (कड्डां) काष्ठ को (हव्ववाहो) अग्नि (पमत्थइ) जला डालती है (एव) उसी प्रकार (अत्तसमाहिए) आत्मसमाधि वाला अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र्य में सदा उपयोग रखने वाला (अण्हि) रागद्वेष रहित पुरुष (अविकंपमाणे) कम्प रहित होकर और (कोह) क्रोध कपय को (विगिंच) नष्ट करके कर्मरूपी काष्ठ को जला डालता है ॥ १३५ ॥

भावार्थ:—जो पुरुष तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार आचरण करता है वह परिणत है और वह कर्मों से लिप्त नहीं

होता है। शास्त्रकार फरमाते हैं कि यह आत्मा अकेला है। इसे ऐसा विचार करना चाहिए कि—मैं सदा ही अकेला हूँ, मेरा कोई भी नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ। इस जगत् में प्राणी अकेला ही कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है। अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है तथा अकेला ही परलोक में जाता है। इसलिए तप के द्वारा इस शरीर को कृश एवं जीर्ण कर डालो। जिस प्रकार सूखे हुए काठ को अग्नि शीघ्र ही जला डालती है इसी तरह जो पुरुष ज्ञान दर्शन चारित्र्य में सदा उपयोग रखता है तथा रागद्वेष को त्याग देता है वह तप रूपी अग्नि के द्वारा शीघ्र ही कर्म रूपी काष्ठ को जला देता है ॥

इमं शिरुद्धाउयं संपेहाए, दुबखं य जाण अटु आगमेस्सं, पुढो फासाइं य फासे, लोयं य पास विफंदमाणं, जे शिन्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया, तम्हा अइविज्जो णो पडिसंजलिज्जासि चिचेमि ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार फरमाते हैं कि (शिरुद्धाउय) क्रोध मनुष्य की आयु का नाश करता है (इम) यह (सपेहाए) जानकर उसका त्याग करो। (य) और क्रोध करने से मनुष्य को जो (दुक्ख) मानसिक दुःख उत्पन्न होता है उसको भी (जाण) जानो (अटु) और (आगमेस्सं) क्रोध करने से जो आगामी काल में दुःख उत्पन्न होता है उसे जान कर क्रोध का त्याग करो। क्रोध करने से जीव (पुढो) भिन्न भिन्न (फासाइ) स्पर्शों को यानी दुःखों को (फासे) प्राप्त करता है। क्रोध के कारण शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित होकर उसका प्रतीकार करने के लिए (विफंदमाण) इधर उधर दौड़ते हुए (लोय) लोगों को (पास) देखो (जे) जो (पावेहिं) पाप (कम्मेहिं) कर्मों से (शिन्वुडा) निवृत्त हैं (य) और तीर्थंकर भगवान् के उपदेश से शान्त हैं (ते) वे (अणियाणा) नियाणा रहित परम-सुखी (वियाहिया) कहे गये हैं (तम्हा) इसलिए (अइविज्जो) शास्त्र के रहस्य को जानने वाला होकर (णो पडिसंजलिज्जासि) क्रोध से

(आयाण्जिजे) आदिय यानी ग्रहण करने योग्य वचन वाला (व्याहिए) कहा गया है और (ले) जो (बंभचर्यसि) ब्रह्मचर्य में (वसिता) निवास करता हुआ (समुत्सयं) शरीर को (धुणाह) कुश कर डालता है, वह पुरुष ब्राह्म वचन वाला होता है ॥ १३७ ॥

भावार्थ:—धन धान्य तथा कलत्रादि के पूर्व संयोग को एव असयम को त्याग कर और समय को स्वीकार करके नवदीक्षित मुनि पहले तपस्या द्वारा शरीर को थोड़ा पीडित करे, फिर विशेष पीडित करे और अन्तिम समय में शरीर को त्यागने की इच्छा करता हुआ साधु मासत्तपण और अर्द्धमासत्तपण आदि के द्वारा शरीर को निश्चय हो पीडित करे। सासारिक भोग विलासों से तथा अरति से संयम को हटा कर कर्मों का विनाश करने में समर्थ वीर नेने और जीघन पर्यन्त शुद्ध समय के पालन में रत रहे तथा ब्राह्मचर्य व्रत में सम्यक् निवास करता हुआ तपस्वी मुनि अपने शरीर और कर्मों को कुश करे ॥

शित्तेहि पलिच्छिएणेहि आयाणसोयगडिह चाले, अब्बोच्छिएणनंधणे अणभिककंसजोए तमंसि अवियाणओ आणाए लंभो एत्थि त्ति वेमि ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थ:—(चाले) अशानी जीव (शित्तेहि) नेत्र आदि इन्द्रियों को (पलिच्छिएणेहि) अपने अपने विषयों से रोक कर भी (आयाणसोयगडिह) फिर विषयभोग में आसक्त हो जाता है। (अब्बोच्छिएणनंधणे) वह कर्मवन्धन का छेदन नहीं कर सकता है तथा (अणभिककंसजोए) संयोगों का उल्लघन भी नहीं कर सकता है। (तमंसि) मोह रूपी अन्धकार में पड़े हुए और (अवियाणओ) कल्याण के मार्ग को न जानने वाले उस पुरुष को (आणाए) तीर्थंकर भगवान् की आश्ला का (लंभो) लाभ (एत्थि) नहीं होता है (त्तिवेमि) यह मैं कहता हूँ ॥ १३८ ॥

भावार्थ:—कितनेक अशानी जीव इन्द्रियों का निरोध करके भी मोह के उदय से फिर विषयभोग में आसक्त बन जाते हैं। ने

कर्मबन्धन का छेदन करने वाले और असयम तथा धन, धान्य, पुत्र कलत्रादि के सम्बन्ध को त्यागने वाले नहीं होते हैं। वे अपने कल्याण को अथवा मोक्ष के उपाय को नहीं जानते हैं। अतः ऐसे पुरुषों को तीर्थंकर भगवान की आज्ञा का तथा बोधि का लाभ नहीं होता है ॥

जस्स एत्थि पुरा पच्छा मज्जे तस्स कुओ सिया ? से हु पण्णाणमंते बुद्धे आरंभोवरए, सम्ममेयंति पासह, जेण वंधं वहं घोरं परियावंगं दारुणं पलिच्छिदिय वाहिरंगं य सोयं णिक्कम्मदंसी इह मच्चिण्हि; कम्माणं सफलं दड्डूण तओ णिज्जाइ वेयवी ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थः—(जस्स) जिसको (पुरा) पूर्वभ्रम में बोधि का लाभ नहीं हुआ है और (पच्छा) आगामी काल में भी होने वाला नहीं है (तस्स) उसको (मज्जे) मध्य में अर्थात् वर्तमान में (कुओ) कहा से (सिया) हो सकता है ? (आरंभोवरए) जो पुरुष सावद्य आरम्भ से निवृत्त हो गया है (से) वही (हु) वास्तव में (पण्णाणमते) उत्तम ज्ञानी है और (बुद्धे) तत्त्व को जानने वाला है (एवं) यह (सम्म) सत्य है (इह) ऐसा (पासह) देखो यानी जानो। (जेण) क्योंकि सावद्य आरम्भ करने वाला पुरुष (वर) बन्ध (वह) बंध (घोर) घोर (परियाव) परिताप (य) और (दारुण) दारुण दुःखों को प्राप्त करता है। (इह) इस संसार में (मच्चिण्हि) मनुष्यों के मध्य में (वाहिरंग) बाह्य (य) और आभ्यन्तर (सोय) स्त्रोत का (पलिच्छिदिय) छेदन करके विचरता है वह (णिक्कम्मदसी) मोक्षदर्शी है। (कम्माण) कर्मों की (सफल) सफलता को (दड्डूण) देख कर (वेयवी) वेदज्ञ यानी आगमों के रहस्य को जानने वाला पुरुष (तओ) आश्रवों से (णिज्जाइ) बाहर निकल जाता है अर्थात् आश्रवों का त्याग कर देता है ॥ १३६ ॥

भावार्थः—मिथ्यात्व, प्रमाद, अविरति आदि के कारण जिस पुरुष को पूर्वभ्रम में सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है तथा

आगामी काल में भी होने वाली नहीं है उसको वर्तमान में भी सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् जिस जीव को पूर्वभवे में सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है या आगामी जन्म में होने वाली है उसी को वर्तमान समय में सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है । जिसने सम्यक्त्व की प्राप्ति कर ली है किन्तु फिर मिथ्यात्व के उदय से सम्यक्त्व से पतित हो गया है उसको अर्द्धपुद्गल परावर्तन में फिर सम्यक्त्व की प्राप्ति अवश्य हो जानी है ।

अथवा—जो पुरुष विषयभोग के कङ्कण परिणाम को जान कर पहले भोगे हुए कामभोगों का स्मरण नहीं करना तथा भविष्य में भी विषयभोग की इच्छा नहीं रखता उसको वर्तमान काल में भी भोगों की इच्छा कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं होती ।

जो पुरुष सावय आरम्भ का त्याग कर देता है वह उत्तम ज्ञानी है क्योंकि सावय आरम्भ करने वाला जीव नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुर्गों से पीड़ित होता है । जो कर्म क्रिये जाने हैं उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है ऐसा जान कर त्रिविकी पुरुष कर्मबन्ध के कारणभूत आश्रयों से सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं ॥

जे खलु मो ! वीरा ते समिया संहिया सया जया संघडंदसिणो आओवरया अहातहा लोयं उवेहमाणा पाईणं पडीणं दाहिणं उईणं इयं सत्त्वंसि परिचिद्धिसु, साहिस्सामो णाणं वीराणं समियाणं संहियाणं सयाजयाणं संघडंदसीणं आओवरयाणं अहातहा लोयं समुवेहमाणाणं, किमत्थि उवाही पासगस्स णं विउज्जइ ऽ णत्थि चिन्नेमि ॥ १४० ॥

अन्यथार्थः—गुरु महाराज कहते हैं कि (ओ) हे शिष्य ! (खलु) निश्चय ही (ले) जो (ते) वे (समिया) समिति, युक्त (संहिया) ज्ञानादि सहित (सया) सदा (जया) यतना वाले (सघडंदसिणो) निरन्तर शुभ और अशुभ को देखने वाले (आओवरया) पाप कर्म से निवृत्त तथा (वीरा) कर्मों को विदारण करने में समर्थ (लोय) लोक के (अहातहा) मथार्थ स्वरूप को (उवेहमाणा) देखने वाले (पाईणं)

पूर्व (पडीण) पश्चिम (दाहिण) दक्षिण और (उर्दण) उत्तर दिशा में (इय सत्त्वसि परिचिद्धि) निवास करते हुए संयम में स्थित रहते थे । (समियाण) उन समिति युक्त (सहियाण) ज्ञानादि सहित (सया) सदा (जयाण) यतना पूर्वक रहने वाले (सघडसीण) निरन्तर शुभाशुभ को देखने वाले (आओययाण) पाप कर्म से निवृत्त (लोय) लोक के (अहातहा) यथार्थ स्वरूप को (समुवेहमाणाण-समुवेहमाणाण) शुभ को देखने वाले (वीराण) कर्मों को विदारण करने में समर्थ वीर, पुरुषों के (णाण) ज्ञान को (साहिस्साओ) कहेंगे, सो तुम सुनो । (कि) देखने वाले (पासगस्स) समय क् अर्थ को जानने वाले ज्ञानवान् पुरुष को (उवाही) कर्मजनित उपाधि (अत्थि) प्राप्त होती है या (एत्थि) नहीं होती ? (ए विज्जइ) नहीं होती है (ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १४० ॥

भावार्थ:—तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाले, पाच समिति तीन गुप्ति से युक्त, ज्ञानादि गुणों सहित, पापकर्म से निवृत्त, सदा यतना पूर्वक आहार विहारादि क्रिया करने वाले मुनीश्वर अतीत काल में अनन्त हो चुके हैं और भविष्यत् काल में भी अनन्त होंगे तथा वर्तमान काल में पन्द्रह कर्मभूमियों में सख्येय विद्यमान हैं उन पुरुषों के ज्ञान को मैं कहता हूँ कि ऐसे निरवयव तप और चारित्र्य का पालन करने वाले मुनियों को कर्मजनित उपाधि प्राप्त नहीं होती है किन्तु वे तो अपने समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं ॥

॥ इति त्रैथे अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

लोकसार नामक पांचवां अध्ययन

पांचवें अध्ययन का प्रथम उद्देशक

अ० पा०
प्र० उ०
१४०

चौथे अध्ययन में सम्यग्त्व और उसके अन्तर्गत ज्ञान का कथन किया गया है। सम्यक्त्व और ज्ञान का फल चारित्र है और चारित्र ही मोक्ष का प्रधान कारण है और लोक में सागभूत है। अतएव इस पांचवें अध्ययन का नाम लोकसार है और इसमें चारित्र का वर्णन किया गया है:—

आवंती केयावंती लोयंसि विप्परासुसंति अट्ठाए, एएसु चेव विप्परासुसंति, गुरु से कामा, तओ से मारस्स अंतो, जओ से मारस्स अंतो तओ से दूरे, खेव स अंतो खेव से दूरे ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थ:—(लोयसि) इस लोक में (आवंती-यावंती) जो (केआवंती) कोई मनुष्य (अट्ठाए) अर्थ से यानी प्रयोजन से या (अणट्ठाए) अनर्थ से यानी बिना प्रयोजन से (विप्परासुसति) प्राणियों की घात करते हैं। (एएसु चेव) वे उन्हीं प्राणियों में, (विप्परासुसति) जन्म धारण करते हैं अर्थात् उन्हीं योनियों में उत्पन्न होते हैं। (से) उन आत्मा की जीवों के लिए (कामा) कामभोगों, का त्याग करना (गुरु) बड़ा कठिन है। (तओ) इस कारण (से) वह (मारस्स अतो-मारतो) मृत्यु के अन्दर है (तओ) इसलिए (से) वह (दूरे) मोक्ष के उपाय से दूर है। (से) वह (अतो) विषय सुख के अन्दर भी (खेव) नहीं है और (से) वह (दूरे) विषय सुख से दूर भी (खेव) नहीं है ॥ १४१ ॥

भावार्थः—इस संसार में अज्ञानी जीव अपने प्रयोजन के लिए अथवा निष्प्रयोजन ही नाना प्रकार से हिंसा करते हैं और उस पाप कर्म का फल भोगने के लिए छः जीवनिकाय की नाना योनियों में उत्पन्न होते रहते हैं। अज्ञानी जीव कामभोगों को नहीं छोड़ता है और जब तक कामभोगों को नहीं छोड़ता है तब तक वह जन्म, जरा, मरण और रोग शोक से पीड़ित होकर सुख से सदा दूर रहता है। वह पूर्ण रूप से विषयसुख को भी नहीं भोग सकता है और विषयभोग की इच्छा बनी रहने के कारण वह विषयों का त्यागी नहीं कहा जा सकता है ॥

से पासइ फुसियमिव कुसगे पणुएणं खिवइयं वाएरियं, एवं बालस्स जीवियं मंदस्स अविआणओ, कूराइं कम्मइं
वाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ, मोहेण गब्भं मरणाइ एइ, एत्थ मोहे पुणो पुणो ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह पुरुष (वृक्ष) कुश के अग्रभाग में (पणुएण) हिलते हुए (वाएरिय) पवन से प्रेरित (खिवइयं) पतित होते हुए (फुसियमिव) जल बिन्दु के सदृश (मदस्स) मन्द (अविआणओ) अज्ञानी (बालस्स) बाल के (जीविय) जीवन को (पासइ) देखता है। (मूढे) मूर्ख (वाले) बाल जीव (कूराइं) क्रूर (कम्मइ) कर्म (पकुव्वमाणे) करता हुआ (तेण) उस (दुक्खेण) दुःख से (विप्परियास) विपर्ययास यानी दुःख को (उवेइ) प्राप्त करता है (मोहेण) मोह से (गब्भं) गर्भ और (मरणाइ) मरण आदि को (एइ) प्राप्त करता है। वह (पुणो पुणो) बार बार (एत्थ मोहे) इस मोहमय अनादि अनन्त संसार में परिभ्रमण करता रहता है ॥ १४२ ॥

भावार्थः—जिसका मिथ्यात्व हट गया है और सम्यक्त्व की प्राप्ति से जिसने संसार के सार को जान लिया है वह ज्ञानी पुरुष मनुष्य के जीवन को कुश के अग्रभाग में लटकते हुए पवन से कम्पित जलबिन्दु की तरह समझता है किन्तु वास्तविक ज्ञान से

रहित बाल अज्ञानी जीव ऐसा नहीं जानते हैं। वे इस अल्प एव तुच्छ जीवन के लिए नाना प्रकार से पाप कर्म का बन्ध कर इस अनादि अनन्त ससार में परिभ्रमण करते रहते हैं ॥

संसर्ग परियाणओ संसारे परिण्णाए भवइ, संसर्ग अपरियाणओ संसारे अपरिण्णाए भवइ ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थः—(सस्य) संशय को (परियाणओ) जानने वाले पुरुष के द्वारा (ससारे) संसार (परिण्णाए भवइ) जाना जाता है और (सस्य) संशय को (अपरियाणओ) न जानने वाले पुरुष के द्वारा (ससारे) संसार (अपरिण्णाए भवइ) ज्ञात नहीं होता है ॥ १४३ ॥

भावार्थः—सशय दो प्रकार का है, अर्थसशय और अनर्थसशय। मोक्ष और मोक्ष का उपाय अर्थ है। मोक्ष परमपद कहा गया है अतः उसमें सशय नहीं हो सकता। मोक्ष के उपाय में सशय हो सकता है फिर भी मनुष्य की उसमें प्रवृत्ति होती है क्योंकि पदार्थ का सशय भी प्रवृत्ति का कारण होता है। ससार और उसका कारण अनर्थ है उनके मशय से भी उनसे निवृत्ति होती है क्योंकि अनर्थ का सशय भी निवृत्ति का कारण होता है। अतः जो मनुष्य अर्थ और अनर्थ के सशय को जानता है उसकी हेय यानी त्यागने योग्य पदार्थ से निवृत्ति और उपादेय यानी ग्रहण करने योग्य पदार्थ में प्रवृत्ति हो सकती है और जिसको अर्थ अनर्थ का सशय नहीं होता उसकी हेय और उपादेय में निवृत्ति और प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ॥

जे छेए से सागारियं ण सेवए, कट्टु एवमवियाणओ विइया मंदस्स बालया, लद्धा हुत्था पडिलेहाए आगमिच्चा आणविज्जा अणासेवणयाए त्ति वेमि ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो पुरुष (छेए) निपुण-विद्वान् है (से) वह (सागारिय) मैथुन (ण सेवए) सेवन नहीं करता है। जो अज्ञानी (एव कट्टु) मैथुन सेवन करके (अवियाणओ) गुरु के सामने अपने कुरुत्तय का निवेदन नहीं करता है (मदस्स) उस भूख की

(विद्या) दूसरी (बाल्या) मूर्खता है। (हु) निश्चय ही (लब्धा) प्राप्त हुए (अर्था) कामभोगों की भी (पाउलेहाए) उनके फल को सोच कर और (आगमिता) उन्हें दुःखदायी जान कर (अणसेवणयाए—अणसेवणाए) स्वयं उनका सेवन न करे और (आणविज्जा) दूसरों को भी सेवन करने की आज्ञा न देवे (त्ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १४४ ॥

भावार्थः—पुण्य पापादि के स्वरूप को जानने वाला विद्वान् पुरुष मैथुन का सेवन नहीं करता है। जो पामत्या आदि मोह-नीय कर्म के उदय से मैथुन सेवन करता है और अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए गुरु के पूछने पर झूठ बोलता है एवं अपने कुकृत्य को छिपाता है वह मूर्ख यह दूसरी मूर्खता करता है क्योंकि मैथुन सेवन करना पहली मूर्खता है और झूठ बोलना दूसरी मूर्खता है। अतः विवेकी पुरुष को चाहिए कि कामभोगों के बुरे फल को विचार कर प्राप्त हुए कामभोगों का भी सेवन न करे और दूसरों को भी सेवन करने की आज्ञा न देवे।

पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे, एत्थ फासे पुणो पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी, एत्थ वि बाले परिपच्चमाणे रमइ पावेहि कम्महिं, असरणे सरणंति मरणमाणे, इहमेगेसिं एगचरिया भवइ, से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाए बहुलोभे बहुरए बहुण्डे बहुमढे बहुसंकप्पे आसवसक्की पलिउच्छण्णे उट्टियवायं पवयमाणे, मा मे केइ अदक्खू अण्णणपमायदोसेणं, सययं मूढे धम्मं णाभिजाणइ, अट्ठा पया माणव ! कम्मकोविया जे अणुवरया अविज्जाए पलिमुखमाहु आवट्टमेव अणुपरियट्ठंति त्ति वेमि ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थः—(ल्वेसु) रूप आदि विषयों में (गिद्धे) आसक्त पुरुषों को (परिणिज्जमाणे) नरक आदि यातना स्थानों में जाते हुए (पासह) देखो। इन्द्रियवशीभूत वे पुरुष (पुणो पुणो) बारबार (इत्थ) इस संसार में (फासे) स्वर्णों का अनुभव करते हैं यानी

दुःख भोगते हैं। (तपसि) इस लोक में (आवती) जितने (व्यावृत्ति) कोई (आरंभजीवी) आरम्भ से जीने वाले प्राणी हैं वे सभी दुःख के भागी होते हैं (चेत) और (एषु) सायथ आरम्भ करने में प्रवृत्त इन गृहस्थों में शरीरनिर्वाह के लिए रहने वाले (आरंभजीवी) आरम्भ से जीने वाले अन्यतीर्थिक और पार्श्वस्थ आदि भी पूर्वोक्त दुःख के भागी होते हैं। (इत्यपि) इस आर्हतमतोक्त संयम को स्वीकार करके भी (गले) रागद्वेष से क्लुपित निश्चिन्ता वाला आत्मा (परिस्त्रमाणे) विषय तृष्णा से सन्तप्त होता हुआ (पावेहि) पाप (स्मदि) कर्मों में (रगद) रमण करता है। (अगले) अशरण को यानी सावय आरम्भ शरण रूप नहीं है फिर भी उसको (गल-ति) शरण (मणमाणे) मानता हुआ आत्मा उसका सेवन करता है। (इह) इस जगत् में (गोभि) कोई (एगारिया भवद) अकेले विचरते हैं परन्तु (गे) वे (गुहो) बहुत क्रोधी (गुमाणे) बहुत मायी (गुमाणे) बहुत लोभी (गुरुर) पाप कर्म में बहुत रत रहने वाले अथवा बहुत रज यानी पाप वाले (गुमडे) जगत् को ठगने के लिए नट की तरह प्रत्येक रूप धारण करने वाले (गुमडे) अत्यन्त शठ (गुमरुणे) बहुत संकल्प वाले (आमागम्भी—आमागमा) हिंसादि आशयों में आसक्त और (पलिउन्गणे) कर्मों से ढके हुए होते हैं। (उद्वियाय) वे अपने आपको प्रवज्याधारी (वयमाणे) कहते हुए भी पापकर्म करते हैं। (अणायपमाय-दोषेण) आदान और प्रमाद के दोष से (मे) मुझको (मिद) कोई (मा अस्मा) खेल न लेवे इस शका से छिप कर पाप कर्म करने हैं (सयय गूडे) वे अत्यन्त मूढ़ (धम्म) धर्म को (णागिजाणइ) नहीं जानते हैं। (माणा) हे भगवन्! (पया) प्रजा वर्ग यानी सब प्राणी (अद्या) विषय और कर्मागों में आर्त्त-दुःखी हैं। (ग्ममोत्तिगा) वे कर्म पांघरने में निपुण हैं यानी ग्राह कर्मवन्ध करते हैं। (अ) जो पुरुष (अणुवरया) पाप से निवृत्त न होकर (अग्गजाण) अनिया से (पलिमा) मोक्ष (आहु) बतलाते हैं। वे (आयमेव) संसार रूपी भँवर में ही (अणुपरियट्ठि) भ्रमण करते रहते हैं। (ति येमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १४५ ॥

नोट — किसी प्रति में 'इत्थ फासे पुणो पुणो' के स्थान पर 'इत्थ मोहे पुणो पुणो' ऐसा पाठ है । जिसका अर्थ है — विषयासक्त पुरुष इस मोहमय ससार में अथवा चारित्रमोह में बारबार पड़ा रहता है ।

भावार्थ:—आरम्भ से जीवननिर्वाह करने वाले विषयलोलुपी पुरुष विषयो में आसक्त होकर नाना प्रकार से शारीरिक और मानसिक दुःख उठाते हैं और नरकादि गतियों में जाते हैं । कितनेक पुरुष सयम स्वीकार करके भी फिर मोहोदय से विषय पिपासा से आकुल चित्त वाले होकर सावद्य कर्मों में प्रवृत्ति करते हैं और कितनेक पुरुष उन सावद्य अनुष्ठानों को ही अपना शरण मानते हैं । किन्तु यह उनकी अज्ञानता है । कितनेक पाखण्डी लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए साधु का वेप पहन कर अकेले विचरते हैं । वे अत्यन्त क्रोधी, मानी, मायी और लोभी होते हैं । वे सदा शक्ति रहते हैं कि—मुझको पाप कर्म करते हुए कोई देख न ले । वे अज्ञान और प्रमाद के वशीभूत होकर छिप कर पाप पाप कर्म करते हैं जिससे कर्मबन्ध कर वे कर्मों से भारी होते हैं । ऐसे पुरुष बारबार संसारचक्र में घूमते हुए नरकादि गतियों को प्राप्त करते हैं ॥

॥ इति पाँचवें अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

पाँचवें अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

अ० पा०
द्वि० उ०
१४६

प्रथम उद्देशक में जिनाज्ञा से विरुद्ध अकेला विचरने वाला मुनि नहीं है गृह धतलाया गया है। “जिस तरह मुनिभाव प्राप्त किया जाता है” वह इस उद्देशक में धतलाया जाता है —

आवंती केयावंती लोयंसि अणारंभजीविणो एएसु चव अणारंभजीविणो, एत्थोमए तं भोसमाणे, अयं संघीत्ति अदक्खु, जे इसस्स विग्गहस्स अयं सणे त्ति अएणेसी एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, उट्ठिए खो पमायए, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं पुढो छंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेइयं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुढो फामे विप्पणोन्लए ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थः—(लोयसि-लोए) लोक में (आवनी) जितने (केयावती) कोई (अणारंभजीविणो) अनारंभजीनी प्रार्थीत् आरंभ के त्यागी पुरुष हैं वे (एसु चव) गृहस्थों के घर से निर्दोष आहारादि लेकर (अणारंभजीविणो) अनारंभ से ही अग्रने शरीर का निर्वाह करते हुए संयमजीवन से जीते हैं। (एत्थोमए) सावय आरंभ से निवृत्त और (तं) कर्मों का (भोगमाणे) श्रय करता हुआ पुरुष मुनिभाव को प्राप्त होता है। (अय) यही (सगी ति) जन्मर है ऐसा (अस्स) विद्वानों ने देखा है। (ते) जो पुरुष (इमग्ग) इस (विग्गहस्स) शरीर का (अय) यही (राणे ति) क्षण—अनन्तर है ऐसा (अणणेमा-मणोसी) अन्वेषण करता है एवं मानता है वह प्रमाद नहीं करता है (एस) यह (मग्गे) मार्ग (आरिएहिं) आर्य पुरुषों ने (पेएण) कहा है। (उट्ठिए) धर्माचरण करने के लिए तत्पर पुरुष (पत्तेय) प्रत्येक प्राणियों के (साय) सुप्त (दस्स) दुःख को (जाणित्तु) अन्तर्गत जान कर (णो पमायए) प्रमाद न करे। (इह) इस जगत् में

(माणवा) मनुष्यों के (पुंडो) भिन्न भिन्न (छदा) अभिप्राय होते हैं और (दुस्स) उनका दुःख भी (पुंडो) भिन्न भिन्न (पवेइय) कहा गया है । (से) वह अनारम्भजीवी पुरुष (अविहिंसमाणे) प्राणियों की हिंसा न करता हुआ और (अणवयमाणे) भूठ न चोलता हुआ (फासे) शीत उष्ण आदि परीषहों का (पुंडो) स्पर्श पाकर अर्थात् परीषहों के आने पर (विष्णोऽल्लो-विष्णुण्णए) उन्हें समभावपूर्वक सहन करे ॥ १४६ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार जल में रहता हुआ भी कमल जल से लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार सावद्य आरम्भ में प्रवृत्त गृहस्थो के आश्रय में रह कर देह की रक्षा के लिए आरम्भ न करते हुए पञ्चमहाव्रतधारी साधु पाप में लिप्त नहीं होते हैं ।

विवेकी पुरुष को विचारना चाहिए कि—आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल में उत्पत्ति, सम्पूर्ण इन्द्रियों से सम्पन्नता, श्रद्धा और सवेगरूप अवसर प्राप्त होना बड़ा ही दुर्लभ है । अतः इन्हें प्राप्त करके क्षण भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

प्रत्येक प्राणी के सुख दुःख और अभिप्राय भिन्न भिन्न है यह जानने वाला और बिना आरम्भ के जीविका करने वाला विवेका पुरुष प्राणियों की हिंसा न करता हुआ और मिथ्याभाषण तथा अत्तादान आदि का त्याग करता हुआ पञ्चमहाव्रतो का पालन करे और पञ्चमहाव्रतो का पालन करते हुए जो परीषह उपसर्ग आवें उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे ॥

एस समिया परियाए वियाहिए, जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति, इइ उदाहु धीरे ते फामे पुंडो अहियासए, से पुण्विपेयं पच्छापेयं, भेउरधम्मं विट्ठंसणधम्ममधुवं अण्हियं असासयं, चयाचइयं विप्परिणामधम्मं, पासह एयं रुवसंधि ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थः—(एय) यह पुरुष (समिया परियाए) सम्यक् पर्याय वाला (वियाहिए) कहा गया है। (अ) जो पुरुष (गावेदि कम्मेदि) पाप कर्मों में (असमा) आसक्त नहीं है (उदाह) यदि कदाचित् (ले) उनको (आयंका) रोग (कुसंति) स्पर्श करें तो (गोरे) धीरे पुरुषों ने (इह) ऐसा (उदाह) कहा है कि (ले) उन (फागे) रोगों के (पुओ) स्पर्श करने पर उस कष्ट को (अदिगाएए) समभाव पूर्वक सहन करे। (से) वह यह सोने कि (पुट्टियेयं) पहलते भी यह मुझको ही भोगना होगा और (गव्वाणेय) पीछे भी मुझे ही भोगना पड़ेगा। (गेवर-भम्म) यह ध्यौरारिक शरीर स्वयमेव निरीज होने वाला है (किंमंगणम्म) तिष्ठम होने वाला है (कप्पा) यह ध्रुव नहीं है (अणिइयं) यह नित्य नहीं है (अमागयं) यह शाश्वत नहीं है (नगानइयं) यह चय और अपचय वाला है (विणरिणाणम्म) यह निविच परिणाम वाला है। अतः (एय) इमं (त्वात्ति) पूर्वोक्त अवसर को (गाएह) देखो ॥ १४७ ॥

भावार्थः—जो पुरुष परीपह और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करता है वही सम्यक् प्रयत्नया वाला है। ऐसे पुरुष को यदि कदाचित् कोई रोग उत्पन्न हो तो उसे कभी भी चिन्ता न करनी चाहिए क्योंकि यह शरीर तो कच्चे घड़े की तरह बिनष्ट हो जाने वाला है। अतएव आधुन, अन्तिम और अशाश्वत है। इसे सफल बनाने के लिए शुभ अनुष्ठान करना ही विवेकी पुरुषों का कर्तव्य है। अतएव शास्त्रकार फरमाते हैं कि—गान इन्द्रियों से परिपूर्ण शरीर को जो प्राप्ति हुई है यह धर्मान्तरण करने का बड़ा भारी अवसर है। ऐसे सुअवसर को पाकर विषयमूल में प्रासक्त मत बनो। किन्तु धर्मान्तरण करो और धर्मान्तरण करने में एक क्षण भर भी प्रमाद मत करो ॥

समुत्प्रेहमाणस्स इवकाययणरपस्स इह विप्पमुक्कस्स एत्थि मग्गे विरयस्स ति चेमि ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थः—(समुपेक्षाणस्स) यह शरीर अनित्य है ऐसा निश्चय करने वाले तथा (इक्कायणरयस्स) ज्ञान, दर्शन और चारित्र में रत (विण्णुम्फस्स) शरीरादि के समत्व से रहित (विरयस्स) विरतियुक्त पुरुष के लिए (मग्गो) नरक तिर्यञ्चादि गति में जाने का मार्ग (एत्थि) नहीं है (ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १४८ ॥

भावार्थः—शरीर की अनित्यता को भलीभाँति जान कर शरीर के समत्व से निवृत्त, ज्ञान, दर्शन, चारित्र में रमण करने वाला और हिंसादि आश्रवों से निवृत्त पुरुष नरक तिर्यञ्चादि गति में नहीं जाता है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है।

आवृत्ती केयावृत्ती लोगंसि परिगगहावृत्ती, से अप्पं वा वहुं वा अणुं वा धूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चैव परिगगहावृत्ती एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ, लोगवित्तं य णं उवेहाए, एए संगे अवियाणओ ॥ १४९ ॥

अन्वयार्थः—(लोगसि) लोक में (आवृत्ती) जितने भी (केयावृत्ती) कोई (परिगगहावृत्ती) परिग्रह वाले हैं। (से) उनका वह परिग्रह (अप्पं) अल्प हो (वा) या (वहु) बहुत, (अणु) अणु हो (वा) या (धूल) स्थूल, (चित्तमत) चेतनावान् हो (वा) या (अचित्तमतं) अचित्त हो (एएसु चैव) उन परिग्रहों के कारण वे (परिगगहावृत्ती) परिग्रह वाले गृहस्थ ही हैं। (एतदेव-एवमेव) थोड़ा या बहुत परिग्रह रखना ही (एगेसिं) उन परिग्रह रखने वालों को (महब्भय) महान् भयदायक (भवइ) होता है। (लोगवित्तं) असंयमी पुरुषों का परिग्रह महान् भयदायक होता है अतः (उवेहाए) क्ष परिक्षा से जान कर प्रत्याख्यान परिक्षा से त्याग दे। जो पुरुष (एए) इन (संगे) परिग्रहों को (अनिजाणए) सेवन नहीं करता है अर्थात् परिग्रह का त्याग कर देता है उसको भय नहीं होता है ॥ १४९ ॥

भावार्थः—इस जगत् में जो थोड़ा वन रखता है और जो धन, धान्य, हिरण्य, ग्राम और जनपद आदि बहुत धन रखता है

तथा जो तुण काष्ठ आदि अथवा हाथी घोड़ा आदि महान् वस्तु रखता है एवं जो चित्तमान वस्तु रखता है अथवा अचित्त पदार्थ रखता है वे सभी परिग्रही हैं। वे चाहे अपने को व्रतधारी ही क्यों न कहते हैं किन्तु वास्तव में वे व्रतधारी नहीं हैं उन्हें गृहस्थ ही मानना चाहिए। परिग्रह महान् भय का कारण है। जो पुरुष उसका त्याग कर देता है उसे परिग्रहजनित भय नहीं होता है। अतः धिवेकी पुरुषों को परिग्रह का त्याग कर देना चाहिए ॥

‘से सुपडिगदं सुवणीयंति शृण्व्या’ पुरिसा परमचक्रवृ विपरकक्रम, एणसु चेव बंधचेरं ति नेमि, से सुयं य मे अज्झ-
त्थयं य मे बंधपमुक्खसो अज्झत्थेय, इत्थ विण् अणगारे दीहरापं तितिमखण, पमत्तो वहिया पास, अणमत्तो परिणय, एयं
मोणं समं अणुवागिज्जोसं ति नेमि ॥ १५० ॥

अन्यार्थः—(म) परिग्रह त्यागने वाले पुरुष के ही ज्ञानादि (अणुज्ज) अच्छी तरह से स्थित और (सुलोय ति) प्राप्त हैं-यह (शृण्व्या) ज्ञान कर (पुरिसा) हे पुरुष ! (परमचक्र) ज्ञान एवं मोक्ष में दृष्टि रखते हुए (विपरकक्रम-विपरिक्रम) समयम पालन करने में पराक्रम करो। (एणसु चेव) जो परिग्रह से रटित है और ज्ञान एवं मोक्ष में दृष्टि रखने वाले हैं उन्हें मैं (बंधचेरं) ब्रह्मचर्य के अथवा ब्रह्मचर्य नामक इस प्रथम श्रुतस्मृत्य में बतलाये गये गुण उन्हीं में होते हैं। (ति नेमि) ऐसा मैं कहता हूँ। (से) मैंने (यं) सुना है (य) और (मे) मेरे (अज्झत्थयं) चित्त में भी स्थित है अर्थात् मैंने अनुभव किया है कि (बंधमुणो) रज्य से छुटकारा (अण-
त्थे) अर्थात् ब्रह्मचर्य से ही होता है। (इत्थ) अतः (विण्) परिग्रह से रहित (अणगारे) साधु (दीहराप) जीवन भर (तितिमखण) समभाव पूर्वक कष्ट सहन करे। शास्त्रकार कहते हैं कि (पमत्तो) विषय सेवन रूप प्रमाद में गड़े हुए पुरुषों को (वहिया) धर्म से बाहर (पास) देखो—जानो और (अणमत्तो) स्वयं प्रमाद रहित होकर (परिणय) संयम का पालन करो। (एयं) इस (मोण) सुनिश्चित

॥ १५० ॥

का (सम्भ) भलीभांति (अणुवासिज्जासि) पालन करो (ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १५० ॥
 भावार्थः—जिसने परिग्रह का त्याग कर दिया है उसी का ज्ञान उत्तम है। जो परिग्रह रहित नहीं है तथा विषय और कथायो में आसक्त है वह धर्म से बहिर्भूत है। इस बात को जान कर विवेकी पुरुष को चाहिए कि प्रमाद का त्याग कर शुद्ध सत्यम का पालन करे ॥

॥ इति पाँचवें अध्ययन-का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

पाँचवें अध्ययन का तृतीय उद्देशक

अ० पा०
प्र० ३०
१५२

दूसरे उद्देशक में अधिरत पुरुष को परिग्रही कहा है। अत्र इस तीसरे उद्देशक में अपरिग्रही पुरुष का वर्णन किया जाता है—
आवंती केयावंती लोयंसि अपरिगहावंती, एएसु चैव अपरिगहावंती, सुञ्चा चई मेहावी पंडियाण णिसामिया
समियाए धम्मे आरिएहि पवेइए जहित्य मए संधी भोसिए एवमएणत्थ संधी दुज्झोसए भवड, तम्हा चैमि सो णिएह—
वेज्ज वीरियं ॥ १५१ ॥

अन्वयार्थः—(लोयमि) लोक में (आवंती) जितने (केयावंती) कोई (अपरिगहावंती) परिग्रह रहित हैं (एएसु चैव) अल्प, गहुत
आदि सत्र प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देने से तथा इन छः कार्यों में समता के अभाव से ही (अपरिगहावंती) अपरिग्रही होते
हैं। इसलिये (मेहावी) मर्यादा में स्थित बुद्धिमान् पुरुष (चई) तीर्थंकर भगवान् के वचनों को (सोञ्चा) सुन कर तथा (पंडियाण)
पण्डित अर्थात् गणधर्मों और आचार्यों के वचनों को (णिसामिया) सुन कर अपरिग्रही होते हैं। (आरिएहि) आर्य पुरुषों ने (समियाए)
समभाव से (धम्मे) धर्म (पोंइए) कहा है। भगवान् ने फरमाया है कि (जहा) जिस प्रकार (इत्थ) इन धर्म में (मए) मैंने (सो) कर्म—
सन्तति का (भोसिए) श्रय किया है (एव) वैसे (अएणत्थ) अन्यधर्म में (दुज्झोसए भवड) क्षय किया जाना सम्भव नहीं है। (तम्हा)
इसलिये (वैमि) मैं कहता हूँ कि (वीरिय) तप में वीर्य—पराक्रम को (सो णिएहोज्ज) छिपाना न चाहिये ॥ १५१ ॥

भावार्थः—तीर्थंकर भगवान् के उपदेश को सुन कर एव तीर्थङ्करोक्त आगम के रहस्य को जान कर जो पुरुष अल्प या बहुत सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देते हैं वे अपरिग्रही होते हैं। जो अपरिग्रही हैं उन्हें तप सयम में पराक्रम करना चाहिए। स्वयतीर्थंकर भ० फरमाते हैं कि यह आर्हतदर्शन ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप तथा समभावमय है। इसमें मन और इन्द्रियों का विजय मोक्षार्थियों का कर्तव्य बताया गया है। ऐसे इस वीतराग प्रतिपादित धर्म में स्थित होकर जिस प्रकार कर्मों का क्षय किया जाता है वैसा अन्य धर्मों में नहीं क्योंकि अन्यधर्मों में कर्मक्षपण का सम्यक् उपाय नहीं बतलाया गया है। अतः साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान् फरमाते हैं कि मैंने भी इसी धर्म में स्थित होकर विशिष्ट तप के द्वारा कर्मों का क्षय किया है। इसलिए दूसरे मोक्षार्थियों को भी ऐसा ही करना चाहिए। मंथम के अनुष्ठान और तपस्या में अपने पराक्रम को नहीं छिपाना चाहिए ॥

जे पुव्वुड्डाई णो पच्छाणिवाई, जे पुव्वुड्डाई णो पच्छाणिवाई, सेवि तारिसिए सिया,
जे परिणाय लोगमण्येसयंति ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थः—(जे) कोई पुरुष (पुव्वुड्डाई) पहले संयम को अङ्गीकार करके (णो पच्छाणिवाई) पीछे संयम से गिरता नहीं है। (जे) कोई पुरुष (पुव्वुड्डाई) पहले संयम को अङ्गीकार करके (पच्छाणिवाई) पीछे पतित हो जाता है। (जे) कोई (णो पुव्वुड्डाई) पहले संयम स्वीकार भी नहीं करता और (णो पच्छाणिवाई) पीछे पतित भी नहीं होता है। (सेवि) वे भी (तारिसिए-तारिसए) वैसे ही (सिया) है (जे) जो (परिणाय) त्याग कर फिर (लोग) लोक का (अण्येसयति-अणुस्सिता) अन्वेषण करते हैं ॥ १५२ ॥

भावार्थः—कोई मनुष्य ससार के स्वरूप को भली प्रकार जान कर सिंह के समान वीरतापूर्वक घर को छोड़ कर दीक्षा लेते

हैं और सिंह के समान ही संयम का पालन करते हैं वे प्रथम भद्र के स्वामी उत्तम कोटि के महात्मा हैं। कोई पुरुष संयम स्वीकार करके फिर संयम से गिर जाते हैं। ऐसे पुरुष दूसरे भद्र के स्वामी हैं। जो पहले संयम ग्रहण नहीं करता है और पीछे पतित हो जाता है यह तीसरा भग है किन्तु यह शून्य है इसलिए तीसरा भग इस सूत्र में नहीं लिखा गया है। कोई ऐसे पुरुष होते हैं जो न तो दीक्षा ग्रहण करते हैं और पीछे गिरते भी नहीं। इस भग के स्वामी गृहस्थ हैं और शास्त्र आदि भी उसी भग में हैं क्योंकि वे सावग योग का त्याग नहीं करते हैं अतः वे गृहस्थ के तुल्य ही हैं।

एवं श्रियाय, मुणिणा पवेइयं, इह आणाकंखी पंडिए अणिहे पुब्बावररायं जयमाणे, सया सीलं संपेहाए सुणिया भवे अकामे अरुंभे, इमेणचेव जुज्झाहि, किं ते जुज्जेण वज्झओ ॥ १५३ ॥

अन्वयार्थः—(एय) इस विषय को (श्रियाय) केवलज्ञान के द्वारा जान कर (मुणिणा) मुनि ने अर्थात् तीर्थंकर भगवान् ने (पवेइयं) कहा है। (इह) इस जैन शासन में स्थित पुरुष (आणाकंखी) तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा की इच्छा करे तथा (पंडिए) परिणत अर्थात् सत् और असत् का विवेक रखने वाला बने एवं (अणिहे) स्नेह रहित हो तथा (पुब्बावरराय) पूर्व रात्रि और अपर रात्रि में (जयमाणे) यत्नपूर्वक सदाचार का पालन करे और (यथा) सदा (शील एव संयम को (संपेहाए) भली प्रकार जान कर उसका पालन करे। (मुणिणा) शील एव संयम पालन के फल को सुन कर (अकामे) काम रहित और (अणुभे) माया रहित बनो (चेव) और (इमेण) अपनी कणाय आत्मा के साथ (जुज्झाहि) युद्ध करो। (वज्झओ) बाहर के (जुज्जेण) युद्ध से (ते) तुम को (हि) क्या प्रयो-जन है ? ॥ १५३ ॥

भावार्थः—पूर्व सूत्र में जो चतुर्भङ्गी कही गई है वह अपनी बुद्धि से कल्पित नहीं किन्तु केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को देख कर श्री वीतराग देव द्वारा कही गई है। श्री तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाला पुरुष रात दिन यत्न पूर्वक सदा-चार का पालन करे और एक क्षण भर भी प्रमाद न करे। शास्त्रकार फरमाते हैं कि विषय कषाय में प्रवृत्त होती हुई इन्द्रियो और मन के साथ युद्ध करके इहे वश में करो। जब तक तुम इन दुर्जय शत्रुओं को वश में न करोगे तब तक तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता है इनको जीत लेने पर ही आत्मा का कल्याण हो सकता है ॥

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं. जहित्थ कुसलोहि परिणणविवेगे भासिए, जुए हु वाले गम्भाइसु रज्जइ, अस्सि चेयं पवुच्चइ, रूवंसि वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे सुणी, अण्णहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्म परिणणाय सव्वसो से ण हिंसइ, संजमई शो पगम्भइ, उवेहमाणो पत्तेयं सायं वण्णाएसी णारंभे सव्वलोए एगप्पमुहे विदिसपइण्णे णिविण्णचारी अरए पयासु ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थः—(जुद्धारिहं-जुद्धारिय) भाव युद्ध के योग्य औदारिक शरीर प्राप्त करना (खलु) निश्चय ही (दुल्लह) बड़ा दुर्लभ है। (कुसलोहि) कुशल पुरुषों ने (इत्थ) इस जगत् में (जहा) जिस प्रकार (परिणणविवेगे-परणविवेगे) ज्ञान (भासिए) बताया है बुद्धिमान को वैसा ही मानना चाहिए। (जुए) धर्म से भ्रष्ट (बाले) अज्ञानी जीव (हु) निश्चय ही (गम्भाइसु) गर्भ आदि में (रज्जइ) अत्रुक्त होता (अस्सि) इस आर्हत प्रवचन में (इय) यह बात (पवुच्चइ) भलीभाति बतलाई जाती है। (खसि) रूप आदि भोगों में आसक्त जीव (खणसि) हिंसा जूठ आदि में प्रवृत्त होता है। (हु) निश्चय से (से) वह (एगे) एक मुनि ही (सविद्धपहे-सविद्धभये) मोक्ष मार्ग लेने वाला है। (लोग) लोक को (अण्णहा) अन्यथा यानी विषय और कषाय में आसक्त (उवेहमाणो) देख कर मुनि मोक्ष मार्ग

का पथिक बने । (इय) इन पूर्वोक्त कारणों से (कम्प) उधे हुए कर्मों को (परिणाय) ज्ञ परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर (सि) वह मुनि (सब्सो) सब प्रकार से (ए हिंसह) प्राणियों की हिंसा नहीं करता है । (सज्जर्ई) मुनि संयम का पालन करता है (शो पणब्बइ) किन्तु धृष्टता नहीं करता है । (पत्तेय) प्रत्येक प्राणियों के (सायं) सुख को (उवेइमाणो) अलग अलग देखता हुआ है प्राणियों की हिंसा न करे । (यणणस्सो) अपने शरीर का सुन्दर वर्ण बनाने के लिए अथवा यश आदि की इच्छा से (सज्जलोण) प्रणियों की हिंसा न करे । (ए आत्ते) आरम्भ न करे । (विस्साइण्णो) संयम विरोधी मार्गों को पार करके समस्त लोक में (कचल्लो) किसी भी साधन कार्य का (ए आत्ते) आरम्भ न करे । (विस्साइण्णो) संयम विरोधी मार्गों को पार करके (एणप्पमुहे) एक मोक्ष में दृष्टि रखता हुआ और (णिक्किण्णवारी) विरक्त पुरुष के आनरण का सेवन करता हुआ मुनि (पयात्तु) स्त्रियों में (अत्ते) रत न होवे अथवा प्राणियों के आरम्भ में प्रवृत्त न होवे ॥ १५४ ॥

भावार्थः—इस जगत् में प्राणियों की हानि करने वाले जैसे आन्तरिक शत्रु क्रोध मान माया और लोभ हैं वैसे बाहर का शत्रु नहीं है । जब तक जीव इन शत्रुओं का नाश नहीं करता तब तक उसको शान्ति प्राप्त होना अति दुर्लभ है । वे शत्रु तब समय द्वारा जीते जा सकते हैं । तब समय का आचरण इस औदारिक शरीर द्वारा ही किया जा सकता है किन्तु इस मनुष्य सम्बन्धी औदारिक शरीर की प्राप्ति होना बड़ा ही दुर्लभ है । अत्यन्त शुभ कर्मों के उदय से यह जीव को प्राप्त होता है । ऐसे दुर्लभ शरीर को प्राप्त कर विवेकी पुरुष को चाहिए कि मोक्ष प्राप्ति के साधनभूत तप समय में इसका उपयोग करे । जो अज्ञानी जीव इसे विषयभोगों में लगा कर व्यर्थ छो देता है वह जन्म मरण के चक्कर में नहीं छूट सकता है ।

जो ज्ञानवान् पुरुष विषयभोगों में आसक्त नहीं होता है वह इन्द्रियों को जीतने वाला और तोनों जगत् के यथार्थ स्वरूप का मनन करने वाला मुनि ही ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष के मार्ग पर जाने वाला होता है और यही समार को भयनायक देखने वाला

होता है। सात्त्विक मनुष्य और पादृष्टी लोग मोक्ष से विपरीत मार्ग से जा रहे हैं यह जान कर मुनि कर्मबन्ध के कारणभूत आसिवा का त्याग कर देता है।

समार के सभी प्राणी पृथक् २ अपना सुख दुःख भोगते हैं। सभी प्राणियों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है यह विचार कर किसी प्राणी को दुःख न देना चाहिए, किसी भी प्राणी की हिमा न करनी चाहिए और किसी भी सावद्य कार्य का आरम्भ न करना चाहिए ॥

से वसुमं सन्वसमणायपणायणं अकरणिज्जं पावं कम्मं तं णो अणोसी, जं सम्मं ति पासह तं मोणं ति पासह, जं मोणं ति पासह तं सम्मं ति पासह, ण इमं सक्कं सिद्धिलेहि आइज्जमाणेहि, गुणासाएहि वंक्समायरेहि पम-चेहि गारमावसंतेहि, सुणी मोणं समायाए धुणे कम्मसरीरंगं, पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्मत्तंसिणो, एस ओहंतरे सुणी, तिरणो सुत्ते विरए वियाहिए त्ति वेमि ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह (वसुम) संयमी पुरुष (सन्वसमणायपणायण) समस्त पदार्थों का ज्ञान रखने वाले (अप्याणो) अपनी आत्मा के द्वारा (अकरणिज्ज) न करने योग्य (त) उस (पाव) पाप (कम्म) कर्म का (णो अणोमी) अन्वेषण न करे अर्थात् आचरण न करे। (ज) जिसको (सम्म ति) सम्यक् ज्ञान या सम्यक् रूप (पासह) देखो (त) उसी को (मोण ति) संयम रूप (पासह) देखो और (ज) जिसको (मोण ति) संयम रूप (पासह) देखो (त) उसी को (सम्म ति) सम्यक् रूप (पासह) देखो। (सिद्धिलेहि) सिद्धिल अर्थात् संयम और तप मे जो दृढ नहीं है (आइज्जमाणेहि-अइज्जमाणेहि) जो पुत्र कलत्रादि के अनुराग से अनुरक्त है (गुणासाएहि) जो शब्दादि विषयों के स्वाद मे आसक्त है (वंक्समायरेहि) जो मायावी और (पमत्तेहि) प्रमादी हैं (गारमावसंतेहि) जो गृहस्थावास में रहते हैं उनसे

(इम) इसका अर्थात् संयम का (ण सक्क) पालन किया जाना शक्य नहीं है। (मुणी) मुनि (मोण) संयम को (समायाए) स्वीकार करके (कम्मसोरण) कर्म शरीर का यानी कर्मों का (धुणे) विनाश करे। (सम्मत्तसिणो) मम्यस्त्वदर्शी (वीरा) वीर पुरुष (पत) प्रन्तप्रान्त और (लूह) रूक्ष (सेनति) आहार का सेवन करते हैं। (एस) यह (मुणी) मुनि (ओहत्तेरे) समार रूप समुद्र को तिरने वाला (तेण्णे) तरा हुआ (मुत्ते) मुक्त और (विरए) विरत (वियाहिए) कहा गया है (ति वेगि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १५५ ॥

भावार्थः—पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला मुनि याग्य कर्म का अनुष्ठान न करे। सम्यग्ज्ञान होने पर पाप कर्म का त्याग और संयम का अनुष्ठान होता है इसलिये कारण और कार्य को अभिन्न मान कर शास्त्रकार फरमाने दे कि—जो सम्यग्ज्ञान है वही संयम का अनुष्ठान है और जो संयम का अनुष्ठान है वही सम्यग्ज्ञान है।

संयम का पालन करना सरल नहीं है। हर एक प्राणी संयम का पालन नहीं कर सकता है। तप संयम में शिथिल, स्त्री पुत्रादि में ममत्त्व रखने वाला, शब्दादि विषयों में गृह, मायावी, और प्रमादी पुरुषों में सगस्त पापों के त्याग रूप संयम का पालन नहीं हो सकता है किन्तु ससार के स्वरूप को भली भाँति जान कर उसका त्याग करने वाले और कर्म विदारण में निपुण मुनि ही संयम का पालन कर सकते हैं। वे अन्तप्रान्त और रूक्ष आहार का सेवन कर मगमयात्रा का निर्वाह करते हैं और तप द्वारा कर्मों का क्षय करके सद्ध बुद्ध यावत् मुक्त हो जाते हैं ॥

॥ इति पाँचवें अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

पाँचवें अध्ययन का चौथा उद्देशक

तीमरे उद्देशक में बतलाया गया है कि हिंसा, विषयभोग और परिग्रह में महान् दोष है अतः इनसे जो विरत है वही मुनि है। अब चौथे उद्देशक में अकेले विचरने वाले के दोषों को बता कर उसके मुनि न होने का कारण बताया जाता है। —

अथ चौथे उद्देशक में अकेले विचरने वाले के दोषों को बता कर उसके मुनि न होने का कारण बताया जाता है। —

गामाणुगामं दुइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परक्कतं भवइ अवियत्तस्स भिक्खुणो ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थः—(गामाणुगाम) एक ग्राम से दूसरे ग्राम को (दुइज्जमाणस्स) जाते हुए यानी विचरते हुए (अवियत्तस्स) शास्त्र और

अवस्था में अपरिपक्व (भिक्खुणो) साधु का (दुज्जाय दुप्परक्कत भवइ) गमन और व्यवहार बुरा होता है ॥ १५६ ॥

भावार्थः—जो साधु शास्त्र में और अवस्था में परिपक्व नहीं है अर्थात् जो आचारकल्प का अर्थ नहीं जानता है और अवस्था में भी अल्प है वह यदि गच्छ से निकल कर अकेला ग्रामानुग्राम विहार करे तो उसका विहार दोषयुक्त होना संभव है क्योंकि मार्ग में अनुकूल प्रतिकूल उपसर्गों के आने से उसकी संयम से भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। और जिस स्थान पर वह ठहरता है वहाँ पर भी अनेक दोष होने की सम्भावना रहती है। इसलिए शास्त्रकार एकल विहार का निषेध करते हैं। इसी बात को चतुर्भङ्गी के

द्वारा बताया जाता है —

जो साधु शास्त्र और अवस्था दोनों से अपरिपक्व है उसको अकेला विचरना उचित नहीं है क्योंकि उसके संयम और शरीर की हानि सम्भव है। जो साधु शास्त्रों में तो प्रवीण नहीं है किन्तु अवस्था में परिपक्व है उसको भी अकेला विचरना ठीक नहीं है क्योंकि भीतार्थ न होने के कारण उसके भी संयम और शरीर की विगठना सम्भव है। जो साधु शास्त्र में तो प्रवीण है परन्तु अवस्था में अप-

रिपक्व है उसको भी अकेला धिचरना उचित नहीं है क्योंकि अग्रस्था में छोटा होने के कारण वह मग के अपमान का पात्र होता है विशेषतः चोर और अन्यतीर्थियों से उसको विशेष भय है। जो शास्त्र और आस्था दोनों में परिपक्व है वह भी बिना कारण अकेला विहार न करे। अकेला विहार करने में गुप्ति, ईर्ष्या और भाषा आदि में बहुत से दोष सम्भव हैं। इसलिए शास्त्रकार एकल विहार का निषेध करते हैं।

वयसा वि एगे बुद्ध्या कुप्यति माणा, अणयमाणे य शरे मथ्या मोहेण मुञ्चइ, संताहा तहने भुज्जो भुज्जो दुरइ-
कमा अजाणओ अपासओ, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं तद्धिड्डीए तम्मूचीए तत्तएणी तएिणेनेसणे,
जयं विहारी चित्तणिवाई पंथणिज्झइ पलिनहिरे, पासिय पाणे गच्छिज्जा ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थः—(एगे) कोई (माण) मनुष्य (वाणा) वन से (गृह-ग-शेड्या) कहे हुए भी (एव्वात्) कुपित हो जाते हैं (य) और (अणयमाणे) अत्यन्त मान करने वाला (गरे) मनुष्य (मथ्या) मदान् (मोहेण) मोह से (मुग्गइ) मोहित होता है। (अनाणओ) दुःखों की निवृत्ति के उपपत्तियों को न जानने वाले और (अपासओ) उन कष्टों को सहन करने के फल को न देखने वाले उक्त साधु को (भुज्जो भुज्जो) बार-बार (बह्वे) बहुत सी (समाधा) वाधायें होती हैं (इसरका) जिनका उद्बोधन करना उस के लिए कठिन हो जाता है। (ते) तुझ को (एय) ये वाधायें (मा होउ) न हों (एय) यह (हुमास्स) कुशल पुण्यों का अर्थात् तीर्थकर भगवान् का (इसणं) दर्शन यानी अभिप्राय है। अतः (तद्धिड्डीए) तदा आचार्य की दृष्टि में रहना चाहिए (तम्मूचीए) सदा विरति के साथ रहना चाहिए (तत्तए-
णी) आचार्य को आगे करके रहना चाहिए (तसएणी) आचार्य की इच्छानुसार कार्य करना चाहिए और (एणिनेसणे) पाचार्य की

आचार्य के निकट रहना चाहिए अर्थात् सदा उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए । उसे चाहिए कि (जय विहारी) यतना पूर्वक विहार करे (चिन्मणिवाई) गुरु के चित्त के अनुसार क्रिया करे (पथणिज्जाई) गुरु के मार्ग को देखे अर्थात् सम्यक् प्रकार से गुरु की आराधना करे (गलिबाहिरे) गुरु की आज्ञा में रहे और (पाणे) प्राणियों को (पासिय) देखता हुआ (गच्छिज्जा) चले ॥ १५७ ॥

भावार्थः—जो पुरुष धर्म में निपुण नहीं है तथा सत्य वस्तु को नहीं जानते है वे पुरुष तप या मयम के अनुष्ठान में भूल करने पर जब गुरु के द्वारा शिक्षा दिये जाते है तो वे गुरु के उस धर्ममय वचन से कुपित हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि—गुरु महाराज ने हमारा अपमान कर दिया । ऐसे क्रोधी और अभिमानी पुरुष गच्छ को छोड कर घाहर चले जाते हैं । जब उनके मार्ग में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं और परीषद उपसर्ग आते हैं तब वे घबरा जाते हैं, समय से गिर जाते हैं और उनके शरीर की हानि की भी समावना रहती है । इसलिए अपना आत्मकल्याण चाहने वाले साधु को चाहिए कि वह सदा आचार्य की आज्ञा में ही विचरे । उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करे । इस प्रकार गच्छ में रह कर आचार्य की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि आत्मकल्याण का मार्गी होता है ॥

ने अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचमाणे पसारेमाणे विणिग्गुमाणे संपलिमज्जमाणे एगया गुणसमियस्स रीयओ काचनं तानमणुचिएणा एगइया पाणा उदायंति, इहलोगवेयणवेज्जावडियं, जं आउट्टीकयं कम्मं तं परिणाय विवेगमेइ, एवं ने अप्पमाएण विवेगं किट्टइ वेयवी ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थः—(ने) वह साधु (अभिक्कममाणे) जाता हुआ (पडिक्कममाणे) लौटता हुआ (संकुचमाणे) अंगों का संकोच करता

हुआ (पसारेवाले) अगों को फैलाता हुआ (विशिष्टवाले) पागों से निवृत्त होता हुआ (सगतिन्तज्जमाणे) रजोहरण आदि से प्रमाज्जन करता हुआ यतना पूर्वक गच्छ में निवास करे। (एगया) किसी समय (गुणसमियरस) गुणों से युक्त तथा (रीययो) भलीभांति क्रिया करते हुए साधु के भी (कायसंकास) काया का स्पर्श (अणुचिण्णा-गमणुचिण्णा) पाकर (एगइया) कोई (गणा) प्राणी (उदायति) मर जाते हैं। जो अक्षानचय शरीर आदि के स्पर्श से प्राणियों का घान होता है उसका फल (इह तोग वेयणविज्जावटिय) इसी भव में प्राप्त होता है और (ज) जो (आउदीक्यं रुम्म) जान चूक कर प्राणियों का घात किया जाता है (त) उसे (परिणाय) अ परिशा से जान कर (वियेगमेद) प्रायश्चित्त करने से शुद्धि होती है (एव) इस प्रकार (से) उस कर्म का (वेक्की) ज्ञाता पुरुष (अप्पमाएण) अप्रमाद यानी प्रायश्चित्त के द्वारा (विलो) विवेक अर्थात् अभ्यास (किट्ठ) धरता है ॥ १५८ ॥

भावार्थ:—गुरु की आज्ञा में रहता हुआ साधु गमनागमन शयन विहार आदि समस्त क्रियाएँ यतनापूर्वक करे। इस प्रकार प्रमाद रहित होकर शास्त्रोक्त रीति से यतनापूर्वक क्रियाएँ करते हुए साधु के द्वारा यदि कोई प्राणी मर जाय तो उसको कर्म-बन्ध अवश्य होता है किन्तु परिणामों के भेद से कर्मबन्ध में भेद होता है। ऐसे कर्म का बन्ध तीव्र नहीं होता क्योंकि उसका परिणाम उस प्राणी को मारने का नहीं है। उसका फल इसी भव में प्राप्त हो जाता है परन्तु यदि जान चूक कर किसी प्राणी का घात किया गया हो तो प्रायश्चित्त के द्वारा उसकी शुद्धि होती है, यह आगम के ज्ञाता लोग बताते हैं ॥

से पभूयंदंसी पभूयपरिणायो उवसंते समिए सहिए सया जण, दट्ठं निण्डिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ ? एस से परमारामे जाओ लोगम्मि इत्थीओ, सुणिणा हु एयं पवेइयं, उब्बाहिज्जमाणे गामधम्महि अवि निव्वलासए अवि

ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्डं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दुइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्चिदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं, पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवति, पडिलेहाए आगमिता आणविज्जा अणसेवणाए चि वेमि, से णो कहिए, णो पासणिए, णो संपसारए, से णो ममाए णो कयकिरिए वइगुत्ते अज्झप्पसंबुडे परिवज्जए सया पावं, एयं मोणं समणुवासिज्जासि चि वेमि ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थः—(पभूदसी) प्रभूतदर्शी यानी कर्मों के विगक को देखने वाला (पभूपरिणालो) प्रभूत ज्ञान वाला यानी संसार के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला (उवसते) उपशान्त अर्थात् इन्द्रिय और मन की चंचलता से रहित (समिए) समिति युक्त (सहिए) ज्ञानादि सहित (सया जए) सदा यत्न करने वाला (से) वह साधु कर्मों का अन्त करता है। (दुडु) स्त्री आदि के परिषह को देख कर (विपडिवेइ) वह विचार करता है कि (एस जणो) यह स्त्री (अप्पाण) मेरी आत्मा की (किं) क्या हानि (करिस्सए) कर सकती है ? अर्थात् संयम में रमण करते हुए मेरा यह कुछ नहीं कर सकती। (लोग्गि-लोगसि) लोक में (जाओ) जो (इत्थीओ) ये स्त्रियां हैं (एस) वे (से) उन तत्त्वज्ञ पुरुषों को भी (परमारे) मोह में डालने वाली हैं। (हु) निश्चय ही (एय) यह (मुणिणा) श्री वर्द्धमान स्वामी ने (पवेइय) कहा है। (गामधम्मोहि) इन्द्रियों के विषयों से (उव्वाहिज्जमाणो) पीड़ित किया जाता हुआ साधु (निब्बलासए) निर्बल यानी अन्त प्रान्त आहार करे (अवि) अथवा (ओमोयसिय कुज्जा) कम आहार करे यानी उनोदरी तप करे (अवि) अथवा (उड्ड) ऊंचे (ठाणं) स्थान पर (ठाइज्जा) स्थित हो जाय यानी शीत और उष्ण काल में कायोत्सर्ग करके आतापना ले (अवि) अथवा (गामाणुगामं) ग्रामानुग्राम (दुइज्जिज्जा) विहार कर जाय (अवि) अथवा (आहार वुच्चिदिज्जा) आहार का त्याग कर दे किन्तु (इत्थीसु) स्त्रियों में (मणं)

चए) मन को न जाने दे। स्त्रीभोग में आसक्ति होने से (पुंव) पहले तो (दग) दण्ड प्राप्त होता है और (पच्चा) पीछे (कासा) नर-कादि की पीड़ाएँ भोगनी पड़ती हैं अथवा (पुंव) पहले (कासा) स्त्री स्पर्श होता है और (पच्चा) पीछे (दग) दण्ड भोगना पड़ता है। (इच्छेए) इस प्रकार ये स्त्री सम्बन्ध (ब्रह्मासक्त्या) कलह के कारण अथवा रागद्वेष को बढ़ाने वाले (भवति) होते हैं। अतः (पडिलेवाए) स्त्री सम्बन्ध को पूर्वोक्त अनर्थों का कारण समझ कर एवं (आगमिण) जान कर (अणसेणए) सेवन न करने की (आण-विज्जा) आज्ञा दे अर्थात् सेवन न करे (ति वेमि) यह मे कहता हूँ। (से) वह साधु (णो कक्षिए) स्त्री कथा न करे (णो पासणिण) राग-पूर्वक उनके अज्ञ प्रत्यंगों को न देखे (णो ममाए-णो मामए) उन पर ममत्त्व न करे (णो कयक्खिए) उनकी वैयावध न करे (यइयुते) वंचन से गुप्त रहे अर्थात् स्त्रियों के साथ विशेष आलापसंलाप न करे (अज्जअसंबुदे) स्त्रीभोगों में चित्त न दे। (सया) सदा (णवं) पाप को (परिवज्जेए) वर्जित करे (एयं) इस प्रकार (भोणं) मुनिव्रत का (समणुत्तारिज्जासि) पालन करे (ति वेमि) ऐसा मे कहता हूँ ॥ १५६ ॥

भावार्थः—कर्मों के विपाक को देखने वाला, मसार के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला, उपशान्त, समिति युक्त, ज्ञानादि गुणों सहित और छ. काय जीवों का रक्षक मुनि शीघ्र ही कर्मों का अन्त कर देता है, ऐसे मुनि पर यदि स्त्री आदि के परीपह आवें तो भी वह अपने समय से विचलित न होंगे किन्तु समय में दृढ़ रहे। इस प्रकार समय में विचरण करते हुए साधु की इन्द्रियों यदि उसे पीडित करें तो साधु निःसार एवं अन्तप्रान्त आहार करे। इससे भी यदि शान्ति न हो तो आतापना आदि लेकर शरीर को कष्ट दे। इतने पर भी यदि इन्द्रियाँ शान्त न हो तो उम गांव को छोड़ कर अन्यत्र भ्रमण कर जाय। जब किसी प्रकार भी धिपथ की शान्ति न हो तो साधु आहार ग्रहण करना भी छोड़ दे। इस प्रकार उसके शरीर का विनाश भी हो जाय तो अच्छा है किन्तु साधु विषयसेवन

की कदापि इच्छा न करे। जो स्त्रीसङ्ग की इच्छा करता है उसको नाना प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। क्रीलम्पट दुराचारी पुरुष इस लोक में उड़ो से पीटे जाते हैं और उनके हाथ पैर आदि अङ्ग काट दिये जाते हैं। यह तो इस लोक में कष्ट होता है और परलोक में उसे नरकादि का असह्य दुःख भोगना पड़ता है। अतः विवेकी पुरुष को चाहिए कि वह अपने को स्त्रीसङ्ग से सदा अलग रखे, उनकी कथा न करे, उनमें ममत्व न करे और उनकी वैयावण आदि न करे। इस प्रकार स्त्रीसङ्ग से अपनी आत्मा की रक्षा करता हुआ शुद्ध समय का पालन करे।

॥ इति पाँचवें अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

पाँचवें अध्ययन का पाँचवां उद्देशक

अ० पा०

पा० उ०

१६६

चौथे उद्देशक में एकल विहार की हानियाँ बतला कर एकल विहार का निषेध किया है। पाचवें उद्देशक में यह बताया जाता है कि साधु को सदा आचार्य के समीप ही रहना चाहिए।

से वेमि तंजह।—अबि हरए पडिपुण्णे समंसि भोमे चिट्ठ उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठ सोयमज्झणए से पास सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेत्तिणो जे य पएणाणमंता पवुद्धा आरंभोवरया सम्ममेयंति पासह, कालस्स कंखाए परिव्वयंति त्ति वेमि ॥ १६० ॥

अन्वयार्थः—(से वेमि) में कहता हूँ (तंजह) जैसे कि (पडिपुण्णे) जल में परिपूर्ण (समंसि) सम (भोमे) भूमि भाग में (चिट्ठ) स्थित (उवसंतरए) रज से रहित (सारक्खमाणे) नाना प्रकार के जलचर जीवों की रक्षा करता हुआ (सोयमज्झणए) स्रोत के मध्य में स्थित तथा (सव्वओ) सब ओर से (गुत्ते) सुरक्षित (अबि से) कोई एक (हरए) तालाब है ऐसा (पास) देखो अर्थात् समझो इसी तरह से (लोए) लोक में (जे) जो (पएणाणमता) ज्ञानवान् यानी आगमों के जानने वाले (पवुद्धा) प्रवृद्ध यानी वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञाता एवं (आरंभोवरया) आरम्भ से रहित (महेत्तिणो) महर्षि हैं वे (सम्ममेयति) उस तालाब के समान हैं ऐसा (पासह) देखो यानी समझो। वे (कालस्स) समाधि की (कंखाए) आकांक्षा करते हुए (परिव्वयंति) संयम का पालन करने हैं (त्ति वेमि) ऐसा में कहता हूँ ॥ १६० ॥

भावार्थः—यहाँ आचार्य को तालाब की उपमा दी गई है। (१) एक तालाब ऐसा होता है जिसमें से जल निकलता है और

बाहर से आता भी है। (२) दूसरा वह है जिसमें से पानी निकलता ही है किन्तु आता नहीं है। (३) तीसरा वह है जिसमें से पानी निकलता नहीं है किन्तु बाहर से पानी आता है। (४) चौथा वह है जिसमें से पानी न तो निकलता ही है और न बाहर से आता ही है। ये चार प्रकार के तालाब होते हैं। इसी तरह आचार्य भी चार प्रकार के होते हैं। प्रथम श्रेणी के तालाब के समान जो आचार्य ज्ञान का आदान और प्रदान दोनों करते हैं उन्हीं का यहां अधिकार है। जिस प्रकार तालाब निर्मल जल से परिपूर्ण होता है उसी प्रकार आचार्य भी पाच प्रकार के आचार, आठ प्रकार की सम्पदा और ज्ञानादि से परिपूर्ण होते हैं। वे स्वयं प्राणियों की रक्षा करते हैं और अहिंसा का उपदेश देकर दूमरो से भी रक्षा करवाते हैं। वे सब प्रकार से इन्द्रिय और मन की गुप्ति से रक्षित होते हैं ॥

वित्तिगिच्छासमावर्णेणं अप्पाणेणं गोलुहइ समाहिं, सिया वेगे अणुगच्छंति असिता वेगे अणुगच्छंति, अणुगच्छ-
माणेहिं अणुणुगच्छमाणे कं गण विव्वज्जे ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थः—(वित्तिगिच्छासमावर्णेणं अप्पाणेणं) संशययुक्त आत्मा पुरुष (समाहिं) समाधि को (गोलुहइ) प्राप्त नहीं कर सकता है। (एणे) कितनेक (सिया) गृहवास में रहे हुए भी पुरुष (अणुगच्छति) आचार्य के उपदेश को मानते हैं (वा) और (एणे) कोई (असिया) गृहवन्धन से रहित पुरुष (अणुगच्छति) आचार्य के उपदेश को मानते हैं। (अणुगच्छमाणेहिं) सम्यक्त्व को स्वीकार किये हुए पुरुषों के साथ रहने वाला पुरुष (अणुगच्छमाणे) सम्यक्त्व को स्वीकार न करता हुआ भी (कं गण विव्वज्जे) निर्वैद को प्राप्त क्यों नहीं होता ? ॥ १६१ ॥

भावार्थः—तप सयम रूप क्रिया के फल में सन्देह करने वाला पुरुष समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता है। कितनेक हलुकर्मी पुरुष गृहवास में रहते हुए भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं और कितनेक पुरुष गृहवास से रहित होकर सम्यक्त्व को स्वीकार कर

प्राचार्य के मार्ग का अनुसरण करते हैं। जो मुनि बन कर भी प्राचार्य के वाग्यों को भली प्रकार समझ नहीं सकता, उसके हृदय में खेद हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे समय में गुरु को चाहिए कि वह उस मुनि को मान्यना दे।

तमेव सच्चं णीसकं जं जिणेहिं पवेड्यं ॥ १६२ ॥

अन्यपर्यायः—(ज) जो (जिणेहि) जिनेश्वर देवों के द्वारा (परेश्य) कहा गया है (तमेग) यही (गन्ज) सत्य है और (णीसरु) वही शुद्धारहित है ॥ १६० ॥

भाषार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् ने धर्म, अधर्म आकाश और पुद्गल आदि पदार्थों का कथन किया है। वे सत्र सर्वथा सत्य हैं और शक्ता रहित हैं। अतः तीर्थङ्करों द्वारा कहे हुए केवल आगम के द्वारा ज्ञानने योग्य अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों में “ये पदार्थ इमं तरह हैं या नहीं हैं” ऐसी शक्ता कदापि न करना चाहिए क्योंकि रागद्वेष पर विजय पाये हुए तीर्थङ्कर भगवान् वीतराग सर्वज्ञ होते हैं वे मिथ्या वचन नहीं कहते हैं। उनका वचन सत्य अर्थ को बतलाने वाला और सशय रहित होता है ॥

सङ्घिष्ठस्स णं समणुएणस्स संपन्वयमाणस्स सभियंति मएणमाणस्स एगया सभिया होइ, समिय ति मएणमाणस्स एगया असभिया होइ, असभियंति मएणमाणस्स एगया सभिया होइ, असभियं ति मएणमाणस्स एगया असभिया होइ, सभियं ति मएणमाणस्स सभिया वा असभिया। वा सभिया होइ उवेहाए, असभियं ति मएणमाणस्स सभिया वा असभिया वा असभिया होइ उवेहाए, उवेहमाणो अणुवेहमाणं थूया उवेहाहि सभियाए, इच्चें तत्थ संधी भोसित्रो भवइ, से उट्ठियस्स ठियस्स गइं समणुपासह, इत्थवि बालभावे अप्पाणं णो उबदंसिज्जा ॥ १६३ ॥

अन्वयार्थः—(सङ्ख्येय) धर्म में श्रद्धा रखने वाले (समणुणास्स) प्रव्रज्या ग्रहण करने के योग्य तथा (सपक्वमाणस्स) भली भांति प्रव्रज्या को स्वीकार करते हुए एव (समिय ति) तीर्थंकर भगवान् के कथन को सत्य (मरणमाणस्स) मानते हुए पुरुष को (एग्या) संयम स्वीकार करने के बाद भी (समिया होइ) तीर्थंकरोक्त पदार्थ सत्य ही प्रतीत होते हैं। कोई पुरुष दीक्षा धारण करते समय (समिय ति) तीर्थंकरोक्त पदार्थ को सत्य (मरणमाणस्स) मानता हुआ भी (एग्या) एकदा यानी संयम स्वीकार करने के पश्चात् (असमिया होइ) उसे मिथ्या मानने लग जाता है। कोई तीर्थंकरोक्त पदार्थ को पहले (असमिय ति) मिथ्या (मरणमाणस्स) मानता हुआ भी (एग्या) एकदा यानी संयम स्वीकार करने के पश्चात् (असमिया होइ) उसे मिथ्या मानने लग जाता है। कोई तीर्थंकरोक्त पदार्थ को पहले (असमिय ति) मिथ्या (मरणमाणस्स) मानता हुआ भी (एग्या) एकदा यानी पीछे भी (असमिया होइ) मिथ्या ही मानता है। तीर्थंकरोक्त पदार्थों को (समिय ति) सत्य (मरणमाणस्स) मानता हुआ (एग्या) एकदा यानी पीछे भी (असमिया होइ) मिथ्या ही मानता है। तीर्थंकरोक्त पदार्थों को (समिय ति) सत्य (मरणमाणस्स) मानते हुए पुरुष को (समिया वा) चाहे वह पदार्थ सम्यक् हो (वा) अथवा (असमिया) असम्यक् हो परन्तु (उवेहाए) वह उससे सम्यक् बुद्धि रखता है इसलिपि (समिया होइ) वह उसके लिपि सम्यक् ही है। (असमिय ति) तीर्थंकरोक्त पदार्थ को मिथ्या (मरणमाणस्स) मानते हुए पुरुष को (समिया वा) चाहे वह पदार्थ सम्यक् हो (वा) अथवा (असमिया) असम्यक् हो परन्तु (उवेहाए) वह उससे सम्यक् बुद्धि रखता है इसलिपि (असमिया होइ) वह उसके लिपि असम्यक् ही होता है क्योंकि वह उसमें मिथ्या (मरणमाणस्स) मानते हुए पुरुष को (समिया वा) चाहे वह पदार्थ सम्यक् हो (वा) अथवा (असमिया) असम्यक् हो परन्तु (उवेहाए) वह उसमें असम्यक् बुद्धि रखता है इसलिपि (असमिया होइ) वह उसके लिपि असम्यक् ही होता है क्योंकि वह उसमें मिथ्या (मरणमाणस्स) मानते हुए पुरुष को (समिया वा) चाहे वह पदार्थ सम्यक् हो (वा) अथवा (असमिया) असम्यक् हो परन्तु (उवेहाए) वह उसमें असम्यक् बुद्धि रखता है। (उवेहाणो) सत् और असत् का विचार करने वाला पुरुष (अणुवेहमाण) सत् और असत् का विचार होने की भावना रखता है। (उवेहाणो) सत् और असत् का विचार करने वाला पुरुष (अणुवेहमाण) सत् और असत् का विचार करने वाले पुरुष से (बुधा) कहे कि (समियाए) समभाव से (उवेहाहि) तुम पदार्थ का विचार करो (इच्चेवं) इस प्रकार (तथ) इसमें न करने वाले पुरुष से (बुधा) कहे कि (समियाए) समभाव से (उवेहाहि) तुम पदार्थ का विचार करो (इच्चेवं) इस प्रकार (तथ) इसमें अर्थात् संयम में विचार रखने पर (सधी) कर्मसन्तति (ओसिओ) नष्ट (भवइ) हो जाती है। (से) उस (उद्वियस्स) संयम में प्रवृत्ति करने

वाले पुरुष की और (ठियस) संयम में प्रवृत्ति न करने वाले पुरुष की (गइ) गति को (समणुपासह-समणुपस्सह) देखो । (इत्यवि) इस (बलभाये) बलभाव रूप असंयम में (अण्ण) अपनी आत्मा को (णो उवदंसिज्जा) मत दिखाओ अर्थात् असंयम का सेवन मत करो ॥ १६३ ॥

भावार्थः—इस सूत्र से परिणामों की विचित्रता बतलाई गई है । वीतराग सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान्, ने जो फरमाया है वह सत्य है और शङ्करहित है इस प्रकार की मान्यता रख कर जो, पुरुष प्रव्रज्या अङ्गीकार करता है, उस पुरुष के प्रव्रज्या के पश्चात् उसकी वह मान्यता अधिक हो सकती है अथवा ज्यों की त्यों रह सकती है अथवा कम हो जाती है या बिलकुल नष्ट भी हो सकती है । इस प्रकार परिणामों की विचित्रता को बतलाने के लिए चौभगो बतलाई गई है । (१) प्रव्रज्या के समय किसी पुरुष की 'वही' सत्य और निःशङ्क है जो सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाया है" ऐसी सम्यक् श्रद्धा होती है और पीछे भी सम्यक् ही श्रद्धा रहती है । (२) किसी की श्रद्धा प्रव्रज्या के समय तो सम्यक् होती है किन्तु पीछे असम्यक्-मिथ्या हो जाती है । (३) किसी पुरुष की श्रद्धा पहले तो असम्यक्-मिथ्या होती है किन्तु प्रव्रज्या के बाद उसकी श्रद्धा सम्यक् हो जाती है । (४) किसी पुरुष की श्रद्धा पहले भी असम्यक् होती है और पीछे भी असम्यक् ही रहती है ।

इसका निष्कर्ष बतलाते हुए शास्त्रकार फरमाते हैं कि जिस पुरुष की श्रद्धा सम्यक् है और उससे किसी प्रकार की शङ्का नहीं रहता हुआ उसको वैसा ही सम्यक् होने की भावना रहता है वह वस्तु सम्यक् हो या असम्यक् हो उसकी उससे सम्यक् भावना होने के कारण उसके लिए वह सम्यक् ही है अर्थात् उसको असम्यक् रूप से ही परिणमती है । जो पुरुष किसी वस्तु को असम्यक् मानता है वह वस्तु सम्यक् हो या असम्यक् हो उसके लिए वह असम्यक् ही है अर्थात् असम्यक् रूप से ही परिणमती है क्योंकि उससे उसकी असम्यक् भावना-बुद्धि है ।

सयम में उद्योग करने वाले पुरुष की श्रेष्ठ गति को और सयम में शिथिलता करने वाले तथा असंयम में प्रवृत्ति करने वाले पुरुष की बुरी गति को देख कर विवेकी पुरुष को चाहिए कि वह अपनी आत्मा को असयम में प्रवृत्त न होने दे और सयम में किञ्चिन्मात्र भी शिथिलता न करते हुए एक क्षण भर भी प्रमाद न करे ॥

तुमंसि शाम तं चेव जं हंतव्यंति मरणसि, तुमंसि शाम तं चेव जं अज्जवेयव्यंति मरणसि, तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्यंति मरणसि, एवं जं परिचेत्तव्वति मरणसि, जं उद्वेयव्यंति मरणसि, अंजू चेयं पडिवुद्धजीवी, तम्हा ण हंता णवि धायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्यं णाभिपत्थए ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थः—(ज) जिसको (हंतव्यंति मरणसि) तुम मारने के योग्य मानते हो, मान लो कि (त चेव—सच्चेव) वह (तुमंसि शाम) तुम ही हो । (ज) जिसको (अज्जवेयव्यंति मरणसि) तुम आज्ञा देने योग्य समझते हो, मान लो कि (त चेव—सच्चेव) वह (तुमंसि शाम) तुम ही हो । (ज) जिसको (परियावेयव्यंति मरणसि) तुम परिताप देने योग्य मान रहे हो, मान लो कि (त चेव सच्चेव) वह (तुमंसि शाम) तुम ही हो । (एव) इसी तरह (ज) जिसको (परिचेत्तव्वंति मरणसि) तुम परिग्रह रूप से रखना चाहते हो (व) और (ज) जिसको (उद्वेयव्वंति मरणसि) तुम उपद्रव करने योग्य समझते हो मान लो कि वह तुम ही हो । (अज्ज) सरल स्वभाव वाला साधु (एव पडिवुद्धजीवी) उपरोक्त विवेक पूर्वक अपना संयमजीवन व्यतीत करता है । (तम्हा) इसलिये (ण हता) किसी प्राणी का घात न करे और (ण वि धायए) न दूसरों से करवावे तथा अनुमोदन भी न करे । (ज) क्योंकि (अप्पाणेण) अपनी आत्मा को ही अर्थात् हिंसा करने वाले पुरुष को ही (अणुसवेयण) प्राणियों की हिंसा का दुःखरूप फल भोगना पड़ता है यह जान कर (हंतव्यं) किसी को मारने की (णाभि-

पत्यए, इच्छा न करे ॥ १६३ ॥

भावार्थ:—हिंसक को हिंसा से निवृत्त होने के लिए उपदेश देने हुए शास्त्रकार फरमाते हैं कि—तुम जिस जीव को कष्ट देने योग्य, परिताप उपजाने योग्य यावत् मारने योग्य समझते हो वह प्राणी तुम्हारे समान ही शिर, पैर, पीठ, और पेट वाला है। यदि कोई प्राणी तुम्हें दुःख देवे यावत् मारने के लिए आता हो तो उसे देखा कर जिस प्रकार तुम्हें दुःख होता है उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी होता है। अथवा जिस काय को तुम हनन करने योग्य मानते हो उस काय में तुमने हजारों बार जन्म धारण किया है इसलिए यह समझो कि वह तुम ही हो। इस प्रकार विचार कर जो पुरुष समस्त जीवों को आत्मतुल्य समझता है वही श्रेष्ठ है। जो जीवों की हिंसा की जाती है उसका फल रण्य जीव की ही भोगना पड़ता है। अतः किमी भी प्राणी की रण्य बात न करे, न दूसरों से करवावे और करने वालों की अनुमोदना भी न करे ॥

ले आया से विण्णाया ले विण्णाया से आया, जेण वियाण्ड से आया तं पइच्च पडिसंखाए, एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिं ति वेमि ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थ:—(ले) जो (आया) आत्मा है (से) वही (विण्णाया) विघ्नता है और (ले) जो (विण्णाया) विघ्नता है (से) वही (आया) आत्मा है। (जेण) जिससे (वियाण्ड) पदार्थों को जानता है (से) वह (आया) आत्मा है। (त पडुय) उस ज्ञान परिणाम के कारण (पडिसंखाए) आत्मा ज्ञानवान् कहा जाता है। (एस) जो ज्ञान से अभिन्न आत्मा को मानता है वही (आयावाई) आत्मवादी है। उस पुरुष का (गमियाए) सम्यक् (परियाण) पर्याय (वियाहिं) कहा गया है (ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १६४ ॥

भावार्थ:—ज्ञान आत्मरूपी द्रव्य का पर्याय है इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि 'ले आया से विण्णाया' अर्थात् नित्य और

उपयोग रूप जो आत्मा है वही विज्ञाता है अर्थात् वस्तुओं को जानने वाला भी वही है किन्तु उस आत्मा से भिन्न ज्ञान पदार्थ का ज्ञाता नहीं है और जो पदार्थों को जानने वाला उपयोग है, आत्मा भी वही है क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग है और उपयोग ज्ञान रूप है। इस प्रकार ज्ञान और आत्मा का अभेद सम्बन्ध है। यह आत्मा ज्ञान परिणाम के कारण मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी आदि कहा जाता है। इस प्रकार जो पुरुष ज्ञान और आत्मा को अभिन्न जानता है वही आत्मवादी है। अतएव उसका संयमानुष्ठान सम्यक् है ॥

॥ इति पाँचवें अध्ययन का पाँचवाँ उद्देशक समाप्त ॥

पाँचवें अध्ययन का छठा उद्देशक

अ० पा०
छ० उ०

१७४

पाँचवें उद्देशक में कहा गया है कि आचार्य को तालाब के समान होना चाहिए। अब छठे उद्देशक में यह बतलाया जाता है कि ऐसे आचार्य के सम्पर्क से ही कुमार्ग का त्याग और रागद्वेष की हानि होती है।

अणायणए एगे सोवट्टाणा, आणए एगे गिरुवट्टाणा, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसयं, तदिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सएणी तण्णिवेसणे ॥ १६६॥

अन्वयार्थः—(गो) कितनेक पुरुष (अणायण) तीर्थन्दुर भगवान् की आज्ञा से विरुद्ध (सोवट्टाणा) प्रवृत्ति करते हैं और (एगे) कितनेक (आणए) तीर्थन्दुर भगवान् की आज्ञा के अनुसार (गिरुवट्टाणा) आचरण नहीं करते हैं। गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! (एय) यह (ते) तुम में (मा होउ) न हो। (एय) यह (सुयत्तस्स) तीर्थन्दुर भगवान् का (दण्ण) अभिप्राय है। अतः (तदिट्ठीए) आचार्य की दृष्टि एवं आगम की दृष्टि के और (तम्मुत्तीए) उनके द्वारा उपदेश की हुई मुक्ति के अनुसार तथा (तप्पुरक्कारे) आचार्य को आगे करके (तस्सएणी) उनके विचारों के अनुसार (तण्णिवेसणे) उनके निकट निवास करना चाहिए ॥ १६६ ॥

भावार्थः—कितनेक आत्मानि पुरुष तीर्थन्दुर भगवान् की आज्ञा की अवहेलना करके कुमार्ग में प्रवृत्ति करते हैं और कितनेक पुरुष कुमार्ग में प्रवृत्ति तो नहीं करते किन्तु आलसी होने के कारण सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट मार्ग में प्रवृत्ति भी नहीं करते हैं। ये दोनों ही बातें दुर्गति का कारण हैं। अतः उन दोनों बातों का त्याग करके सर्वज्ञ भगवान् के धर्माएँ हुए मार्ग पर चलना चाहिए और गुरु महा-

राज की आज्ञा का सदा पालन करना चाहिए ॥

अभिभूय अदक्स्व अणभिभूए पभू शिरालंबण्याए जे महं अबहिंमणे, पवाएण पवायं जाणिज्जा, सहसम्मइयाए परवागरणेणं अणोसिं वा अंतिए सुन्वा ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो पुरुष (मह) महान् यानी लघुकर्म है तथा (अबहिंमणे) जिसका चित्त तीर्थङ्कर की आज्ञा के बाहर नहीं है तथा (अभिभूय) परीषह उपसर्गों को जीत कर जिसने (अदक्स्व) तत्त्व को देखा है तथा जो पुरुष (अणभिभूए) परीषह उपसर्गों द्वारा पराजित नहीं हुआ है वह (शिरालंबण्याए) निरालम्ब रहने में (पभू) समर्थ होता है । (पवाएण) सर्वज्ञ के वाक्य से (पवाय) अन्यतीर्थियों के वाक्य की (जाणिजा) परीक्षा करे । (सहसम्मइयाए) अपनी बुद्धि से अथवा (परवागरणेण) आगम से (वा) अथवा (अणोसिं अंतिए) दूसरों के पास से (सुन्वा) सुन कर वस्तु स्वरूप को जाने ॥ १६७ ॥

भावार्थः—जो पुरुष परीषह उपसर्गों द्वारा तथा अन्यतीर्थियों द्वारा पराजित नहीं होता है वही पुरुष निरवलम्ब रहने में समर्थ होता है क्योंकि वह यह जानता है कि इस जगत् में माता पिता और स्त्री पुत्र आदि कोई भी दुर्गति में जाते हुए जीव की रक्षा नहीं कर सकते हैं, केवल तीर्थङ्कर भगवान् के वचनों का आचरण करने में ही दुर्गति से रक्षा हो सकती है ऐसा जान कर मोक्षार्थी पुरुष को तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा से ही अपना मन लगाना चाहिए और अन्यतीर्थियों की अणिमा आदि मिद्धियों को देख कर भी तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा से बाहर मन नहीं लगाना चाहिए । तीर्थङ्कर भगवान् के वचनों द्वारा अन्यतीर्थियों के मत की परीक्षा करे और वस्तु तत्त्व को समझे ।

शिद्देसं णाइवट्टेज्जा मेहावी सुपडिलेहिय सब्वओ सब्वयाए सम्ममेव समभिजाणिया इह आरामं परिएणाय अल्लीण-

गुप्तो परिव्रज् णिद्धियद्दी वीरे आगमेणं सया परममेज्जासि त्ति वेमि ॥ १६८ ॥

अन्यथार्थः—(मेहली) बुद्धिमान् पुरुष (स्पृतिहिय) अन्यतीर्थियों के सिद्धान्त को भली प्रकार जान कर तथा (मज्जथो) सब प्रकार से एवं (सज्जण-सज्जण) सामान्य विशेष रूप से (मम्ममेव-मम्म) सम्यक् (सण्णिज्जाणिया-समणिणाय) जान कर (शिरेस) सर्वज्ञ की आज्ञा का (णाइहेज्जा) उल्लाघन न करे । (इह) इस मनुष्य लोक में (आराम) संयम को (परिणाय) स्वीकार करके (अत्थो एणुत्ते) उसमें लीन होकर तथा पाप से आत्मा की रक्षा करता हुआ मुनि (परिण) सयम का पालन करे । (णिद्धियद्दी) मोक्षार्थी (वीरे) वीर यानी कर्मों के विचारण करने में समर्थ पुरुष (तथा) सदा (आगमेण) सर्वज्ञ प्रणीत आगम के द्वारा (परममेज्जासि) पराक्रम करे अर्थात् आगमानुसार सयम का पालन करे (ति वेमि) ऐसा म कहता है ॥ १६८ ॥

भावार्थः—बुद्धिमान् पुरुष अन्यतीर्थियों के मत को भली प्रकार जान कर उसका त्याग कर दे और तीर्थंकर भगवान् के मार्ग का अनुसरण करे । सयम स्वीकार करके अपनी इन्द्रियों और मन को वश में रखता हुआ मुनि कर्म रूपी शत्रुओं पर अपना पराक्रम दिखावे ।

उद्धं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया । एए सोया वियक्खाया, जेहिं संगं ति पासह ॥

अन्वयार्थः—(सोया) कर्मों के आश्रयद्वार (उद्धं) ऊपर भी हैं और (सोया) कर्मों के आश्रयद्वार (जेहिं) नीचे भी हैं तथा (सोया) कर्मों के आश्रयद्वार (तिरिय) तिर्छी दिशा में भी (वियाहिया) कहे गए हैं । (एए) ये (सोया) कर्मों के स्वोत यानी आश्रयद्वार (वियक्खाया) कहे गये हैं (जेहिं) जिन से (सग) प्राणियों को कर्ममन्थ होता है (इह) यह (पासह) देखो ॥

भावार्थः—ऊपर नीची और निछी अर्थात् सब दिशाओं में कर्मों के स्रोत यानी आश्रवद्वार हैं। जो उनमें आसक्त होता है उस प्राणी को कर्मों का बन्ध होता है। अतः विवेकी पुरुष को चाहिए कि आसक्त न होता हुआ शाश्वत रीति से पराक्रम करे ॥

आवट्टं तु पेहाए इत्थ विरमिज्ज वेयवी, विणइत्तु सोयं शिक्खम्म एसमहं अकम्मा जाणइ पासइ पडिलेहाए शावकंखइ इह आगइ गइं परिणाय ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थः—(वेयवी) आगम को जानने वाला पुरुष (आवट्ट—आवट्टमेय) आवर्त्त को (पेहाए—उवेहाए) देख कर (इत्थ) उससे (विरमिज्ज) निवृत्त हो जाय। (सोयं) आश्रवद्वार को (विणइत्तु) दूर करने के लिए (शिक्खम्म) प्रव्रज्या धारण करके (एस) यह पुरुष (मह) महान् और (अकम्मा) कर्म रहित होकर (जाणइ) पदार्थों को जानता है और (पासइ) देखता है। (पडिलेहाए) वह संसार को संसार जान कर तथा (गइ) प्राणियों की गति और (आगइ) आगति को (परिणाय) जान कर (शावकंखइ) संसार भ्रमण के कारण की इच्छा नहीं करता है ॥ १६६ ॥

नोटः—किसी किसी प्रति में 'इत्थ विरमिज्ज वेयवी' की जगह 'विवेग किट्ठं वेयवी' ऐसा पाठ भी पाया जाता है। जिसका अर्थ है—आगम को जानने वाला पुरुष आश्रवों के निरोध से कर्मों का आभाव बताता है।

भावार्थः—आगमों के रहस्य को जानने वाला पुरुष आसक्तों का निरोध करने के लिए प्रव्रज्या धारण करने शुद्ध सयम का पालन करता है। वह पूजा प्रतिष्ठा की इच्छा नहीं करता है। वह भग्नभ्रमण के कारणों को जान कर उनका त्याग कर देता है। ऐसा महापुरुष घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान उपार्जन करता है और समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्धपद को प्राप्त करता है ॥

अच्छेद जाइमरणस्स वडुमेग्गं विक्खायरए, सब्बे सरा णियडुंति, तक्का तत्थ ण विज्जइ, मई तत्थ ण गाहिया, ओए, अप्पइडाणस्स खेयणो, से ण दीहे ण हस्से ण वट्टे ण तंसे ण चउरंसे ण परिमंडले, ण किएहे ण नीले ण लोहिए ण हालिहे ण सुक्किळ्ले, ण सुरभिग्गे ण दुरभिग्गे, ण तिन्ने ण कडुए ण कसाए ण अंनिले ण महुरे ण लवणे, ण कक्खडे ण मउए ण गुरुए ण लहुए ण सीए ण उएहे ण णिद्रे ण लुक्खे ण काऊ ण रुहे ण संगे, ण इत्थी ण पुरिसे ण अएणहा, परिणो सएणे, उवमा ण विज्जइ, अरुवी सत्ता, अपयस्स पयं णत्थि ॥ १७० ॥

अन्वयार्थः—आश्रय द्वारों का निरोध करने वाला पुरुष (जाइमरणस्स) जन्म मरण के (वयणा) मार्ग को (अच्छेद) उल्लङ्घन कर जाता है तथा वह (विक्खायरए) निश्चयात्तरत यानी मोक्ष में रमण करने वाला होता है। वह मोक्ष स्थित जीव कैसा है? इस प्रश्न के उत्तर में शाल्यकार फरमाते हैं कि (सग्गे) सग (मरा) सग यानी शब्द (णियडुंति) उससे निवृत्त हो जाते हैं (तथ) वहा पर (तम्का) तर्क की भी (ण विज्जइ) प्रवृत्ति नहीं है और (मई) मति (तत्थ) उसको (ण गाहिया) ग्रहण कराने वाली नहीं है। (अण्ड-द्वणस्स) मोक्षस्थ जीव (ओए) सम्पूर्ण कर्म मल रहित अकेला (नेयणो) सम्पूर्ण ज्ञानमय वहा विराजित होता है। (से) वह (ण दीहे) न तो दीर्घ होता है और (ण हस्से) न दृश्य होता है। (ण वट्टे) वह न तो गोल होता है और (ण तसे) न त्रिकोण (ण चउरसे) न चतुष्कोण और (ण परिमंडले) न मण्डलाकार होता है। (ण णिले) वह न कण होता है (ण तोहिए) न लाल (ण हालिहे) न हारिद्र और (ण सुक्किन्ते) न शुक्ल—संकेद होता है। (ण सुरभिग्गे) वह न सुगन्ध वाला होता है और (ण दुरभिग्गे) न दुर्गन्ध वाला होता है। (ण तिन्ने) वह न तिक होता है (ण रुए) न कटु (ण कसाण) न कसेला (ण अंनिले) न खटा और (ण महुरे)

न मधुर होता है । (न लवणे) न नमकीन होता है (ए कखे) वह न कर्कश होता है (ए मउए) न मृदु होता है (ए गुए) न भारी होता है (ए लहुए) न हल्का होता है (ए उखे) न उष्ण होता है (ए सीए) न शील होता है (ए णिडे) न स्निग्ध-चिकना होता है और (ए लुक्खे) न रूक्ष होता है । (ए कळ) वह न शरीरी अथवा लेइयावान् होता है (ए खे) न जन्मने वाला होता है (ए सगे) न सङ्ग वाला होता है । (ए इत्थी) न स्त्री होता है और (ए अण्ह) न अन्यथा यानी नपुंसक होता है । (परिण्णे) वह समस्त पदार्थों को विशेष रूप से जानता है (सण्णे) वह समस्त पदार्थों को सामान्य रूप से भी भलीभांति जानता है (उवमा) उसकी कोई उपमा (ए विज्जइ) नहीं है । (अल्ली सत्ता) वह रूप रहित सत्ता है । (अयत्थस्म) उस वचनागोचर के लिए (पय) कोई वाचक शब्द (एत्थि) नहीं है ॥ १७० ॥

भावार्थः—इस ससार में जन्म मरण का कारण कर्म है । जो पुरुष जन्म मरण के कारणभूत कर्मों का सर्वथा क्षय कर डालता है वह मोक्ष पद को प्राप्त करता है । वह पुरुष जिस मोक्ष अवस्था को प्राप्त करता है उसको शब्द के द्वारा प्रकट करना शक्य नहीं है । वह तर्क का भी विषय नहीं है, औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की मति उस को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है, वह समस्त विकल्पों से अतीत है । उस परमपद रूप में स्थित पुरुष अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन सम्पन्न होता है । वह न लम्बा न छोटा न गोल न त्रिकोण न चतुर्कोण और न परिमण्डल होता है । वह न काला न नीला न लाल न पीला और न सफेद होता है । वह न सुगंध और न दुर्गंध वाला होता है । वह न तिक्त न कड़वा न कसैला न खट्टा और न भीठा होता है । वह न कठोर न कोमल न हल्का न भारी न ठण्डा न गर्म न चिकना और न रूक्ष होता है । वह न लेश्या वाला होता है और न शरीरधारी होता है तथा न पुनर्जन्म वाला होता है अर्थात् मुक्त जीव पुनर्जन्म रहित होता है, वह अमूर्त होने के कारण असङ्ग होता है । वह न स्त्री, न पुरुष और न नपुंसक होता है । वह अनन्त सुख में विराजमान है । उसके सुख की तुलना भी नहीं है जिससे वह उपमा के द्वारा भी जाना जा सके । मुक्तात्मा

की सत्ता रूपरहित है। उस आत्मा की कोई स्थूल अवस्था नहीं होती है इसलिए उनका वाचक कोई पद नहीं है। तात्पर्य यह है कि पदों के द्वारा जिनका कथन किया जाता है उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि में से कोई आशय होता है परन्तु मुक्तात्मा में इन सब का अभाव है ॥

से ए सदे ए रूपे ए गंधे ए रसे ए फासे इच्चेयावन्ति चि वेमि ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह मुक्त जीव (ए सदे) न शब्द है (ए ल्ने) न रूप है (ए गंधे) न गन्ध है और (ए फासे) न स्पर्श है। (इच्चेयावन्ति) ये इतने ही वस्तु के भेद हैं किन्तु मुक्त जीव में इनमें से कुछ भी नहीं पाया जाता है (चि वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥

भावार्थः—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गल के गुण हैं अर्थात् यह सब पुद्गल-जड में ही पाये जाते हैं किन्तु मुक्त जीव में इन में से कुछ भी नहीं पाया जाता है इसलिए उसका वाचक कोई शब्द नहीं है। उसकी अवस्था शब्दों द्वारा अवर्णनीय है ॥

॥ इति लोकसार नामक पाँचवाँ अध्ययन समाप्त ॥

धूताख्य नामक छठा अध्ययन

प्रथम उद्देशक

पौचवें अध्ययन में लोक में सार भूत सयस और मोक्ष का वर्णन किया गया है। वह मोक्ष निःसङ्ग हुए विना और कर्मों का क्षय किये विना नहीं होता है। इसलिये इन विषयों का प्रतिपादन करने के लिए छठे अध्ययन का आरम्भ किया जाता है। इस अध्ययन में कर्मों के विधूतन का यानी क्षय करने का उपदेश है इसलिये इसका नाम 'धूत' अध्ययन है।

ओबुल्लभमाणे इह माणवेसु आघाइ से गुरे, जस्स इमाओ जाइओ सुपडिलेहियाओ भवंति, आघाइ से शाणमणोलिसं, से किट्ठइ तेसिं समुट्टियाणं शिखित्तदंढाणं समाहियाणं पएणाणमंताणं इह मुत्तिमगं एवं एगे महावीरा विप्परक्कमंति, पासंह एगे अवसीयमाणे अणत्तपण्ये से वेमि, से जहा वि कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते पच्छएणपलासे उम्मगं से णो ल्हइ भंजगा इव सएणवेसं णो चयंति एवं एगे अणेगरुवेहिं कुलेहिं जाया रुवेहिं सत्ता कलुणं थयंति शियाणओ ते णं ल्हंति सुक्खं, अह पास तेहिं कुलेहिं आयत्ताए जाया ।

‘गंडी अहवा’ कोठी, रायंसी अवमारियं । काणियं भिमियं चैव, कुणियं खुज्जियं तथा ॥
उदरिं य पास मूयं च, खणीयं य गिलासणिं । वेवइ पीढसप्पि य, सिलिवयं महुमेहणिं ॥

सोलस एए रोगा, अक्खाया अणुणुव्वसो । अहं फुसंति आरंका, फोसा य असमंजसा ॥

मरणं तेसि संपेहाए उववायं चवणं य णच्चा परियागं य संपेहाए ॥ १७२—१७६ ॥

अन्वयार्थः—(ओबुल्लमणे) स्वर्ग और मोक्ष तथा उनके कारणों को एव संसार और उसके कारणों को जानने वाला (से) वह (णरे) मनुष्य (इह) इस मनुष्य लोक में (माण्वेसु) मनुष्यों के प्रति (आघाद) धर्म का उपदेश करता है । (जस्स) जिस मनुष्य को (इमाओ) ये (जाईओ) एकेन्द्रिय आदि जातिया (सब्बओ) सब प्रकार से (सुण्हिलेहियाओ) अच्छी तरह ज्ञात (भवति) होती हैं (से) वह (अणेत्तिस) अनुपम (णण) ज्ञान एव धर्म का (आघाद) कथन करता है । (समुट्ठियाण) धर्मोत्तरण करने के लिए तत्पर (णिक्खिण-दजाण) प्राणियों को दण्ड देने का त्याग किये हुए (समाहियाणां) तप और संयम में प्रवृत्त और (पण्णाणमंताणं) उसम ज्ञान सम्पन्न (तेसि) उन पुरुषों को (से) वे तीर्थङ्कर या गणधर आदि (सुत्तमण) मुक्तिमार्ग का (किद्ध) उपदेश करते हैं । (एव) इस प्रकार तीर्थङ्कर आदि के उपदेश को सुन कर (एणे) कोई (महावीरा) महान् वीर पुरुष (इह) इस लोक में (विपरक्कमति) कर्म रूपी शत्रुओं पर पराक्रम करते हैं । (अवसीयमाणे) समय में क्लेश पाते हुए (अणत्तपण्णे) आत्मकल्याण की बुद्धि से रहित (एणे) किन्हीं पुरुषों को (णसह) देखो । वे संयम के अनुष्ठान में जिस कारण से क्लेश पाते हैं (से) उसे (विमि) मैं बताता हूँ । (जहा वि) जैसे (पच्छण्णलासे) कमल के पत्तों से हैंके हुए (हरए) तालाब में (विणिबिद्धविसे) अपने चित्त को लगाया हुआ (कुम्मे) कछुआ (से) उसके (उम्मण) ऊपर आने के लिए विवर को (णे लहइ) प्राप्त नहीं करता है तथा (मंजण इव) जैसे वृक्ष (सरिण्वेसं) अपने स्थान को (णे चयति) नहीं छोड़ते हैं (एव) इसी तरह (एणे) कोई पुरुष (अणेगल्लेहिं) अनेक प्रकार के (कुलेहिं) कुलों में (जाया) उत्पन्न हुए (ल्लेहिं) रूपों में अर्थात् विषयों में (गता)

आसक्त हुए (कलुषं भणति) करुण रुदन करते हैं किन्तु (ते) वे (शिर्याण्यो) अपने कर्म से (मुख) मुक्ति यानी छुटकारा (ण लट्ति) प्राप्त नहीं करते हैं। (अह) अब (तेहि) उन (कुलेहि) कुलों में (आयत्ताए) अपने कर्मों का फल भोगने के लिए (जाया) उत्पन्न हुए पुरुषों को (पास) देखो। (गंडो) कोई गण्डी अर्थात् गण्डमाला के रोग से युक्त हैं (अहवा) और (कोढी) कोई कोढी हैं (रायसी) कोई राज-यक्ष्मा यानी क्षय रोग घाले और (अवमारिय) कोई अपस्मार यानी मृगी रोग युक्त होते हैं। (काणिय) कोई काणा (तहा) और (भिंमिय) कोई जड़ (कुणिय) कोई हस्तकटा यानी एक हाथ कटा हुआ और एक पैर कटा हुआ (वेव) और (खुलियं) कोई कुबड़ा होता है। (उदरि) कोई वात व्याधि के कारण बड़ा पेट वाला (नूय) कोई मूक-गूगा (सूणीय) कोई शोधयुक्त शरीर वाला (य) और (गिलासणि) कोई भस्मक रोग से युक्त होता है। (वेव) कोई कम्प युक्त शरीर वाला (पीठसर्पिं) कोई पीठसर्पिं यानी पीठ के बल रेंग कर चलने वाला एवं हाथ में लकड़ी पकड़ कर चलने वाला (सिलिवय) कोई श्लीपद रोग से युक्त (य) और (महुमेहणि) कोई मधु-प्रमेह रोग से युक्त होता है। (एए) ये (सोलस) सोलह (रोगा) रोग (अणुपुव्वसो) क्रमशः (अक्खाया) कहे गये हैं (पास) इन्हें देखो। (अह) ये (आयका) आतङ्क और (असमजसा) जीवन को शीघ्र नष्ट करने वाले शूल आदि रोग (य) और (फासा) दूसरे दुःख (जुसंति) प्राणियों को उत्पन्न होते हैं। (तेसिं) उनके (मरण) मरण को (सपेहाए) देख कर (य) और (ववाय) उत्पत्ति (य) तथा (ववण) व्यवन को (णट्वा) जान कर तथा (परियाग) कर्मों के परिणाम को (सपेहाए) देख कर ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे पूर्वोक्त रोगों का स्थान और दुःखों का भाजन न होना पड़े ॥ १७२—१७६ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान्, सामान्य केवली अथवा दूसरे अतिशय यानी या श्रतकेवली धर्मोपदेश देते हैं। यद्यपि ये

सामान्यतः समस्त प्राणियों के लिए धर्म का उपदेश करते हैं तथापि जो लोग धर्म के प्रति रुचि रखते हैं वे हलुकर्मी जीव ही उनका उपदेश सुन कर धर्माचरण करने के लिए तत्पर होते हैं। किन्तु जो लोग धर्माचरण करने में प्रमाद करते हैं उनकी बुद्धि आत्मकल्याण करने वाली नहीं है। इस विषय की समझाने के लिए शास्त्रकार ने कछुवे का दृष्टान्त दिया है। जैसे कि—किसी स्थान में एक सरोवर था। वह लाख योजन का विस्तार वाला था। वह शैवाल और लताओं से ढँका हुआ था। दैवयोग से सिरफ एक स्थान में एक हुतना छोटा सा छिद्र था जिसमें कछुए की गर्दन बाहर निकल सके। उस तालाब का एक कज्जुआ अपने ममूह से भ्रष्ट होकर अपने परिवार को ढूँढ़ने के लिए अपनी गर्दन को ऊपर उठा कर घूम रहा था। दैवयोग से उसकी गर्दन उसी छिद्र में पहुँच गई तब उसने आकाश की शोभा को देखा। आकाश में निर्मल चादनी छिटक रही थी जिससे ऐसा मालूम पड़ता था कि चौरसागर का निर्मल प्रवाह वहाँ रहा है और उसमें तारागण विकसित कमल के समान दिखाई पड़ते थे। आकाश का ऐसी शोभा को देख कर उस कछुवे ने सोचा कि—इस अपूर्व दृश्य को यदि मेरा परिवार भी देखे तो अच्छा हो। ऐसा सोच कर वह अपने परिवार को ढूँढ़ने के लिए फिर तालाब में घुसा जहाँ उसे उसका परिवार मिल गया तो उस छिद्र-विश को ढूँढ़ने के लिए निकला परन्तु वह छिद्र उसको फिर नहीं मिला। आखिर उस छिद्र को ढूँढ़ते ढूँढ़ते वह मर गया।

यह कछुवे का दृष्टान्त है। इसका दार्ष्टान्तिक यह है कि—यह मसार एक सरोवर है। जीव, रूपी कछुआ है जो कर्मरूपी शैवाल से ढँका हुआ है। किसी समय मनुष्य भव, आर्यक्षेत्र उत्तम कुल और सम्यक्त्व की प्राप्ति रूपी प्रवकाश को प्राप्त करके भी मोह के उदय से अपने परिवार के लिए विषयभोग उपार्जन में ही अपने जीवन को समाप्त करके फिर ससार में भ्रमण करने लगता है। उसको फिर यह सुयोग मिलना बड़ा कठिन है। अतः मैकड़ों जन्मों में भी दुर्लभ सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्य को एक क्षण भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

दूसरा दृष्टान्त धृत्त का है। जैसे धृत्त सद्दी, गर्भी, कम्प, शास्त्राद्धेदन आदि उपद्रवों को सहन करता हुआ भी कर्मपरवश होने से

अपने स्थान को नहीं छोड़ सकता है। इसी प्रकार भारीकर्म जीव धर्माचरण योग्य सामग्री के प्राप्त होने पर भी विषयों में आसक्त होकर नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख भोगते हुए करुण रुदन करते हैं फिर वे उन दुःखों के कारणभूत विषयों की एव गृह-वास को छोड़ते हैं। दुःख का कारण कर्म है उनके रहते हुए दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता है। इस ससार में अपने किये हुए कर्मों के फल को भोगने के लिए गण्डमाला, मूर्छा, काँड, मृगी आदि नाना प्रकार के रोगों से पीड़ित होते रहते हैं। अतः शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि हे भव्य जीवो ! गृहवास एव विषयभोगों में आसक्त रहने वाले प्राणियों की नाना प्रकार के रोगों से पीड़ित देख कर तथा बारबार जन्म मरण के दुःखों को विचार कर ऐसा कार्य करो जिससे इन रोगों का शिकार न बनना पड़े और जन्म मरण के चक्कर से छुटकारा हो जाय ॥

तं सुणेह जहा तहा अंधा तमसि वियाहिया, तामेव सइमसइमइयन्च उच्चावयफासे पडिसंवेइह, बुद्धेहि एयं पवेइयं संति पाणा वासगा रसगा उदए उदएचरा आगासगामिणो पाणा पाणे किलेसंति, पास लोए सहब्भयं । १७७।

अन्यथार्थः—(त) उसको यानी कर्म के फल को (जहा) जेसा है (तहा) वैसा (सुणेह) सुनो। (अथा) नेत्रहीन और (तमसि) अन्धकार में अर्थात् नरकगति आदि द्रव्य अन्धकार में और मिथ्यात्वादि भाव अन्धकार में रहे हुए (पाणा) जो प्राणी (वियाहिया) कने गये (सति) हैं। वे (तामेव) उसी अवस्था को (सइ) एक बार और (असइ) अनेक बार (अइयन्च) प्राप्त करके (उच्चावय) तीव्र और मन्द (फामे) दुःखों को (पडिसंवेइह) भोगते हैं (एय) यह (बुद्धेहि) सर्वज्ञ पुरुषों ने (पवेइय) कहा है। (वासगा) भाषा लब्धि से युक्त यानी नेइन्द्रियादि प्राणी (रसगा) कडवे वसैले रसों को जानने वाले अर्थात् संज्ञी (उदए) अन्धकार के जीव (उदएचरा) जल में निवास करने

वाले जलचर और (आगतसगामिणो) आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदि (गणा) प्राणी (मति) हैं। (गणा) वे प्राणी (गण) एक दूसरे प्राणी को (विलेसति) विलेश देते हैं। इस प्रकार (लोए) लोक में (महन्मय) महान् भय को (गण) देखो ॥ १७७ ॥

भावार्थः—इस जगत् में प्राणियों को महान् दुःख होता है। नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देव इन चारों गतिओं में पड़े हुए प्राणी अपने अपने कर्मा के फल को भोगने के लिए नाना प्रकार की वेदनाएँ सहन करते हैं। कोई जन्म से ही अन्धा होकर अनेकविध कष्टों को भोगता है और कोई नेत्रयुक्त होकर भी सम्यक्त्व रूपी भाव नेत्र से हीन होता है। कोई नरकगति आदि अन्धकार में पड़ा हुआ है तो कोई मित्यात्य, अग्निरति, प्रमाद और कृपाय आदि भाव अन्धकार में पड़ा हुआ है। यह भाव अन्धकार प्राणियों के लिए महान् दुःखदायी है। उन्मस पड़े हुए प्राणी दूसरे प्राणियों का ज्ञान करते हैं। इस प्रकार संसार महान् भय का स्थान है, यह ज्ञान कर जीव को इससे पार जानने के लिए शीघ्र ही ज्ञान दर्शन चारित्र का आश्रय लेना चाहिये ॥

बहुदुक्खा हु जंतवो, सत्ता कामेसु माणवा, अत्रलेण व्हं गच्छति सरिरेण पभंगुरेण अट्टे से बहुदुक्खे इइ बाले पकुव्वइ एए रोगा बहू शच्चआ आउरा परियावए खालं पास, अल तव एएहि, एयं पास भुणी ! महन्मयं शाइवाइज्ज कंचणं ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थः—इस संसार में (जंतवो) प्राणी (हु) निश्चय ही (बहुदुःखा) बहुत दुःखों से युक्त हैं। (माणवा) मनुष्य (कामेसु) कामभोगों में (सत्ता) आसक्त हैं। वे (अत्रनेण) चल रहित (पभंगुरेण) क्षणभंगुर (सरिरेण) शरीर के कारण (वह) वध को (गच्छति) प्राप्त होते हैं अर्थात् प्राणियों का वध करते हैं। (अट्टे) आर्त्त और (बहुदुःखे) बहुत दुःखों से युक्त (मे) वे (बाले) अज्ञानी प्राणी (इइ) इस लक्षण (गच्छतार) पक्षियों के लक्षण समान करते हैं। (अल) अत्र (गोता) समानता है या (अन्मयं) जान कर (आउरा)

उनसे आतुर वे प्राणी (बहु परिचाय) प्राणियों को बहुत परिताप देते हैं किन्तु चिकित्सा विधि (अल) कर्म को शान्त करने में समर्थ (ए) नहीं है, (पास) यह देखो । इसलिये (एहि) इन चिकित्सा विधियों से (तब) तुमको (अल) प्रयोजन नहीं है । अतः (मुणी) हे मुने ! (एय) इस सावद्य चिकित्सा में होने वाली जीव हिंसा (महन्मय) महान् भयदायक है (पास) ऐसा देखो । ऐसा देख कर (कचण) किसी भी प्राणी का (णइवाइज्ज) अतिपात न करो यानी किसी भी जीव की हिंसा न करो ॥ १७८ ॥

भावार्थ:—यह शरीर भूसे की मुट्टी की तरह सारहीन और नश्वर है तो भी अज्ञानी जीव उसे सुखी बनाने के लिए नाना प्रकार के पापों का सेवन करते हैं और उनसे कर्मों को बाध कर अनेकों बार मृत्यु को प्राप्त करते हैं । वे अज्ञानी जीव पाप कर्मों के अनुष्ठान से बहुत दुखों से युक्त होते हैं । उनके शरीर में रोग उत्पन्न होने पर उनकी निवृत्ति के लिए सावद्य चिकित्सा करते हैं किन्तु वे अज्ञानी इतना नहीं सोचते कि—पूर्वकृत पाप के फलस्वरूप यह रोग उत्पन्न हुआ है इसलिए उसका फल भोगे बिना जीवहिंसा से इसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ? जीवहिंसा से तो उल्टी दुख की वृद्धि होती है । इसलिए प्राणातिपातमय चिकित्सा में प्रवृत्ति नहीं करती चाहिए । प्राणातिपात महान् भय का कारण है । प्राणातिपात से आठो ही कर्मों का बन्ध होता है अतः किसी भी प्राणी का घात नहीं करना चाहिए ।

आयाण भो सुस्स ! भो धूयवायं पवेयइस्सामि इह खलु अत्तत्ताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण अभिसंभूया अभिसंजाया अभिणिव्वहा अभिसंबुद्धा अभिसंबुद्धा अभिणिव्वता अणुपुव्वेण महामुणी ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थ:—(भो) हे शिष्य (आयाण) तुम समझो और (सुस्स) सुनने की इच्छा करो । (भो) हे शिष्य ! (पवेयइस्सामि), मे

उस विधि का वर्णन करूँगा जिससे (धूतवायु) कर्मों का क्षयण किया जाता है। (खलु) निश्चय ही (इह) इस संसार में (अतताए) अपने अपने कर्मों के अनुसार (तेहि तेहि) उन उन नाना प्रकार के (हुनेहि) कुलों में (अभिसेण) शुक्र और शोणित के संयोग से (अभिसभूया) गर्भविस्था में कलल भाव को प्राप्त (अभिसजाया) अभिसंजात यानी पेशी भाव को प्राप्त (अभिविष्टा-अभिण्वुडा) इसके बाद अन्न उपाङ्ग से परिपूर्ण होकर बालक रूप में परिणत (अभिसुड्डा) गर्भ से बाहर जन्मे हुए (अभिसुद्धा) इसके बाद धर्मकथा सुनने के योग्य बने हुए एवं पुण्य पाप आदि पदार्थों को जान कर सत् और असत् के विवेक से युक्त (अभिविक्कता) तदनन्तर दीक्षा अंगीकार करके (अणुपुण्येण) अनुक्रम से (महाकुलो) महामुनि हुए हैं ॥ १७६ ॥

भावार्थः—श्रीसुधर्मास्वामी अपने शिष्य को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे शिष्य ! अब मैं धूतवाद का कथन करूँगा । आठ प्रकार के कर्मों को भड़काना धूत कहलाता है । इस जगत् में प्राणी प्रपन्न पूर्वकृत कर्मों के अनुसार नाना प्रकार के कुलों में उत्पन्न होते हैं । वे पहले तो माता पिता के शुक्र और शोणित के संयोग से उत्पन्न होकर सात दिन तक कलल रूप में और इसके पश्चात् उनके सम्पूर्ण अन्न और उपाङ्ग, तक अर्बुद रूप में फिर अर्बुद से पेशी रूप में और पेशी से घनरूप में उत्पन्न होते हैं । इसके पश्चात् उनके सम्पूर्ण अन्न और उपाङ्ग, नाडियों, शिर, रोम आदि घन कर तैयार होते हैं । फिर बालक रूप में जन्म लेते हैं फिर बड़े होकर वे धर्मकथा को सुन कर तथा आचारादि शास्त्रों को पढ़ कर बड़े हुए परिणाम वाले होकर प्रव्रज्या धारण करते हैं फिर वे गीतार्थ ब्रह्म कर आत्मकल्याण करते हैं ॥

तं परस्कमंतं परिदेवमाणा मा णे चयाहि इइ ते वयंति छंदोवणीया अज्झोववणा अक्कंदकारी जणगा रुयंति, अतारिसे मुणी ण य ओहंतरए जणगा जेण विषजढा, सरणं तत्थ णो समेइ, कंहु णु णाम से तत्थ रमइ ? एयं णाणं सया समणुवासिज्जासि ति वेमि ॥ १८० ॥

अन्वयार्थः—(पक्वमत) महापुरुषों के मार्ग से जाने के लिए उद्यत हुए (त) उस पुरुष के प्रति (परिदेवमाणा) उसके माता पितादि रोते हुए (ते) वे (इह) इस प्रकार (व्यति) कहते हैं कि—तुम (ये) हमें (मा) मत (च्यहि) छोड़ो । (अम्भदकारी) आक्रन्दन करते हुए (जणा) माता पितादि (स्थिति) रुदन करते हैं और कहते हैं कि (छदोवणीया) हम लोग तुम्हारी इच्छा के अनुसार चलने वाले हैं और (अज्मौवणा) तुम्हारे भरोसे पर रहते हैं । वे यह भी कहते हैं कि—पाछरिद्यों के धोखे में आकर (जैण) जिसने (जणा) माता पितादि को (विषज्जा) त्याग दिया है (अतारिसे मुणी) ऐसा मुनि नहीं हो सकता है (य) और वह (ओह) संसार को (ण तरण) पार नहीं कर सकता है । उनके इस प्रकार के कथन को सुन कर भी संसार के स्वरूप को जानने वाला पुरुष (तत्थ) उनको उस बात को (सण्ण ससेइ) स्वीकार नहीं करता है । क्योंकि (से) वह ज्ञानी पुरुष (तत्थ) गृहवास में (कह ण्णाम) कैसे (रमइ) रमण कर सकता है ? (एय) इस (णाण) ज्ञान को (सया) सदा (समणुवासिज्जासि) अपने हृदय में धारण करना चाहिए ।

भावार्थः—संसार के स्वरूप को भलीभाँति जान कर जो पुरुष प्रव्रज्या अङ्गीकार करने को तैयार होता है उसके माता पिता आदि ममता एवं मोह भरी बातें करके उसको गृहवास में रखने की कोशिश करते हैं किन्तु वह विवेकी पुरुष गृहवास को समस्त दुःखों का कारण समझ कर उसका त्याग कर देता है और समय स्वीकार कर आत्मकल्याण की ओर प्रप्रसर होता है ॥

॥ इति छठे अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

छठे अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

अ० छ०
द्वि० ३०

१६०

प्रथम उद्देशक में स्वजन वर्ग का त्याग बनाया गया है परन्तु वह त्याग तभी सफल हो सकता है जब कर्मों का विधूतन यानी क्षय किया जाय । अतः इस उद्देशक में कर्मविधूतन का उपदेश किया जाता है —

आउरं लोगमायाए चइसा पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसिता वंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं जहा तहा, अह एगे तमच्चवाई कुसीला ॥ १८१ ॥

अन्यार्थः—(लोग) लोक को (आउर) आतुर (आयाए) जान कर (पुव्वसजोग) पूर्वे संयोग को (चइसा) छोड़ कर (उवसम) उपशम भाव को (हिच्चा) प्राप्त करके और (वंभचेरंसि) ब्रह्मचर्य का (वसिता) पालन करके (वसु) साधु (वा) अथवा (अणुवसु) श्रावक (धम्म) धर्म के (जहा तहा) यथार्थ स्वरूप को (जाणित्तु) जान कर भी (अह) इसके वाद (एगे) कोई कोई (त) उस धर्म को (अच्चवाई) छोड़ देते हैं और (कुसीला) कुशील हो जाते हैं ॥ १८१ ॥

भावार्थः—ससार के स्वरूप को जान कर जो पुरुष मयम स्वीकार करते हैं वे उपशम भाव को प्राप्त होते हैं और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं किन्तु उनमें से कोई पुरुष मोह के उदय से तथा दोनहार के कारण उस धर्म को पालन करने में समर्थ नहीं होते हैं । अतएव वे कुशील बन जाते हैं ॥

वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं विउसिज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स

॥ १८२ ॥

इयाणि वा शुहुत्तेण वा अपरिमाणा भेओ एवं से अंतराणिहि कामेहि आकेवलिणिहि अवइएणा चेए ॥ १८२ ॥
अन्वयार्थः—(अणुपुब्बेण) अनुक्रम से या एक साथ उत्पन्न (उरुहियात्तए) दुस्सह (परीषहो) परीषहों को (अणहियासेमाणा) सहन न करते हुए कोई (वत्थ) वस्त्र (पडिग्गह) पात्र (कब्बल) कम्बल और (पायपु छण) रजोहरण को (विउसिज्जा) त्याग देते हैं अर्थात् साधु-वेप को छोड़ कर गृहस्थ बन जाते हैं। (कामे) काम भोगों में (ममायमाणस्स) आसक्त बने हुए उस पुरुष का (इयाणि) इसी समय यानी संयम छोड़ने के बाद ही (वा) या (शुहुत्तेण) मुहुर्त्तमात्र में (अपरिमाणाए) चिरकाल के लिए (भेए) वह शरीर नष्ट हो जाता है। (एव) इस प्रकार (से) वह भोगाभिलाषी पुरुष (अतराणिहि) बहुत अन्तराय और (आकेवलिणिहि) विघ्न बाधाओं से युक्त (कामेहि) काम भोगों से (अवइएणा) तृप्त हुए बिना ही (चेए) शरीर भेद को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १८० ॥

भावार्थः—मनुष्य जन्म पाना बड़ा दुर्लभ है। मनुष्य जन्म प्राप्त कर सर्वविरति रूप चारित्र अङ्गीकार करना तो और भी कठिन है। ऐसे चारित्र को अङ्गीकार करके जब दुःसह परीषहो का आक्रमण होता है तब उन्हें सहन करना बड़ा कठिन हो जाता है। कोई धीर पुरुष ही उन्हें सहन करते हैं। अधीर पुरुष तो उनसे घबरा कर संयम का त्याग करके गृहस्थ बन जाते हैं। वे विषयभोगों में आसक्त होकर विषयभोगों को भोगने के लिए प्रवृत्त होते हैं किन्तु अनेक विघ्न बाधाओं और अन्तराय के कारण वे अपनी इच्छा-नुसार भोग भोगे बिना ही शरीर को त्याग देते हैं। इस प्रकार वे मूर्ख संयम से भी भ्रष्ट हो जाते हैं और भोगों को भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अतः संयम स्वीकार करके उसे कदापि त्याग नहीं करना चाहिए ॥

अह एगे धम्ममायाय आयाणप्पभिइसु पणिहिए चरे, अप्पलीयमाणे दढे सव्वं गिद्धि परिएणाय, एस पणए महा-सुणी, अइयच्च सव्वओ संगं ण महं अत्थित्ति इय एगो अहं, अस्सि जयमाणे इत्थ विए अणगारे सव्वओ मुंडे रीयंते,

जे अचले परिशुसिए संचिखइ ओमोयरियाए, से आंकुडे वा हए वा लुंचिए वा पलियं पकथ अदुवापकथ अतहेहिं सद्फासेहिं इय संखाए एगयर अएणयर अभिएणाय तितिवखमाणे परिब्वए जे य हिरी जे य अहिरीमाणे ॥ १८३ ॥

अन्वयार्थः—(अह) इसते याद (एगे) कोई पुरुष (धम्म) धर्म को (आयाय) स्वीकार करके (आयाणवगिश्न) धर्मोपकरणों को रखते हुए (गणिहिण चरे) धर्म का आचरण करते हैं। (आलोयगले) वे माता पिता आदि में तथा लोक में आसक्त न होते हुए (इडे) धर्म में डूब तथा (मब्ब) समस्त (गिदि) भोगों की आकांक्षा को (परिएणाय) त्याग कर समय पालन करते हैं। (एल) यह (णण) कर्म-क्षय में तत्पर पुरुष ही (महायुणी) महामुनि हैं। वह पुरुष (सब्बओ) सब प्रकार के (गग) सद्गों को (अइयन्) छोड़ कर (इय) यह भावना करे कि (मह) इस जगत् में मेरा (ए अल्य) कोई नहीं है किन्तु (अह) में (एगे) अकेला ही हूँ। इस प्रकार (यसि) इस प्रवचन में स्थित (इत्य) विषय भोगों से (विए) विरत तथा (जयभाले) दस प्रकार की समाचारी का यत्नपूर्वक पालन करता हुआ (मुहे) द्रव्य और भाव से मुण्ड (अणगारे) अनगार (मन्यओ) सब प्रकार से (रीयते) संगमानुष्ठान में प्रवृत्त रहता हुआ (यनेले) अल्प वस्त्र से युक्त रहता है तथा (गरिबुणिए) अन्त प्रान्त आहार करता हुआ (ओमोयिरियाए) ऊनोदरी आदि तप करता हुआ (मनि-कपइ) रहता है। (से) उस मुनि को यदि कोई (आकुडे) आक्रोश करे (ग) अथवा (इए) दण्ड आदि के द्वारा मारे (वा) अथवा (लु चिए) केश लुचन करे (वा) अथवा (पतिय) पूर्वकृत अशुभ कार्यों का (पक्ख-यग्गे) कथन करके निन्दा करे (अदुम) अथवा (अपकथ-अपगये) कथन न करके दूसरे प्रकार से निन्दा करे (वा) अथवा (अतहेहिं) झूटे (मद्फासेहिं) शब्दों से तथा कष्टों से पीड़ित करे तो वह साधु (इय) इनको (सणण) अपने पूर्वकृत कर्मों का फल समझ कर सहन करे। (जे) जो (हिरी) मन में आल्लाह उत्पन्न

करने वाले (एग्यरे) अनुकूल परीषद है उन्हें (य) और (जे) जो (अहिरीमाणे) अग्रिय लगने वाले (अएण्यरे) प्रतिकूल परीषद हैं उन दोनों को (अभिरणाय) जान कर (तितिक्षमाणे) समभाव पूर्वक सहन करता हुआ साधु (परिव्वए) संयम का पालन करे ॥ १८३ ॥

भावार्थः—मोक्षार्थी पुरुष को पुत्र कलत्रादि के सब प्रकार के सगो को छोड़ कर तथा विषय की इच्छा को जीत कर यह भावना करनी चाहिए कि—इस संसार मे मेरा ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो मुझे संसार भ्रमण से बचा सके। अत इस संसार में मैं अकेला हूँ। कोई मेरा नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ। इस प्रकार की भावना करता हुआ मोक्षार्थी मुनि संयम का पालन करे। ऐसा करते हुए मुनि को यदि कोई गाली दे, अपमानित करे, दण्ड आदि के द्वारा मारे तो मुनि यह समझ कर उसको सहन करे कि—पूर्वकृत पापकर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता है इसलिए ये सब मेरे पूर्वकृत अशुभ कर्मों के फल हैं। इस प्रकार समझ कर जो मुनि अनुकूल और प्रतिकूल सब प्रकार के परीषदों को समभाव पूर्वक सहन करता है उसके कर्मों की निर्जरा होती है ॥

चिन्त्वा सत्त्वं विसृत्तियं संफासे फासे समियदंसणे, एए भो णगिणा वुत्ता जे लोर्यंसि अणोगमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्थोवरए तं भोसमाणे आयाणिज्जं परिणाय परिआएण विगिंचइ, इहमेगेसि एगचरिया होइ तत्थ इयरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सन्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्बि अदुवा दुब्बि अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति, ने फासे पुट्ठो धीरो अहियासिज्जासि चिचेमि ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थः—(समियदंसणे) सम्यग्दृष्टि साधु (सत्त्वं) सब (विसृत्तियं) सांसारिक सम्बन्धों को (चिन्त्वा) त्याग कर (फासे) परी-पहों से उत्पन्न दुखों को (सफासे) समभाव पूर्वक सहन करे (भो) हे शिष्य ! (जे) जो (लोर्यंसि) इस लोक में (अणोगमणधम्मिणो) दीक्षा लेकर फिर गृहवास में नहीं जाते हैं (एए) वे (णगिणा) भाव नग्न (वुत्ता) कहे गये हैं। वे (आणाए) आशानुसार (मामगं) मेरे (धम्मं) धर्म का पालन करते हैं। (इह) इस लोक में (माणवाणं) मनुष्यों के लिए (एस) यह (उत्तरवाए) उत्कृष्ट वाद (वियाहिए) कहा

गया है। (इत्योवरण) इस कर्म क्षय के उपाय स्वरूप सयम में रत रहने वाला पुरुष (त) कर्मों का (भोगमाणे) क्षय कर देता है। विवेकी पुरुष (आयाणिज्ज) कर्मों के स्वरूप को (परियाणाय) जान कर (परियाण) प्रवज्ज्या के द्वारा (विणिचइ) उन्हें अलग कर देता है। (इह) इस प्रवचन में स्थित (एगेसि) कोई (एगनरिया होइ) अकेले विचरते है। (तत्थ) वे अकेले विचरने वाले जिनकटपी (इयरा) दूसरे सामान्य साधुओं से विशिष्ट होते हैं। (से) वे (मेहावी) बुद्धिमान साधु (इयरोहिं हुनेहिं) अन्त प्रान्त कुलों में (सुदेसणाए) पयणा के दस दोषों से रहित और (सब्बेसणाए) उद्गम, उत्पादना आदि सब दोषों से रहित शुद्ध आहारादि द्वारा (परिव्वए) संयम का पालन करते हैं। वे (सुब्बिभ) सुगन्ध वाले (वा) अथवा (सुब्बिभ) दुर्गन्ध वाले आहार को समान मानते हैं। भयङ्कर स्थानों में अकेले रहते हुए साधु को यदि (भेत्वा) भयङ्कर शब्द सुनाई दें (अ, वा) अथवा जो (पाणा) प्राणी (पाणे) अन्य प्राणियों को (भिल्लेसति) मारते हैं उनके द्वारा सताये जाने पर (ते) उस (फाले) दुःख का (पुट्ठो) स्पर्श पाकर (भारे) भीर पुरुष (अधियासिज्जसि) समभान पूर्वक सहन करे (नि चेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १८४ ॥

भावार्थ:—तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञानुसार मयम का पालन करने वाले जो पुरुष सभ प्रकार के परीपह के कष्टों को सहन करते हैं और परिग्रह से रहित होते हैं वे पुरुष भाव से नग्न कहे जाते हैं। वे किसी भी सासारिक पदार्थ में ममत्व नहीं रखते हैं। इस जैन प्रवचन में स्थित कोई अभिग्रहधारी एव जिनकम्पी आदि साधु अकेले विचरते हैं। उनके नाना प्रकार के अभिग्रहविशेष और तपोविशेष होते हैं। वे दूरे सामान्य साधुओं से विशिष्ट होन हैं। उन्हें अन्त प्रान्त सुगन्ध दुर्गन्ध जैसा भी आहार मिल जाता है वे उसमें समभाव रखते हैं। अकेले विचरते हुए वे भयङ्कर शब्दों को सुन कर या हिसक प्राणियों द्वारा सताये जाने पर भी घबराते नहीं हैं और शुद्ध सयम का पालन करते हैं ॥

॥ इति छठे अभ्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

दूसरे उद्देशक में कर्मों के ध्वनन का उपदेश किया गया है किन्तु वह शरीर और उपकरणों के ध्वनन के विना सम्भव नहीं है। इस लिए हम उद्देशक में शरीर और उपकरणों के ध्वनन का उपदेश दिया जाता है—

एयं तु आयाणं सया सुयक्वायधम्मे विधूयकण्णे णिज्जोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ-परिजुएणे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, संधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि बुक्क-सिस्सामि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अएणयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसम-एणागए भवइ, जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चो सव्वओ अव्वयाए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा, एवं तेसिं महा-वीराणं चिर रायं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणानं दवियाणं पास अहियामियं ॥ १८५ ॥

अन्वयार्थः—(सुयक्वायधम्मे) सर्वज्ञ प्रणीत धर्म का आचरण करने वाला और (विधूयकण्णे) साधु के आचार को भलीभांति पालन करने वाला (मुणी) साधु (ख) निश्चय ही (एय) पूर्वोक्त तथा आगे कहे जाने वाले धर्मोपकरणों से भिन्न वस्त्र आदि को (आयाण) कर्म बन्ध का कारण समझ कर (णिज्जोसइत्ता) उन्हें त्याग देते हैं। (जे) जो साधु (अचेले) अल्प वस्त्र ये युक्त अथवा वस्त्र रहित जिनकल्पी (परिवुसिए) संयम में स्थित हैं (तस्स) उस (भिक्खुस्स) साधु को (एनं) ऐसा विचार (णो भवइ) नहीं होता है कि (मे)

मेरे (वत्ये) वस्त्र (परिबुण्णे) जीर्ण हो गये हैं इसलिये (वत्ये) वस्त्र की (जाइस्सामि) याचना करूँगा (सुत्तं) सूत्र यानी डोरे की (जाइस्सामि) याचना करूँगा (सुइ) सूई (जाइस्सामि) माँग लाऊँगा फिर (सधिस्सामि) वस्त्र को जोड़ूँगा (सीविस्सामि) सीऊँगा (वक्कस्सिस्सामि) उसे बढ़ा बनाऊँगा (वुक्कस्सिस्सामि) उसे छोटा बनाऊँगा (परिहिस्सामि) उसे पहनूँगा या (पाजणिस्सामि) ओढ़ूँगा (अदुवा) अथवा (तत्थ) वहाँ (अचेल) अल्पवस्त्र वाले तथा वस्त्र रहित (परक्कमंत) विचरते हुए मुनि को (तणफासा) कभी तृण स्पर्श का (फुसति) दुःख होता है (सीय-फासा) कभी शीत स्पर्श का (फुसति) दुःख होता है और (तेउफासा) कभी गर्मी के स्पर्श का (फुसति) दुःख होता है तथा (दसमसग-फासा) कभी डाल और मच्छरों का स्पर्श (फुसति) पीड़ित करता है । (लावव आगममाणे) कर्मों को हलका करता हुआ (अचेल) अचेल यानी अल्पवस्त्र वाला अथवा वस्त्र रहित मुनि (एगयरे) एक या (अणणयरे) अनेक और (विल्लव्वे) नाना प्रकार के (फासे) कष्टों एवं परीपहों को (अहिंयासेइ) सहन करता है । इस प्रकार (से) वह साधु (तवे) तप को (अभिसमणणाण) प्राप्त होता है । (जहेय) जिस प्रकार (भगवथा) भगवान् महावीर स्वामी ने (पवेइय) फरमाया है (तमेव) उसे (अभिसमिच्च) अच्छी तरह जान कर (सव्वओ) सब प्रकार से और (सज्जयाण) सर्व रूप से (ममत्तमेव) सम्यक् अनुष्ठान करे । (एव) इस प्रकार (चिराय पुब्बाइ वासाणि) बहुत वर्षों तक यानी जीवन पर्यन्त (तेसि) उन (रीयमाणण) संयम सहित विचरने वाले (दविथाण) द्रव्य यानी मुक्ति-गमन योग्य (महावीराण) महावीर पुरुषों के (अहिंयासियं) समभाव पूर्वक परीपह सहन को (पास) देखो ॥ १८५ ॥

भावार्थ:—धर्मोपकरणों से भिन्न पदार्थों को कर्मबन्ध का कारण जान कर मुनि उनका त्याग कर देते हैं । अचेल यानी अल्प वस्त्र रख कर संयम पालन करने वाले मुनि को वस्त्र सम्बन्धी भिन्ता नहीं होती है कि—मेरा वस्त्र जीर्ण होगया है । अब मेरे शरीर की रक्षा किस तरह होगी ? तथा सर्दों से कैसे बच सकूँगा ? अब मुझे किमी श्रावक से वस्त्र मागना चाहिए अथवा फटे हुए वस्त्र को

सीने के लिए सूई डोरा लाना चाहिए ।

अथवा इस सूत्र की व्याख्या जिनकल्पी की अपेक्षा करनी चाहिए । जो जिनकल्पी मुनि होते हैं वे वस्त्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता करते ही नहीं हैं क्योंकि वे वस्त्र रहित होते हैं । ऐसे मुनि को कभी वस्त्र की शय्या पर सोने से वस्त्रों का रूच स्पर्श पीड़ित करता है । इसी प्रकार उन्हें कभी और कभी डास मच्छर आदि के कष्ट सहन करने पड़ते हैं । इस प्रकार वे कागाक्लेश रूप तप करते हैं ऐसा तीर्थङ्कर भगवान् फरमाते हैं ॥

-आगयपएणाणाणं किंसा बाहा भवंति पयणुए य मंससोणिए विस्सेणि कट्टु परिणाय, एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति वेमि ॥ १८६ ॥

अन्वयार्थः—(आगयपएणाणाणं) जिनको पदार्थों का ज्ञान हो गया है उन महापुरुषों की (बाहा) भुजाएँ तपस्या के कारण (किंसा) कष्ट (भवन्ति) हो जाती हैं (य) और (मंससोणिए) उनके मांस तथा रक्त भी (पयणुए) कम हो जाते हैं । राग द्वेष और कपाय-रूपी संसार में उतरने की जो श्रेणी है उसे (परिणाय) जान कर जो पुरुष क्षान्ति आदि के द्वारा (विस्सेणि कट्टु) विश्रेणी करके अर्थात् नष्ट करके समय में रत रहता है (एस) वह (तिण्णे) संसार से तिरा हुआ (मुत्ते) मुक्त और (विरए) विरत (वियाहिए) कहा गया है (त्ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १८६ ॥

भावार्थः—जो मुनि संसार के स्वरूप को भली प्रकार जान लेता है उसे किसी भी पदार्थ पर समत्व भाव नहीं होता है । वह तपस्या में रत रहता है जिससे उसके शरीर का रक्त और मांस सूख कर कम हो जाता है । यह संसार के कारणभूत रागद्वेष कपायादि को भी नष्ट कर देता है । वह तीर्थङ्कर के वचनानुसार उत्तम मयस के पालन में तत्पर रहता है । ऐसे गुणों से युक्त मुनि को संसार से पार हुआ ही जानना चाहिए ॥

विरयं भिक्खुं रीयंतं चिररात्रोसियं अरई तत्थ किं विधारए ? संघेमाणे समुट्ठिए, जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्ममे आरियपदेसिए, ते अणवकंलमाणे पाणे अणइवाएमाणा दइया मेहाविणो पंडिया, एवं तेसि भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दिया पोए एवं ते सिस्सा दिया य राओ य आणुपुव्वेण वाइय त्ति वेमि ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थः—(विरय) विरत यानी पापस्थानों से निवृत्त (रीयत) प्रशस्त मार्ग में गमन करते हुए (चिररात्रोसिय) चिर काल तक संयम में रहते हुए (भिक्खु) साधु को (किं) क्या (तत्थ) संयम में (अरई) अरति (विधारए) उत्पन्न हो सकती है ? (समुट्ठिए) कर्म-क्षय के लिए उद्यत साधु (संघेमाणे) उत्तरोत्तर गुणस्थानों में चढ़ता जाता है। (जहा) जिस प्रकार (से) वह (दीवे) द्वीप (असंदीणे) जलबाधा से रहित होता है (एव) इसी प्रकार (से) वह (आशियदेमिए) आचार्य महाराज का उपदेश किया हुआ (धम्म) धर्म है। (ते) वे (अणवकलमाणे) भोगों की इच्छा न करने वाले (गणे) प्राणियों की (अणइवाएमाणा) हिंसा न करने वाले (दइया) शुभ प्रवृत्ति करने के कारण सब लोगों के प्रिय (मेहाविणो) मेधावी और (पंडिया) पण्डित हैं। (एव) इस प्रकार (तेसि) उन (भगाओ) तीर्थंकर भगवान् के (अणुट्ठाणे) धर्म में जो सम्यक् प्रकार से उदित नहीं हैं (से) उनको आचार्य उसी प्रकार पालन करें (जहा) जैसे (दिया) पत्नी (पोए) अपने बच्चे का पालन करता है। (एव) इस प्रकार आचार्य के द्वारा (दिया) दिन (य) और (राओ) रात (आणुपुव्वेण) क्रमशः (वाइय) पढ़ाये हुए (ते) वे (सिस्सा) शिष्य संसार को पार करने में समर्थ हो जाते हैं (नि वेमि) ऐसा मे कहता हूँ ॥ १८७ ॥

भावार्थः—जो साधु असयम से निवृत्त हो चुका है और प्रशस्त मार्ग में विचरण करता है और जो चिरकाल तक सयम में स्थित रह चुका है उस पुरुष को क्या सयम में अरति उत्पन्न हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—हाँ हो सकती है क्योंकि

कर्मों का परिणाम विचित्र है और मोह की शक्ति अति प्रबल है । अतः ऐसे साधु को भी समय में अरति उत्पन्न हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । अथवा इस पाठ का यह अर्थ भी हो सकता है कि—उपरोक्त गुण वाले साधु को क्या कभी अरति उत्पन्न हो सकती है ? अर्थात् नहीं, क्योंकि वह उत्तरोत्तर गुणस्थानों को स्पर्श करता हुआ यथाव्याप्त चारित्र के सन्मुख हो जाता है । जिस प्रकार जल-बाधा से रहित द्वीप समुद्रयात्रियों के लिए शरणभूत होता है उसी प्रकार उपरोक्त गुण सम्पन्न मुनि दूसरे साधुओं के लिए आधारभूत होते हैं । ऐसे गुणों वाला मुनि केवल अपनी ही रक्षा नहीं करता किन्तु दूसरे को भी यदि समय में अरति उत्पन्न हो जाय तो वह उसे भी दूर करके उसकी रक्षा करता है । जैसे पक्षी अपने बच्चे को तब तक पालन करता है जब तक वह उड़ कर अन्यत्र जाने लायक नहीं हो जाता उसी प्रकार आचार्य तब तक अपने शिष्य की रक्षा करे जब तक वह धर्म में निपुण नहीं होता है । इस प्रकार आचार्य द्वारा शिक्षा पाया हुआ मुनि ससार को पार करने में समर्थ हो जाता है ॥

॥ इति छठे अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

छठे अध्ययन का चौथा उद्देशक

तीसरे उद्देशक में शरीर और उपकरणों को कुश करने का उपदेश दिया गया है किन्तु वे तब तक पूर्णरूप से कुश नहीं होते जब तक मनुष्य तीन प्रकार के गौरव (गारव) का त्याग नहीं करता है। अतः इस उद्देशक में तीन गौरवों के त्याग का उपदेश दिया जाता है:—

एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुब्बेण वाइया तेहिं महावीरेहिं पणणाणमंतेहिं तेसिमंतिए पणणाणमुवलब्भ हिच्चा उवसमं फारुसियं समाइयंति, वसित्ता बंभचेरसि आणं तं णोत्ति मणमाणा आघायं तु सुच्चा गिसम्म, सम-णुएणा जीविससामो एगे शिक्खमंते असंभवता विडब्भमाणा कामेहि गिद्धा अज्झोववएणा समाहिमाघायमजोसयंता सत्थारमेव फरुसं वयंति ॥ १८८ ॥

अन्वयार्थः—(तेहिं) उन (महावीरेहिं) महावीर (पणणाणमतेहिं) ज्ञानवन्त आचार्यों द्वारा (दिया) दिन (य) और (राओ) रात (एव) इस प्रकार (अणुपुब्बेण) क्रमशः (वाइया) पढाये हुए (ते) वे (सिस्सा) शिष्य (तेसिं) उन आचार्यों के (अतिए) पास से (पणणाण) ज्ञान को (उवलब्भ) प्राप्त करके फिर मोह के उदय से (उवसम) उपशम भाव को छोड़ कर (फारुसिय) परकृतता को (समाइयति) धारण करते हैं यानी अभिमानी बन जाते हैं। कोई (बभचेरसि) ब्रह्मचर्य में (वसित्ता) रत रहते हुए भी यानी मंथ्र का पालन करते हुए भी (त) उस (आण) आशा को यानी तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा को (णोत्ति मणमाणा) देश से न मानते हुए प्रवृत्ति करते हैं। (आघाय) कुशीलों की दुर्दशा को (सुच्चा) सुन कर और (गिसम्म) समझ कर भी शिक्षक को ही कठोर वचन कहते हैं। (समणुएणे)

लोक में माननीय होकर (जीवितसामो) हम जीवन व्यतीत करेंगे ऐसा जान कर (एके) कोई (शिवखमंते) गृहबन्धन से निकल कर (अस-भवंता) मोक्षमार्ग में चलने के लिए समर्थ न होते हुए अतएव (विहङ्गमाणा) नाना प्रकार से हृदय में जलते हुए एवं (कामेहिं) काम भोगों में (गिद्धा) गृह्णतु और (अङ्गोववणा) तीन गारवों में आसक्त बने हुए (आधाय) तीर्थकर भगवान् द्वारा कही हुई (समाहिं) समाधि का (अजोसयता) सेवन न करते (सत्प्रासेव) उपदेशक को ही (फत्स) फठोर वचन (व्यति) कहते हैं ॥ १८८ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार पक्षी अपने बच्चे को खिला पिला कर और निरन्तर उसकी देखरेख रखता हुआ उसका पालन करता है, इसी प्रकार आचार्य भी अपने शिष्यों को यथासमय शास्त्र पढा कर तथा नियमों का पालन करा कर उनकी रक्षा करता है। इस प्रकार वे शिष्य यद्यपि बहुश्रुत होकर बड़े निपुण हो जाते हैं तथापि कोई कोई शिष्य प्रबल मोह के उदय से अभिमानी हो जाते हैं और दूसरों का अपमान एवं निन्दा करते हैं और कोई कोई शिष्य तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा की अवहेलना करके समय में शिथिल-लाचारी बन जाते हैं। उन्हें शिष्टा देने पर वे उस शिष्टक का ही अपमान करते हैं। ऐसे लोग शास्त्रोक्त समाधि का सेवन नहीं करते हैं और उन्हें आत्मशान्ति भी प्राप्त नहीं होती है ॥

सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा असीला अणुवयमाणस्स विइया मंदस्स बालया ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थः—(सीलमंता) शीलसम्पन्न (उवसंता) उपशान्त और (संखाए) विवेक पूर्वक (रीयमाणा) संयम का पालन करने वाले साधुओं को (असीला) “ये अशील हैं” (अणुवयमाणस्स) ऐसा कहने वाले (मंदस्स) मूर्ख की (विइया) यह दूसरी (बालया) मूर्खता है ॥ १८९ ॥

भावार्थः—जो पुरुष शीलसम्पन्न हैं, कषायों के शान्त होने से उपशान्त हैं तथा विवेकपूर्वक संयम का पालन करते हैं। ऐसे महात्माओं को अशील कहना अज्ञानियों का काम है। वे अज्ञानी स्वयं संयम का पालन नहीं करते हैं यह उनकी पहली मूर्खता है और

सयम का पालन करने वाले महात्माओं को अशील कहना यह उनकी दूसरी सुखता है ॥

शियद्वुमाणा वेगे आयागोयरमाडव्वंति, णाणब्भट्ठा दंसणलूसिणो ॥ १६० ॥

अन्वयार्थः—(शियद्वुमाणा) सयम से निवृत्त होते हुए (एणे) कोई कोई (आयागोयर) आचार के स्वरूप को (आडव्वंति) ठीक बताने हैं परन्तु (णाणब्भट्ठा) ज्ञान अष्ट पुरुष (दंसणलूसिणो) दर्शन का नाश कर डालते हैं ॥ १६० ॥

भावार्थः—कोई पुरुष कर्म के उदय से सयम का पूर्णतया पालन करने में समर्थ नहीं होते हैं फिर भी उनकी प्रकृपणा शुद्ध होती है। इन पुरुषों के आचार में दोष होने पर भी ज्ञान में कोई दोष नहीं है। अतः ये ज्ञान से अष्ट न होने के कारण दर्शन को दूषित नहीं करते हैं परन्तु जो ज्ञान से भी अष्ट है और अपने असयम जीवन एवं शिथिलाचार का समर्थन करते हुए उसे शास्त्रसम्मत बताने की धृष्टता करते हैं वे दर्शन का नाश करने वाले महाप्रज्ञानी हैं ॥

णममाणा वेगे जीवियं विप्परिणामंति पुट्ठा वेगे णियद्वंति जीवियस्सेव कारणा, णिक्खंतं वि तेसि दुरिणवखंतं भवइ, वालवयणिज्जा हु ते णरा पुणो पुणो जाइं पक्खिपति अहे संभवता विदायमाणा अहमंसीति विउक्कसे उदासीणे फरुसं वयंति, पलियं पक्कथे अदुवा पक्कथे अतहेहिं, तं वा मेहावी जाणिज्जा धम्मं ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थः—(एणे) कोई (णममाणा) ऊपर से विनय करते हुए भी (जीविय) सयम जीवन से (विप्परिणामति) अपने आप को गिरा देते हैं (वा) और (एणे) कोई (पुट्ठा) परीपहों के स्पर्श पाकर (जीवियस्सेव कारणा) असंयम जीवन की रक्षा के लिए (शियद्वंति) संयम से निवृत्त हो जाते हैं। (तेसि) उनका (एक्कत वि) निष्क्रमण भी (दुरिणम्यत) दुर्निष्क्रमण (भवइ) होता है। (ते) वे (णरा) मनुष्य

(बालवयसिज्जा) अशानी जीवों के द्वारा भी निन्दनीय होते हैं। वे (पुणो पुणो) बारबार (बाइ) जन्म मरण को (पक्कपति) प्राप्त होते हैं। वे अज्ञानवश (अहे) नीन् स्थान में (संभवता) रहते हुए भी (विद्यायाणां) वे अपने आप को विद्वान् समझते हैं और (अहमंसींति) मैं ही बहुश्रुत हूँ ऐसा मानते हुए (विउक्कमे) वे अभिमान करते हैं। वे (उदसीणे) रागद्वेष रहित पुरुषों को (फल्ल) कटुवचन (वयति) कहते हैं। वे (पलिय) साधु के पूर्वाचरण को बता कर (फक्खे) निन्दा करते हैं (अदुजा) अथवा (अत्तहेहिं) मिथ्या दोषों के द्वारा (फक्खे) निन्दा करते हैं परन्तु (मेहावी) साधु की भयंदा में स्थित बुद्धिमान् साधु (त) उस (धम्म) श्रुत चारित्र रूप धर्म को (जाणिज्जा) भलीभांति जानें ॥ १६१ ॥

भावार्थः—कितनेक पुरुष सयम स्वीकार करके फिर विषयभोगों में गृह बन् कर असयम जीवन धारण कर लेते हैं। ऐसे पुरुषों का सयम स्वीकार करना निरर्थक है क्योंकि उनका जन्म मरण के चक्र से छुटकारा हो नहीं सकता। वे अपने आपको विद्वान् मानते हुए महापुरुषों की निन्दा करते हैं और उनके ऊपर मिथ्यादोषारोपण करने से भी नहीं हिचकते हैं। अतः बुद्धिमान् साधु को चाहिए कि वह उपरोक्त कार्यों से अलग रहता हुआ श्रुत-चारित्र रूप धर्म का भलीभांति पालन करे ॥

अहम्मट्ठी तुमं सि शाम वाले आरंभट्ठी अणुवयमाणे, हण पाणे धायमाणे हणओ यावि समणुजणमाणे, ओरे धम्मे, उदीरिए उवेहइ णं असाणाए, एस विसण्णे विवहे वियाहिए त्ति वेमि ॥ १६२ ॥

अन्वयार्थः—तीर्थदूर भगवान् की आज्ञा की उपेक्षा करने वाले पुरुष को लक्ष्य कर शास्त्रकार फरमाते हैं कि—(तुम) तुम (अहम्मट्ठी) अधर्मीयों (सि) हो क्योंकि (वाले शाम) तुम अशानी हो अतएव (आरंभट्ठी) तुम आरम्भ में प्रवृत्त रहते हो (अणुवयमाणे)

प्राणियों की घात का चवन कहते हुए तुम कहते हो कि—(गण्) प्राणियों का (हण) घात करो (पायमाण्) इस प्रकार दूसरों से प्राणियों का घात कराते हुए (य) और (हणश्चो ऋषि) घात करने वालों का (समणुजाणमाण्) अनुमोदन करते हुए अधर्म में रत रहते हो। तुम कहते हो कि तीर्थङ्कर भगवान् ने (घारे) घोर (धम्मे) धर्म (उदीरिण्) कहा है इसलिये उसका आचरण कठिन है ऐसा कह कर तुम (उवेदह्) धर्म की उपेक्षा करते हो और (अणुणाण्) तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हो। (एस) यह उपरोक्त पुरुष (विसल्ले) विषयभोगों में आसक्त तथा (विपरं) प्राणियों का हिंसक (विवाहिण्) कहा गया है (नि वेमि) ऐसा मे कहता हूँ ॥ १६२ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा की उपेक्षा करने वाले पुरुषों को लक्ष्य करके शास्त्रकार फरमाते हैं कि मृद्धिगारव रस और साता गारव इन तीन गारवों में एव कामभोगों से आसक्त बने हुए जीव पश्चन पाचनावि क्रिया में प्रवृत्त होकर स्वयं हिंसा करते हैं, दूसरों से करवाते हैं और करने वालों का अनुमोदन करते हैं। वे आरम्भ में प्रवृत्ति करने वाले अज्ञानी हैं ॥

किमणेष भो ! जणेण करिस्सामिच्चि मणमाणे एवं एगे वइत्ता मायरं पियरं हिच्चा सायओ य परिगहं वीराय-
माणा समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वया दंता पस्स दीणे उप्पइए पडिवयमाणे वसट्ठा कायरा जणा लूसगा भवंति, अहमेगेसि
सिलोए पावए भवइ, से समयो भविच्चा विब्भंते समणविब्भंते समणविब्भंते पासह एगे समणणागएहि सह असमणणागए
णममाणेहि अणममाणे चिरएहि अविरए दविण्हि अदविण्हि अभिसमिच्चि पंडिए मेहावी णिडियहे वीरे आगमेणं सया
परक्कमिज्जासि चि वेमि ॥ १६३ ॥

अन्यार्थः—(ओ) शास्त्रकार सम्बोधित कर कहते हैं कि हे भव्यो ! (पत्स-यास) तुम इस बात को देखो कि (एगे) कितनेक पुरुष (एव) इस प्रकार (वद्वा) कह कर कि (अणेण) इस (जणेण) जन से (किं) क्या (करिस्सामिन्ति) करूँगा अर्थात् इन लोगों से मुझे क्या प्रयोजन है ? (माय) माता (पिय) पिता (गायथो) ज्ञाति जन (य) और (परिगह) परिग्रह को (हिच्चा) छोड़ कर (वीराय-माण) वीर की तरह आचरण करते हुए (समुद्वा) प्रव्रज्या धारण करके (अविहिंसा) हिसारहित (सुव्या) श्रेष्ठ व्रत वाले तथा (दत्ता) इन्द्रियों को दमन करने वाले होते हैं। इस प्रकार (उप्पइए) समय की श्रेणी पर चढ़ कर फिर (दीणे) दीन बन कर (णडिवयमाणे) कर्म के उदय से दीक्षा को त्याग कर पतित हो जाते हैं। (वसद्धा) वे इन्द्रियों के वशीभूत (कायरा) कायर (जणा) पुरुष (लूसणा) व्रतों का नाश करने वाले (भनति) होते हैं। (अह) इसके बाद (एगेसि) दीक्षा छोड़ कर पतित बने हुए किसी पुरुष की (णवए सिलोए) जगत् में निन्दा (भवइ) होती है कि (से) वह (समणे) श्रमण (भविता) होकर (विब्भते) अत्र दीक्षा छोड़ कर भटकता फिरता है (समणविब्भते) यह दीक्षा छोड़ कर भटकता फिरता है। (एगे) कोई पुरुष (समणणाणहिं सह) उग्रविहारी पुरुषों के साथ रहते हुए भी (असमणणाण) शिथिल विहारी हो जाते हैं तथा (णममाणेहिं) विनयवान् पुरुषों के साथ रहते हुए भी (अमणमाणे) विनय रहित और (विरण्हि) अविरत एवं (दविण्हिं) द्रव्य यानी पवित्र पुरुषों के साथ रहते हुए भी (अदविण्ण) अद्रव्य यानी अपवित्र हो जाते हैं (णसह) इसे देखो। (अभिसमिच्च) उपरोक्त बात को जान कर—(पणिए) पंडित और (मेहावी) भयार्ता में स्थित बुद्धिमान् पुरुष (णिट्ठियद्धे) विषय सुख से निःस्पृह रह कर (वारे) वीर यानी कर्मों का विनाश करने में समर्थ होकर (सया) सदा (आगमेण) आगमानुसार (णक्कमिज्जासि) संयम पालन में पुरुषार्थ करते (ति वेमि) ऐसा मे कहता हूँ ॥ १६३ ॥

भावार्थः—कितनेक पुरुष माता, पिता, पुत्र, स्त्री और अपने सम्बन्धियों को छोड़ कर एवं धन धान्य आदि परिग्रह का त्याग कर दीक्षा ले लेते हैं। दीक्षा लेकर वे वीर की तरह अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन करते हैं किन्तु कुछ काल बाद कर्म के उदय से वे दीन बन जाते हैं, वसन किये हुए विषयभोगों को फिर भोगना चाहते हैं। वे संयम रूपी महत्व पर चढ़ कर फिर नीचे गिर पड़ते हैं। ऐसे पुरुषों की लोक में अपकीर्ति होती है। लोग तरह तरह के अपशब्द कह कर उनकी निन्दा करते हैं। अतः पण्डित पुरुषों को चाहिए कि जिन चढ़ते परिणामों से संयम ग्रहण करे वैसे ही चढ़ते परिणामों से वीर की तरह जीवन पर्यन्त संयम का पालन करे ॥

॥ इति छठे अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

छठे अध्ययन का पञ्चम उद्देशक

चौथे उद्देशक में तीन गारवो के त्याग का उपदेश दिया गया था । किन्तु वह परीपहसहन और सत्कारपुरस्कारात्मक सम्मान का त्याग करने से ही सम्पूर्णता को प्राप्त होता है । इसलिये इस उद्देशक में इसका उपदेश दिया जाता है—

से गिहसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु वा गामंतरेसु वा गगरंतरेसु वा जणवयेसु वा जणवयंतरेसु वा गाम-
गगरंतरे वा गामजणवयंतरे वा संतेगइया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति, ते फासे पुढे वीरो अहियासए, ओए
समियदंसणे, दयं लोगस्स जाणिता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे, विमए किट्ठे वेयवी, से उट्ठिएसु वा अणुट्ठि-
एसु वा सुस्ससमाणेसु पवेयए संति विरइं उवसमं शिन्वाणं सोयं अज्जवियं मदवियं लाघवियं अणइवत्तियं सन्वेसिं पाणाणं
सन्वेसिं भूयाणं सन्वेसिं सत्ताणं सन्वेसिं जीवाणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खिज्जा ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थः—(गिहसु) घरों में (वा) अथवा (गिहंतरेसु) घरों के अन्तराल में (गामेसु) ग्रामों में (वा) अथवा (गामंतरेसु) ग्रामों
के अन्तराल में, (गगरंतरे) नगरों में (वा) अथवा (गगरंतरेसु) नगरों के अन्तराल में, (जणवयेसु) जनपद में (वा) अथवा (जयवयंतरेसु)
जनपदों के अन्तराल में, (गामणयंतरेसु) ग्राम नगर के अन्तराल में, (वा) अथवा (गगरजणवयंतरे) नगर जनपद के अन्तराल में (एगइया)
कोई (जणा) प्राणी (लूसगा) साधुओं को कष्ट देने वाले (भवति, संति) होते हैं (अदुवा) अथवा (फासा) नाना प्रकार के स्पर्श यानी कष्ट
(फुसति) साधु को होते हैं (ते) उन (फासे) कष्टों का (पुढे) स्पर्श पाकर (ओए) रागद्वेष रहित (समियदसणे) सम्यग्दृष्टि (वीरो) वीर

पुरुष (अधियासए) समभाव पूर्वक सहन करे । (लोगस) लोक की (दय) दया को (जाणित्ता) जान कर यानी संसारी प्राणियों पर दया करके (गईण) पूर्व (पडीण) पश्चिम (दाहिण) दक्षिण और (उदीण) उत्तर सभी दिशाओं में (आइक्खे) धर्म का कथन करे । (वियवी) वेदश पुरुष (वियए) धर्म का विभाग करे तथा (किइ) कीर्तन करे । (से) वह साधु (उट्टिएसु) धर्म का आचरण करने के लिए उद्यम-वन्त (वा) और (अणुट्टिएसु) धर्माचरण के लिए अनुत्थित (वा) तथा (मुत्सस्माणेसु) धर्म सुनने की इच्छा करने वाले प्राणियों के लिए (सत्ति) शान्ति (विरइ) विरति (उवससं) उपशम (खिन्वाण) निर्वाण (सोय) शौच (अज्जविय) आर्जव (मदविय) मार्दव और (लाघवियं) लघुता, इन धर्मों में से (अणइवन्निय) यथायोग्य (पवेयए) धर्म का उपदेश करे । इसी प्रकार (सव्वेसि) सव (पाणाण) प्राणी (सव्वेसि) सन (भूयाण) भूत (सव्वेसि) सब (जीवाण) जीव और (सव्वेसि) सन (सत्ताण) सत्त्व, इनका (अणुवीइ) विचार कर (भिववू) साधु (धम्म) धर्म का (आइक्खज्जा) कथन करे ॥ १६४ ॥

भावार्थः—ग्राम, नगर, देशविदेश में विचरण करते हुए साधु को शीत उष्ण दशमशक आदिभूत परीपह तथा तिर्यञ्च मनुष्य और देवभूत परीपह उपमर्ग उत्पन्न होते हैं, उनको अपने कर्मों का फल जान कर समभाव पूर्वक सहन करे और सासारिक जीवों पर दया करके उनके कल्याणार्थ उनकी योग्यतानुसार अहिंसा, विरति, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्म का उपदेश करे । ऐसा करने वाला साधु स्वपर का कल्याण करता है ॥

अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसाइज्जा णो परं आसाइज्जा णो अण्णइं पाणइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाइज्जा से अणासायए अणासायमाणे वज्झमाणे पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवइ सरणं महामुणी, एवं से उट्टिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे परिव्वए संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिं

परिनिवृडे तम्हा संगडं पासह गंधेहि गढिया एरा विसएणा कामकंता तम्हा लूहाओ शो परिवित्तसिज्जा, जस्स इमे आरंभा सव्वओ सव्वयाए सुपरिणयाया भवंति जेसि मे लूसिणो शो परिवित्तसंति, से वंता कोहं य माणं य मायं च लोभं य एस तुट्ठे वियाहिण चिचेमि ॥ १८५ ॥

अन्वयार्थः—(यम्) धर्म का (आहक्खमाणो) कथन करता हुआ (भिव्वु) आधु (अणुवीड) विचार कर (अत्ताण) अपनी आत्मा की (लो आसाइज्जा) आशातना न करे और (पर) दूसरे की भी (लो आसाइज्जा) आशातना न करे तथा (अएणाइ) दूसरे (पाणाइ) प्राणी (भूयाइ) भूत (जीवाइ) जीव और (सत्ताइ) सत्त्वों की भी (लो आसाइज्जा) आशातना न करे । इस प्रकार (से) वह मुनि (अणासाथए) स्वयं आशातना न करता हुआ तथा (अणासायमाणे) दूसरे के द्वारा भी आशातना न कराता हुआ और (वडक्खमाणे) वध किये जाते हुए (पाणाण) प्राणी (भूयाण) भूत (जीवाण) जीव और (सत्ताण) सत्त्वों की अनुमोदना न करता हुआ विचरे । (ज्हा) जिस प्रकार (असदीणे) जल वाधाओं से रहित (दीवे) द्वीप विश्राम का स्थान होता है (एव) उसी तरह (से) वह (महामुणी) महामुनि (सरण) प्राणियों के लिए शरण रूप (भवइ) होता है । (एव) इस प्रकार (से) वह (जट्टिए) संयम में उदित्यत (डियप्पा) मोक्ष में स्थित (अणिहे) रागद्वेष रहित (अचले) परीबह और उपसर्गों से विचलित न होने वाला (चले) अप्रबद्ध विहारी (अवहिल्लेसे) संयम से बाहर लेण्या रहित होकर (परिव्वए) प्रव्रज्या का पालन करे । (पेसल) उत्तम (यम्म) धर्म को (सखाय) जान कर (दिट्ठिमं) सम्यग्दृष्टि पुरुष (परि-णिवृडे) सव्व प्रकार से शान्त रहे (तम्हा) क्योंकि मिथ्यादृष्टि पुरुष (सगइ) विषयों के सग से शान्त नहीं होता है (पासह) यह देखो । (गंधेहि) बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि से (गढिया) ग्रथित यानी जकड़े हुए तथा (विसएणा) उनमें आसक्त और (कामकंता) कामभोगों

से आक्रान्त (एग) पुरुष शान्ति को प्राप्त नहीं करते हैं (नम्हा) अत (लूश्रो) रुक्ष यानी संयम के अनुष्ठान से (शो पगित्तिभिज्जा) नहीं डरना चाहिए यानी धैर्य पूर्वक संयम का पालन करना चाहिए (नेम) जिन आरम्भों से (इमे) ये (लूसिणो) हिंसक पुरुष (शो परिवित्तसति) नहीं डरते हैं (इमे) वे (आरभा) आरम्भ (जम्म) जिन मुनि को (सन्नश्रो) सर्वत और (सत्ताए-सत्त्वणयाए) सप्त प्रकार से (सुपरिप्पत्ता) सुपरिप्पत्त (भवति) होते हैं (से, एम) वह (सो) लोच (माय) मान (य) और (तोह) लोभ को (वत्ता) त्याग कर (तुंहे) मोहनीयादि कर्मों के बन्धन से छुटा हुआ (नियार्हण) कहा गया है (सि वंणि) ऐसा मैं काता हूँ ॥ १६५ ॥

भावार्थ:— भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाला साधु सम्यग्दर्शन की किसी प्रकार से प्राशतना न करता हुआ धर्म सुनने की इच्छा वाले पुरुष को भलीभांति विचार कर जो निम धर्मे के योग्य हो उसे उम्मी प्रकार से धर्म का कथन करे। और प्राणी, भूत, नीच, मत्स्य को किसी प्रकार से कष्ट न हो उस प्रकार आचरण करे। ऐसा साधु समस्त प्राणियों के लिए आश्वामन का स्थान होता है। जैसे जन की नाथा से रहित दीप समुद्राग्नियों के लिए विश्राम का स्थान होता है उसी प्रकार यह साधु समस्त प्राणियों के लिए शरणरूप होता है। वह साधु अपने उत्तम उपदेश के द्वारा प्राणियों को धर्म के समुत्पन्न करता है और आप स्वयं संयम का पालन करता हुआ मोक्षमार्ग में स्थित रहता है। जो प्राणी मांसाहार विषयों में प्रामत्त हैं तथा कामभोगों में निमग्न हैं उन्हें शान्ति और सुख प्राप्त नहीं होता। जो पुरुष मांसाहार विषयों को तथा कामभोगों को छोड़ कर संयम का पालन करता है वह शान्ति और सुख को प्राप्त करता है ॥

कायस्स विद्याधाए एस संगमसीसे विद्याहिण् से हु पारंगमे सुणी, अविहम्ममाणे फलगावयट्ठी कालोवणीए कंसिज्ज कालं जाव सररीरभेउ त्ति तेमि ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थः—(कायस्स) शरीर का अथवा चार घाती कर्मों का (वियाधाए-वियोवाए) विनाश (सगमसीसे) संप्राम भूमि (वियाहिए) कहा गया है । (हु) निश्चय ही (से) वह (मुणी) मुनि (पारगमे) संसार का पारगामी है (अविहम्ममाणे) जो परिपह उपसर्गों द्वारा पीड़ित किया जाता हुआ भी (फलगावय्ठी) काठ की तरह स्थिर रहता है । (कालोवणोए) मृत्यु काल के समीप आने पर (जाव सरिरमेव) शरीर का भेद होने तक (काल) मृत्यु की (कखिज्ज) प्रतीक्षा करे । (ति वेभि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १६६ ॥

भावार्थः—शरीर का नाश अथवा चार घाती कर्मों का विनाश ज्ञानियों के लिए शुद्धभूमि माना गया है । जैसे शूस्वीर पुरुष भी शुद्धभूमि में शत्रुदल की चमकती हुई तलवारों को देख कर घबरा जाता है । इसी तरह मरणकाल उपस्थित होने पर कई पुरुष कायर हो जाते हैं किन्तु जो धैर्यवान् पुरुष मरणकाल के उपस्थित होने पर घबराते नहीं हैं वे ही परिदुर्लभ मरण से मृत्यु को प्राप्त होकर शुभगति को प्राप्त होते हैं ॥

॥ इति छठा अध्ययन समाप्त ॥

विमोक्ष नामक आठवां अध्ययन

प्रथम उद्देशक

छठे अध्ययन के बाद सातवें अध्ययन का वर्णन किया जाना चाहिए। सातवें अध्ययन का नाम 'महापरिक्षा' है। इसके सात उद्देशक हैं किन्तु यह अध्ययन व्युच्छिन्न होगया है। इसलिये अब आठवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है। इस अध्ययन का नाम 'विमोक्ष' है। छठे अध्ययन में कहा गया है कि मोक्षार्थी पुरुष को अपने शरीर उपकरण आदि से समत्व हटा कर निःसङ्ग होकर विचरना चाहिए। ऐसा परमधीर पुरुष ही कर सकता है और उसे ही सम्मग्न निर्याण की प्राप्ति होती है। अतः इस अध्ययन में सम्मग्न निर्याण का वर्णन किया जाता है:—

से वेमि समणुणस्स वा असणं वा पाणं वा साइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंवले
वा पायपंच्छणं वा यो पाएज्जा यो शिमंतिज्जा यो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति वेमि ॥ १६४ ॥

अन्ययार्थः—(से वेमि) में कहता है कि (गर) अतिशय (आढायमाणे) आदरवान् होकर (समणुणस्स) समनोक्ष को यानी जो अद्धा और लिङ्ग से तो अपने समान है किन्तु आहार आदि से समान नहीं है उसको (वा) तथा (असमणुणस्स) असमनोक्ष यानी शाक्य आदि को (असण) अशन (पाण) पानी (साइम) स्वाद्य (वा) और (माइम) स्वाद्य (वा) तथा (वत्थ) वस्त्र (पडिग्गह) पात्र (कन्ल)

कम्बल (वा) और (पायपुंञ्जण) पादप्रोञ्ज्छन यानी पैर पोंछने का कणड़ा (शो पाण्डजा) न देवे (वा) सया (शो शिमतिज्जा) इन्हें देने के लिए निमंत्रित भी न करे (वा) और (शो वेयावडिय कुज्जा) वैयावच्च भी न करे (ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १६३ ॥

भावार्थः—जिसका वेश (लिङ्ग) और श्रद्धा समान है परन्तु आहार आदि समान नहीं है वह समंनोद्भूत कहलाता है। जिसकी श्रद्धा लिङ्ग आदि सब भिन्न है वह अमनोद्भूत कहलाता है। इन दोनों के प्रति अतिशय आदरवान् होकर अशन, पान, खादिस, स्नादिस, वस्त्र, पात्रादि न दे और न आमन्त्रण ही करे ॥

ध्रुवं चैयं जाणिज्जा असणं वा जाव पायपुंञ्जणं वा लभिया शो लभिया भुजिया शो भुजिया पंथं विउत्ता विउ-
कम्म विभत्तं धम्मं जोसेमाणे समेमाणे चलेमाणे पाइज्जा वा शिमतिज्जा वा कुज्जा वेयावडियं परं अणाढायमाणे
ति वेमि ॥ १६५ ॥

अन्वयार्थः—(एय) इसे (धुव) ध्रुव यानी निश्चित (जाणिज्जा) जानो (असण) अशन (जाव) यावत् (पायपुंञ्जण) पादप्रोञ्छन को (लभिया) प्राप्त करके (वा) अथवा (शो लभिया) न प्राप्त कर (य) और (भुजिया) खाकर (वा) अथवा (ण भुजिया) न खाकर (पथ) मार्ग को (विउत्ता) बदल कर (वा) अथवा (विउक्कम्म) उल्लंघन करके मेरे स्थान पर आया करे (विभत्त) भिन्न (धम्मं) धर्म का (जोसे-
माणे) सेवन करता हुआ बौद्ध भिक्षु आदि (समेमाणे) आता हुआ या (चलेमाणे) जाता हुआ यदि कदाचित् ऐसा कहे (वा) अथवा (पाइज्जा) आहार आदि दे (वा) या (शिमतिज्ज) आहारादि देने के लिए निमन्त्रण दे (वा) या (पर) अत्यन्त आदर के साथ (वेयावडिय) वयावच्च (कुज्जा) करे तो (अणाढायमाणे) साधु उसे स्वीकार न करे (ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १६५ ॥

भावार्थः—बौद्ध भिक्षु आदि अन्यतीर्थिक यदि साधु को आहारादि दे अथवा आहारादि के लिए आमन्त्रण करे अथवा वैयावच करे तो साधु इनको स्वीकार न करे। उन अन्यतीर्थियों के साथ साधु को किसी प्रकार का सम्बन्ध न रचना चाहिए ॥

इहमेवेसिं आचारगोथरे णो सुणिसंते भवइ ते इह आरंभट्ठी अणुयमाणा हण पाणे धायमाणा हणओ यावि समणु-
जाणमाणा अदुवा अदिणमाययंति अदुवा वायाउ विउज्जंति, तंजहा—अत्थि लोए णत्थि लोए धुवे लोए अधुवे लोए
साइए लोए अणाइए लोए सपज्जवसिए लोए अपज्जनसिए लोए सुकडेत्ति वा दुक्कडेत्ति वा कल्लाणेत्ति वा पावेत्ति वा
साहुत्ति वा असाहुत्ति वा सिद्धित्ति वा अणिएत्ति वा अणिएत्ति वा जमियं विप्पडिवएणा मामगं धम्मं
पएणवेमाणा इत्थवि जाणह प्रकम्हा एवं तेसिं णो सुयक्खाए धम्मे णो सुपएणत्ते धम्मे भवइ ॥ १६६ ॥

अन्ययार्थः—(इह) इस संसार में (णोसिं) कितनेक मनुष्य (आचारगोथरे) आचार सम्बन्धी ज्ञान से (णो सुणिसंते भवइ) भली प्रकार परिचित नहीं होते हैं। (ते) वे (इह) इस लोक में (आरंभट्ठी) आरम्भार्थी यानी आरम्भ करने वाले होते हैं। (अणुयमाणा) वे औद्देशिक भोजनादि में धर्म पताने हैं। ‘(पाणे) प्राणियों को (हण) मारने’ ऐसा कह कर (पायमाणा) प्राणिहिंसा की आज्ञा देते हैं। अर्थात् प्राणिहिंसा करवाने हैं (य) और (हणओ) प्राणियों की हिंसा करने वालों को (समणुगणमाणा) अच्छा जानते हैं यानी प्राणिहिंसा का अनुमोदन करते हैं। (वा) अथवा (अदिण) अदत्त यानी स्वामी के द्वारा विना दिये ही उसकी वस्तु को (आययति) ग्रहण करते हैं (वा) अथवा (वायाउ) नाना प्रकार के वचन (विउज्जते) चोलते हैं (तज्जहा) जैसे कि—(लोए) लोक (अत्थि) है। (लोए) लोक (एत्थि) नहीं है। (लोए) लोक (धुए) धुए है। (लोए) लोक (प्रधुए) प्रधुए है। (लोए) लोक (साइए) सादि है। (लोए)

लोक (अणाइए) अनादि है (लोण) लोक (समजबसिए) सपर्यवसित है—सान्त है (लोए) लोक (अपज्जवसिए) अपर्यवसित—अन्तरहित है। (सुक्खेति) सुकृत (दुक्कडेति) दुष्कृत (कल्लोखेति) पुराय (गवेत्ति) भला (असहुत्ति) बुरा (सिद्धि) सिद्धि (असिद्धि) असिद्धि (गिरएति) नरक (वा) और (अणिरएति) अनरक है। (जमिए) इस प्रकार (विण्डिक्खणा) परस्पर मतमेव रखते हुए वादी लोग (मामंगं) अपने अपने (वम्म) धर्म को (पणवेमाण्णा) श्रेष्ठ वतलाते हैं। (इत्यवि) इस विषय में (जाणह) जानना चाहिए कि (एव) इस प्रकार (अकूढा) युक्तिवंगत न होने के कारण (तेसिं) उनका धर्म (णो सुयस्साए) स्वाख्यात नहीं है और (धम्म) उनका धर्म (णो सुएणत्तो) सुप्रशस्त भी नहीं है ॥ १६६ ॥

भावार्थः—इस जगत् में जिन लोगों को अशुभ कर्म का उदय होता है वे मोक्षोपयोगी आचार को भलीभांति नहीं जानते हैं। वे गृहस्थावान को छोड़ कर भी शुद्ध मयस का पालन नहीं करते हैं। सयम की क्रियाओं से घबरा कर वे आरम्भादि में प्रवृत्ति करने लग जाते हैं और वे अदत्त को भी ग्रहण करने लग जाते हैं तथा वे मिथ्या भाषण भी करते हैं। उनमें से कुछ वादी लोग जीव अजीव स्वर्ग नरक लोक परलोक आदि के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और कुछ लोग अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। कोई लोक को नित्य कहते हैं तो कोई अनित्य कहते हैं। इस प्रकार वे अन्यतीर्थी लोग एकान्त पक्ष को ग्रहण कर परस्पर विवाद करते हुए अपने अपने मत की प्रशमा करते हैं और दूसरों के मत की निन्दा करते हैं। अत एकान्तवादियों का धर्म स्वाख्यात धर्म नहीं है। अत अनेकान्त धर्म—स्याद्वाद धर्म ही स्वाख्यात है और वही ब्राह्म है ॥

से जडेर्य भगवया पवेइयं आसुएणोणं जाणया पासया अदुवा गुत्ती वओ गोयरस्स तिवेमि सव्वत्थ सम्मयं पावं,
तमेव उवाइक्कम्म एस महं विवेगे वियाहिए गामे वा अदुवा रएणे येव गामे येव रएसे धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण

मइमया, जामा तिरिण उदाहिया जेसु इमे आयरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया, जे शिन्वुया पावेहिं कम्मंहेहिं अणियाणा ते वियाहिया ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थः--(आसुपणेण) आशुप्रज्ञ अर्थात् सदा उपयोग रखने वाले (जाणया) केवल ज्ञानी और (पांसया) केवलदर्शनी (से) उन (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (एय) इस स्याद्वाद का (जहा) जिस प्रकार (पेइय) कथन किया है, वह यह बतलाया गया है। (अहुता) अथवा उन्होंने (वओ गोयस्स गुत्ती) वचन की गुप्ति अर्थात् भाषासमिति का उपदेश दिया है (तिवेमि) ऐसा मैं कहता हूँ। (सव्वत्थ) अन्यतीर्थी सर्वत्र (पाव) पापानुष्ठान की (समय) सम्मति देते हैं। (तमेव) उस पापानुष्ठान को (उवाइक्कम्म) उल्लङ्घन करके रहना (एस) यह (मह) महान् (विवेगे) विवेक (वियाहिण) कहा गया है। धर्म (गामे) प्राप्त में (अहुया) अथवा (रएणे) जङ्गल में भी हो सकता है क्योंकि (एव) न तो (गामे) प्राप्त (धम्म) धर्म का कारण है और (एव) न (रएणे) जङ्गल धर्म का कारण है (आयाणह) यह जानो। (अइमया) केवलज्ञानी (माहणेण) भगवान् ने (पेइय) यह करमाया है। भगवान् ने (तिरिण) तीन (जामा) यास अर्थात् त्रत अथवा रत्नत्रय (उदाहिया) करमाये हैं (जेसु) जिनमें (समुज्झमाणां) बोध को प्राप्त हुए (इमे) वे (आयरिया) आर्य लोग (समुट्ठिअ) समुपस्थित हैं। (के) जो (शिन्वुया) क्रोधादि के उपशम से शास्त हुए हैं (ते) वे (जमेहिं) कर्मों से रहित एवं (अणियाणा) निदान-नियाणा रहित (वियाहिया) कहे गये हैं ॥ १६७ ॥

वाचार्थः--वस्तु अनेकान्तात्मक है। एकान्तवादी वस्तु का सम्यक् निरूपण नहीं कर सकते हैं। उन्हें जीवांजीवादि की ज्ञान न होने से वे स्वयं पापारम्भ करते हैं और पापानुष्ठान की सम्मति देते हैं। उनका अरथ्यनिवास भी धर्म का कारण नहीं हो सकता

क्योंकि जो पुरुष सत और असत् के विवेकी होते हैं उनको धर्म होता है। आम या जङ्गल धर्म का कारण नहीं है किन्तु विवेक धर्म का कारण है।

इस सूत्र में तीन व्रतों का कथन किया गया है यथाः—प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण और अपरिग्रह। अदत्तादान और मैथुन का यहा पर अपरिग्रह में अन्तर्भाव कर लिया गया है। अथवा यहा पर 'याम' शब्द से ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय की विवक्षा की गई है। जो पुरुष सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र को लेकर उद्यमवत् हुए हैं वे शान्त, पाप रहित और निदान—नियाणा रहित कहे गये हैं ॥

उद्धं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सव्वावंति यं पाण्डियक्कं जीवेहिं कम्मसमारंभेणं तं परिणाय मेहावी एव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्जा शेवणोएहिं एएहिं काएहिं दंडं समारंभंते सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्जा शेवणोएहिं एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति तेसि वि वयं लज्जामो तं परिणाय मेहावी तं वा दंडं अरणं वा यो दंडभी दंडं समारंभिज्जासिन्ति वेमि ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थः—(उद्धं) ऊपर (अहं) नीचे (य) और (तिरियं) तिछीं (दिसासु) दिशाओं में तथा (सव्वावति) सब अनुदिशाओं में (सव्वओ) सब प्रकार से (पाण्डियक्क-पाण्डिक) प्रत्येक (जीवेहिं) जीवों में (कम्मसमारंभे) जो कर्म का समारम्भ होता है (मेहावी) बुद्धिमान पुरुष (त) उन्हे (परिणाय) जानकर (सयं) स्वयं (एएहिं) इन (काएहिं) कार्यों में (दंडं) दण्ड का (एव समारंभिज्जा) आरंभ न करे तथा (अरणे) दूसरों के द्वारा भी (एएहिं) इन (काएहिं) कार्यों में (दंड) दण्ड का (एव समारंभिज्जा) आरंभ न करवे और (एएहिं) इन (काएहिं) कार्यों में (दंड) दण्ड का (समारंभंते) आरंभ करने वाले (अरणे) दूसरों का (एव समणुजाणज्जा) अनुमोदन भी न करे। मन में ऐसा

रसे कि (जे) जो (अण्णे) दूसरे लोग (एण्हि) इन (काण्हि) कार्यों में (दद) दण्ड का (समारभति) आरम्भ करते हैं (तेसि वि) उनसे भी (क्व) हम (लज्जामो) लज्जित होते हैं। (त) उसे (प सणाय) जानकर (मेदली) बुद्धिमान् पुरुष (रउमो) दण्ड से भय करता हुआ (त) वह (द) दण्ड (ग) अथवा (अण्ण) दूसरा (दद) दण्ड (गो समारभेज्जामि) आरंभ न करे (ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥१९८॥

भाषार्थः—ऊपर, नीची और तिर्नी सभी दिशाओं में और विदिशाओं में प्राणियों के उपमर्दन रूप जो आरम्भ किया जाता है उसे जानकर बुद्धिमान् पुरुष उसका त्याग करे। वह स्वयं पृथ्वीकाय आदि में दण्ड का आरम्भ न करे तथा दूसरों से न करवावे और करने वालों का अनुमोदन भी न करे। इस प्रकार तीन करण तीन योग से दिमा का सर्वथा त्याग करदे।

॥ इति आठवें अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का दूसरा उद्देशक

अ० अ०
द्वि० उ०

२१६

पहले उद्देशक में कहा गया है कि शुद्ध संयम का पालन करने के लिए कुशीलों की सगति का त्याग करना चाहिए। परन्तु अकल्पनीय वस्तु के त्याग के बिना यह सम्भव नहीं है। अतः इस दूसरे उद्देशक में अकल्पनीय वस्तु के त्याग का उपदेश दिया जाता है।

से भिक्खू परिक्रमिज्ज वा चिट्ठिज्ज वा एसीइज्ज वा तुयट्ठिज्ज वा सुमाणंसि वा सुण्णागारंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलंसि वा कुंभारायणंसि वा हुरत्या वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमिच्चु गाहावई बूया—आउसंतो समणा ! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंवलं वा पायपुंच्छणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं यामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहट्ठं चेएमि आवसहं वा समुस्सिणोमि से भुंजह वसह, आउसंतो समणा ! भिक्खू तं गाहावई समणसं तवयसं पडियाइक्खे—आउसंतो गाहावई ! शो खलु ते वयणं आढामि, शो खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा परिग्गहं वा कंवलं वा पायपुंच्छणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं यामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहट्ठं चेएमि, आवसहं वा समुस्सिणसि, से विरओ आउसो गाहावई ! एयस्स अकर-
णयाए ॥ १६६ ॥

अन्यार्थः—(शे) सर्व सावध योगों का र्यागी वह (भिकर) साधु (परिकर्मिज्ज) विहार करता हो (वा) अथवा (निष्ठिज्ज) खाड़ा हो (वा) अथवा (गितीइज्ज) बैठता हो (वा) अथवा (तुयइज्ज) सोता हुआ हो (वा) अथवा (मुसाणमि) शमशान में (मुण्णागारसि) शून्य घर में (गिरिगुहसि) पर्वत की गुफा में (सस्सल्लसि) वृक्ष की जड़ में यानी वृक्ष के नीचे (हुंभारायणंमि) कुम्हार की शाला में (वा) अथवा (वहिंमि) कहीं (दुल्ला) अन्यत्र स्थित हो (वा) या (विहरमाण) विहार करता हो (त) उस (गिन्ना) साधु के (उत्तकमिन्नु) स्वमीप आकर (गहावर्द) कोई गाथापति (धूया) कहे कि (आवसतो समणा) हे आयुष्मन् भ्रमण ! (स्तु) निश्चय ही (अहं) मैंने (तत्त ब्रह्माण) तुम्हारे लिए (असण) अशन (पाण) पानी (साइम) स्वादिम (वा) और (साइम) स्वादिम (वा) तथा (तत्त) वस्त्र (पग्गिह) पात्र (कयत्त) कम्बल (वा) और (पायपुंइणं) पादप्रोच्छन्न (समुहिस्स) आप के लिए (पाणाइ) प्राणी (भयाइ) भूत (जाणाइ) जीव (ग) और (सणाइ) सत्त्वों का (समारग्ग) आरम्भ करके बनाया है (वा) अथवा (णीय) खरीद किया है (वा) अथवा (वामिज्ज) किसी से उधार लिया है (वा) अथवा (अच्छिज्ज) दूसरे से छीन कर लिया है (अणित्थइ) दूसरे का मेरे पास रखा हुआ है (अभिहउ) सामने लाया हुआ है उसको (आहटु) मैं अपने घर से लाकर (वेमि) आपको देता हूँ (वा) अथवा (आनहं) आपके लिए मकान (सगुसिलोमि) बनवाता हूँ एवं मकान का संस्कार करवाता हूँ । अतः (आवसतो समणा) हे आयुष्मन् भ्रमण ! आप (गि) इस अशनादि को (भुंजह) भोगें और (आवहं) मकान में (वसह) निवास करें तो (भिकर) साधु (त) उस (समणस) अभिप्राय वाले और (स्वयसं) उपरोक्त वचन कहने वाले परिचित अथवा अपरिचित (गहावह) गाथापति को (ण्डियाइस्से) इस प्रकार उत्तर देवे कि (आवसतो गहावर्द) हे आयुष्मन् गाथापति ! (स्तु) निश्चय ही मैं (ते) तुम्हारे (वयण) इन वचनों का (णो आढाभि) आवर नहीं करता हूँ और (स्तु) निश्चय ही मैं (ते) तुम्हारे

(वयण) इन वचनों को (शो परिजाणामि) स्वीकार नहीं करता है कि (जो) जो (तुम) तुम (मम अट्टाए) मेरे लिए (असण) अशन (पाण) पानी (खाइम) खादिम (वा) और (साइम) स्वादिम (वा) तथा (वत्य) वत्त (गडिगह) पात्र (कवल) कम्बल (वा) और (पायपुच्छण) पाद-प्रोच्छन (समुद्दिस्स) मेरे लिए (पाणाइ) प्राणी (भयाइ) भूत (जीवाइ) जीव (वा) और (सत्ताइ) सत्त्वों का (समारम्भ) आरंभ करके वनाया है (कीय) खरीद किया है (पामिच्च) उधारा लिया है (अच्छिज्ज) दूसरों से छीन कर लिया है (अणिसट्ठं) दूसरों का धरोहर रखा हुआ है (अभिहट्ठ) सामने लाया हुआ है (आहट्ठ) उसे अपने घर से लाकर (वेणिसि) देना चाहते हो (वा) अथवा (आवसह) मकान (समुत्तिसणसि) बनवाना चाहते हो एवं मकान का संस्कार कराना चाहते हो। (से) क्योंकि (आउस्तो गहावई) हे आयुष्यमन् गाथा-पति ! हमें (एयस्स) इन कार्यों को (अक्कणयए) न करने की प्रतीक्षा किया हुआ (विरत्तो) विरत है अर्थात् मैंने आरम्भदि का तीन करण तीन योग से त्याग कर दिया है ॥१६६॥

भावार्थः—साधु सर्व सावय योगों का त्यागी होता है। वह ४२ दोषों को टाल कर भिक्षा ग्रहण करके अपना निर्वाह करता है। उस साधु से यदि कोई गृहस्थ यह कहे कि—मैंने आपको देने के लिए आहारादि बनाया है, खरीदा है या किसी से उधार लिया है या छीनकर रखा है या दूसरे का आहार मेरे पास रखा है या आपको देने के लिए मैं अपने घर से आहारादि लाया हूँ तथा आपके लिए मैंने घर बनवाया है एवं मकान की मरम्मत कराई है। अतः आप उस आहारादि को ग्रहण करें और उस मकान में रहें तो साधु उस दाता की प्रार्थना को स्वीकार न करे। वह कहे कि—मैं समस्त सावय कार्यों से तथा अनुष्ठानों से निवृत्त हो चुका हूँ, मैंने आर-

से भिक्षू परकर्मिज्ज वा जाव हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्षुं उवसंकमिच्च गाहावई आयगयाए पेहाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंवलं वा पायपुंच्छणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ जाव आहट्ठु चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाइ तं भिक्षू परिधासिउं, तं य भिक्षू जाणिज्जा सह सम्मइयाए पर-वागरणेणं अरणेसि वा सुच्च—अयं खलु गाहावई मम अट्टाए असणं वा वत्थ वा पाणाइं समारब्भ जाव आवसहं वा समुस्सिणाइ, तं य भिक्षू संपडिलेहाए आगमिच्च अणविज्जा अणासेवणाए त्ति नेमि ॥२०॥

अन्वयार्थः—(से) वह (भिक्षु) साधु (परकर्मिज्ज) कही जा रहे हों (वा) अथवा शमशानादि में स्थित हों (जाव) यावत् (हुरत्था) अन्यत्र (कहिंचि) कही (विहरमाण) विहार कर रहा हो तो (त) उस (भिक्षु) साधु के (उवसकमिच्च) पास आकर (गाहावई) कोई गाथापति (आयगयाए पेहाए) अपने मन की इच्छा से (असण) अशन (पाण) पान (जाव) यावत् (वत्थ) वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोच्छन आदि (पाणाइ) प्राणी (भूयाइं) भूत (जीवाइं) जीव (सत्ताइं) सत्त्वों का (समारब्भ) आरंभ करके तैयार करे और (भिक्षु) साधु को (परिधासिउ) खिलाने के लिए (आहट्ठु) अपने घर से लाकर (चेएइ) देवे (वा) तथा (आवसह) मकान का (समुस्सिणाइ) संस्कार करावे या मकान बनवावे तो यदि (भिक्षू) साधु (त) उसे (सह सम्मइयाए) अपनी बुद्धि से (वा) या (परवागरणेण) दूसरों के कहने से (वा) अथवा (अरणेसि) दूसरों से (इत्था) सुन कर (जाणिज्जा) जान लेवे कि—(यलु) निश्चय ही (अय) इस (गाहावई) गाथापति ने (मम अट्टाए) मेरे लिए (अमण) अशन पान आदि (वा) तथा (वत्थ) वस्त्र पात्र आदि (पाणाइ) प्राणी भूत जीव सत्त्व का (समारब्भ) आरंभ करके बनवाये हैं (जाव) यावत् (आवसह) मकान का (अमुस्सिणाइ) संस्कार कराया है तो (भिक्षु) साधु (त)

उसे (पडिलेहाए) विचार कर (य) और (आगमिता) जान कर (अणवेवणाए) उसे सेवन न करने के लिए (आणविज्जा) गृहस्थ को आज्ञा देवे अर्थात् गृहस्थ से कहे कि—इस प्रकार तैयार किये हुए अशनादि तथा मकान आदि को भोगना हम साधुओं का कल्प नहीं है ॥ २०० ॥

भावार्थः—यदि कोई गृहस्थ प्राणियों का आरम्भादि करके साधु के निमित्त अशनादि तय्यार करे और मकानादिका सस्कार करावे या मकानादि बनवावे और फिर उस आहार को ग्रहण करने के लिए तथा उस मकान में ठहरने के लिए साधु से प्रार्थना करे तो साधु अपनी बुद्धि से अथवा तीर्थङ्करोक्त उपाय से या उसके परिजनादि के कथन से यह जान जाय कि—इस गृहस्थ ने यह अशनादि मेरे लिए तय्यार किये हैं और मेरे लिए मकान बनवाया है या मकान का सस्कारादि कराया है तो साधु उस गृहस्थ से कहे कि—इस तरह हमारे निमित्त से तय्यार किये हुए अशनादि और मकानादि को भोगना हम साधुओं के कल्प से विरुद्ध है ।

भिक्षुं य खलु पुट्टा वा अपुट्टा वा जे इमे आहव्व गंथा वा फुसंति, से हंता हण्ह खण्ह छिंद्ह द्हह पय्ह आलुं प्ह विलुं प्ह सहसाकारेह विप्परासुसह, ते फासे धीरो पुट्टो अहियासए अदुवा आयागोयरमाइक्खे, तविक्या णम-णेलिसं अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्भं पडिलेहए भायगुत्ते बुद्धेहि एयं पवेइयं ॥ २०१ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (इमे) ये कोई गृहस्थ (खलु) निश्चय ही (भिक्षुं) साधु को (पुट्टा) पूछ कर (वा) अथवा (अपुट्टा) विना पूछे ही (आहव्व गथा) द्रव्य खर्च करके आहारादि तय्यार करके साधु को देना चाहते हैं किन्तु साधु इस बात को जान लेने पर

उस आहारादि को ग्रहण करने से इन्कार कर देता है तब क्रोधावेश में होकर (फुसति) वे साधु को कष्ट देते हैं (से) वे स्वयं (हता) हनन करते हैं (य) और दूसरों से कहते हैं कि (हणह) इसे मारो (खणह) इसे जान से मारो (भिह) इसे मेदन करो (दह) जलाओ (पयह) पकाओ (अलुपह) इसके वस्त्र आदि लूट लो (विजुपह) इसका सर्वस्व हर लो (सहसाकारेह) इसको शीघ्र घात कर डालो (विप्-
रामुसह) इसको नाना प्रकार से पीड़ित करो। (हे) उन उपरोक्त (फासे) स्पर्शों को यानी परीपहों को (उष्ट्रो) प्राप्त कर (वीरो) धीर पुरुष (अहियासए) समभाव पूर्वक सहन करे। (अहुवा) और (ण) उस पुरुष की (तक्किया) योग्यता का विचार करके (आयारगोथर) साधुओं के आचार आदि का (आइक्ने) कथन करे (अहुमा) अथवा (अणेलिस) अन्यसदृश अर्थात् परपक्ष खण्डन पूर्वक स्वपक्ष स्थापना रूप तत्त्व का कथन करे (अहुवा) अथवा (वहगुतोए) वचन गुप्ति करे यानी मौन रहे। इस प्रकार (आयगुत्ते) आत्मगुप्त साधु (अणुपुव्वेण) अनुक्रम से (गोथरस्स) पिण्डविशुद्धि का (समं) सम्यक् प्रकार से (पडिलेहए) निरन्तर उपयोग रखे (एय) यह (बुद्धेहिं) बुद्ध यानी तत्त्वज्ञ पुरुषों ने (पवेइय) कहा है ॥ २०१ ॥

भावार्थः—कितनेक भद्र लोग साधु के आचार की अनभिज्ञता के कारण साधु के निमित्त अशनादि तट्यार कराते हैं किन्तु जत्र साधु को इस बात का पता लग जाता है तो वह उस अशनादि को ग्रहण नहीं करता है तत्र वे कुपित हो जाते हैं और साधु को नाना प्रकार से कष्ट देते हैं। उस समय साधु को चाहिए कि उन कष्टों को धैर्य और समभाव पूर्वक सहन करे परन्तु अपने समय में किसी प्रकार का दोष न आने देवे। यदि अवसर हो तो साधु उस पुरुष को समयानुसार उपदेश देवे अन्यथा मौन रह कर उन परीपहों को समभाव पूर्वक सहन करे। ऐसा मुनि शीघ्र ही ससारसागर से पार हो जाता है, ऐसा श्री तीर्थङ्कर भगवान् को फरमाया है ॥

से समणुएणे असमणुएणस्स असणं वा जाव णो पाइज्जा णो णिमंतिज्जा णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे चि वेमि ॥ २०२ ॥

अन्वयार्थः—(स) वह (समणुणस्स) समनोश यानी तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाला साधु (असमणुणस्स) असमनोश यानी कुशीलादि को (असण) अशन (जाव) यावत् वस्त्र पात्रादि (णो णिमंतिज्जा) देने के लिए आमन्त्रण भी न करे तथा (पर आढायमाणे) अत्यन्त आदर करता हुआ (वैयावडिय) उसकी वैयावच्च (णो कुज्जा) न करे ॥ २०२ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाला शुद्ध सयमी साधु कुशीलादि को आहार पानी न दे और उनकी सेवा भी न करे ॥

धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया समणुणस्स असणं वा जाव कुज्जा वैयावडियं परं आढायमाणे चि वेमि ॥ २०३ ॥

अन्वयार्थः—(समणुणस्स) समनोश साधु (समणुणस्स) समनोश साधु को (असण) अशन (जाव) यावत् वस्त्र पात्रादि देवे और (पर आढायमाणे) अत्यन्त आदर करता हुआ (वैयावडिय) वैयावच्च (कुज्जा) करे । (मइमया) केवलज्ञानी (माहणेण) भगवान् महावीर ने (धम्म) यह धर्म (पवेइय) फरमाया है (आयाणह) इसे तुम जानो ॥ २०३ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाया है कि शुद्ध सयम का पालन करने वाला साधु दूसरे अपने साम्भोगिक साधु को आहारादि देवे और उनकी वैयावच्च भी करे ॥

॥ इति आठवें अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का तृतीय उद्देशक

दूसरे अध्ययन में अकल्पनीय आहार को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। उस अकल्पनीय आहार को देने वाले दाता के प्रति शुद्ध दान देने की शिक्षा देकर उसके सशय को दूर करना गीतार्थ साधु का वर्तव्य है। यह इस उद्देशक में बताया जाता है —

मल्लिभमेणं वयसावि एगे संवृज्जमाणा समुट्ठिया, सुब्बा, मेहावी वयणं पंडियाणं णिसामिया समियाए धम्मे
आरिएहि पवेइए ते अणवणुमाणा अणइवाएमाणा अपरिगहेमाणा णो परिगहावंति सव्वावंति य णं लोगिसि णिहाय
दंडं पाणेहि पावं कम्मं अकुब्बमाणो एस महं अगंथे वियाहिए, ओए जुइमस्स सेयएणे उववायं चवणं य खुब्बा ॥२०४॥

अन्यथार्थः—(एगे) कोई (मल्लिभमेण) मध्यम (वयसावि) अवस्था में (संवृज्जमाणा) बोध को प्राप्त होकर (समुट्ठिया) वर्माचरण करने के लिए उद्यत होते हैं। (मेहावी) मर्यादा में स्थित बुद्धिमान पुरुष (पंडियाण) परितुल्य यानी तीर्थंकर भगवान् के (वयण) वचनों को (सुब्बा) सुन कर और (णिमामिया) निश्चय करके उन पर दृढ़ रहे और समभाव को स्वीकार करे। (आरिएहि) आर्य पुरुषों ने (समियाए) समभाव से (धम्मे) धर्म (पवेइए) फरमाया है। (ते) वे (अणवणुमाणा) कामभोग की इच्छा न करते हुए तथा (अणइवा-
एमाणा) प्राणियों का अतिपात न करते हुए और (अपरिगहेमाणा) परिग्रह का सेवन न करते हुए (सव्वावति) सम्पूर्ण (लोगसि) लोक में (खो परिगहावति) परिग्रह रहित होते हैं। (पाणेहि) प्राणियों को (दंड) दण्ड देना (णिहाय) छोड़ कर (पाव) पाप (कम्म) कर्म (अकुब्ब-

माणे) न करता हुआ (एत) यह पुरुष (मह) महान् (अग्रे) ग्रन्थ रहित (विग्रह) कहा गया है । (उक्त्वा) देवलोक में भी उपपात (य) और (चवण) चयन होना है (एत्वा) इस बात को जान कर (ओए) रागद्वेष रहित और (ब्रह्मस्स खेणणे) संयम पालन में निपुण पुरुष सदा पापकार्य से पृथक् रहे ॥ २०४ ॥

भावार्थ:—सुमुख पुरुष तीर्थङ्कर के वचनों को सुन कर तथा निश्चय करके समता को स्वीकार करे क्योंकि तीर्थङ्कर भगवान् ने समभाव से ही श्रुत चारित्र रूप धर्म का कथन किया है । अतः समभाव से सम्पन्न, कामभोग की इच्छा न करने वाला और प्राणिभ्यो को दण्ड न देने वाला यावत् अठारह पाप का त्यागी पुरुष तीर्थङ्करो द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित कहा गया है । अतः संयम के अनुष्ठान में निपुण पुरुष सब स्थानों को विनाशी जान कर सदा पापकर्म से पृथक् रहे ॥

आहारोवचया देहा परीसहपमंगुरा पासह एगे सन्विदिएहिं परिगिलायमाणेहिं ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थ:—(देहा) शरीर (आहारोवचया) आहार से वृद्धि को प्राप्त होते हैं और (परीसहपमंगुरा) परीषह से भङ्ग को प्राप्त होते हैं । (एगे) कितनेक पुरुष परीषहों के आने पर (सन्विदिएहिं) सब इन्द्रियो से (परिगिलायमाणेहिं) ग्लानि को प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी इन्द्रियां शिथिल हो जाती हैं ॥ २०५ ॥

भावार्थ:—आहार से शरीर की वृद्धि होती है और आहार के अभाव में शरीर म्लान हो जाता है एव परीषह से शरीर का भङ्ग हो जाता है । परीषहों के आने पर कितनेक लोग कायर हो जाते हैं, उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं भूख और ध्यास से पीड़ित होकर वे पुरुष देखने सुनने और संघने में भी असमर्थ हो जाते हैं किन्तु वीर पुरुष को धैर्य के साथ परीषहों को सहन करना चाहिए ॥

ओए दयं दयइ, जे. सखिणहाणसत्थस्स खेयणणे से भिक्खु कालणणे बलणणे मायणणे सणणणे विणयणणे समयणणे परिगहं अममायमाणे कालेण उट्ठाई अपडिणणे दुइओ छित्ता गियाइ ॥ २०६ ॥

अन्वयार्थः—(ओए) रागद्वेष रहित पुरुष (दयं) दया ही (दयइ) करता है। (जे) जो (गिम्प) साधु (सखिणहाणसत्थस्स) कर्मों के स्वरूप को यत्नाने वाले शास्त्र के ज्ञान में (खेयणणे) निपुण है (से) वह (कालणणे) अवसर को जानने वाला (बलणणे) बल को जानने वाला (मायणणे) मात्रा यानी परिमाण को जानने वाला (सणणणे) क्षण को जानने वाला (विणयणणे) नियम को जानने वाला (समयणणे) समय को जानने वाला है। वह (परिगह) परिग्रह पर (अममायमाणे) ममत्व न करता हुआ (कालेण) काल से (उट्ठाई) उठने वाला (अपडिणणे) प्रतिष्ठा रहित यानी किसी भी प्रकार के नियमों से रहित (दुइओ) बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के बन्धनों को (छित्ता) छेदन करके (गियाइ) संयम मार्ग में गमन करता है ॥ २०६ ॥

भावार्थः—वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला रागद्वेष रहित पुरुष सब अवस्थाओं में प्राणियों पर दया ही करता है। काल, बल, परिमाण, क्षण, विनय और ममय यानी आगम को जानने वाला वह पुरुष किसी भी पदार्थ पर ममत्व भाव न रखता हुआ समय मार्ग में भलीभांति विचरना है ॥

तं भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणायं उवसंकिम्मा गाहावई वूया—आउसंतो समणा ! शो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति ? आउसंतो गाहावई ! शो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति, सीयफासं य शो खलु अहं संचाएमि अहियासि—सए, शो खलु मे. कप्पइ अगणिकायं उज्जालित्तए वा पज्जालित्तए वा कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा अएणोसि

वा वयणाओ, सिया से एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता कायं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा तं य भिक्खू पडिलेहाए आणविज्जा अणसेवणाए चित्रेसि ॥ २०७ ॥

अन्यार्थः—(सीयफासपदिवेमाणाय) शीत के स्पर्श से यानी ठण्ड के मारे जिसका शरीर कांप रहा है ऐसे (त) उस (भिक्षु) साधु के (उत्सुकता) पास आकर (गाहावई) यदि कोई गाथापति (व्या) इस प्रकार पूछे कि (आउसतो समणा) हे आयुष्मन् श्रमण ! क्या (ते) आपको (गमयम्मा) ग्रामधर्म यानी विषय तो (णो उब्बाहति) पीड़ित नहीं कर रहे हैं ? तो साधु उत्तर देवे कि (आउ-सतो गाहावई) हे आयुष्मन् गाथापति ! (खलु) निश्चय ही (मम) मुझे (गमयम्मा) विषय (णो उब्बाहति) पीड़ित नहीं कर रहे हैं किन्तु (खलु) निश्चय ही (अह) मैं (सीयफास) शीतस्पर्श को (अहियासित्ताए) सहन करने के लिए (णो संवाणमि) समर्थ नहीं हूँ । (अगणिकाय) अशिकाय को (उज्जालित्ताए) किञ्चित् जलाना (वा) अथवा (पज्जालित्ताए) विशेष रूप से प्रवृत्तित करना (वा) और (काय) अपने शरीर को अशिकाय द्वारा (आयावित्ताए) किञ्चित् ताप देना (वा) अथवा (प्यावित्ताए) विशेष रूप से ताप देना (वा) तथा (अण्णोसिं) दूसरों के (वयणाओ) वचन से ऐसा करना (वा) अथवा वचन द्वारा दूसरों से ऐसा करवाना (खलु) निश्चय ही (मे) मुझको (ए कप्पह) नहीं कल्पता है । (सिया) शायद (से) वह (परो) अन्य पुरुष (एव) उपरोक्त प्रकार से (वयंतस्स) कहते हुए साधु के लिए (अगणिकाय) अशिकाय को (उज्जालित्ता) किञ्चित् जला कर (वा) अथवा (पज्जालित्ता) विशेष रूप से जला कर (काय) साधु के शरीर को (आयाविज्ज) किञ्चित् ताप दे (वा) या (पयाविज्ज) विशेष रूप से ताप दे तो (भिक्षू) साधु (त) उस बात को (पडिलेहाए) विचार कर (य) और (आग-मिता) जान कर (अणसेवणाए) उसे सेवन न करने के लिए (आणविज्ज) उसे आज्ञा दे अर्थात् उससे यह कहे कि इस प्रकार अश्रि-

काय का सेवन करना मुझे नहीं कल्पता है (तिथि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ २०७ ॥

भावार्थ:—शीतकाल में सर्दी के कारण यदि किसी मुनि का शरीर कांप रहा हो तो उसे देख कर यदि कोई गृहस्थ मुनि में यह पूछे कि हे मुने ! आपका शरीर क्यों कांप रहा है ? क्या आपको विषय तो नहीं सता रहा है ? तो मुनि उस गृहस्थ को स्पष्ट उत्तर दे कि हे देवानुजि ! मुझे विषय नहीं सता रहा है किन्तु ठण्ड से मेरा शरीर कांप रहा है । मुनि के इन वचनों को सुन कर यदि वह गृहस्थ अग्नि जला कर साधु के शरीर को ताप देना चाहे तो मुनि उससे कहे कि हे देवानुप्रिय ! स्वयं अग्नि को प्रज्वलित करना और उसके द्वारा शरीर को ताप देना मुझे नहीं कल्पता है इसी प्रकार दूसरों से अग्नि प्रज्वलित करवाना भी मुझे नहीं कल्पता है क्योंकि अग्निसेवन करना हम साधुओं के लवाचार के धिरुद्र है । इसलिये मैं अग्नि सेवन नहीं कर सकता हूँ ॥

॥ इति आठवें अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का चौथा उद्देशक

अ० आ०
ब० उ०

२३१

तीसरा उद्देशक कहा जा चुका है। अब चौथे उद्देशक में यह बताया जाता है कि खी आदि का परीषद उत्पन्न हो तो साधु वेहायस या गृध्रपृष्ठ मरण को स्वीकार करे और यदि कारण न हो तो वैसा न करे ॥

ने भिक्खू तिहि वत्थेहि परिबुसिए पायचउत्थेहि, तस्स रां णो एवं भवइ 'चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणि-ज्जाइं वत्थाइ जाइज्जा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा, णो धोइज्जा, णो रइज्जा, णो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए एयं खु वत्थधारिस्स सामणियं ॥ २०८ ॥

अन्वयार्थः--(जे) जो (भिक्खू) साधु (तिहि) तीन (वत्थेहि) वस्त्र और (पायचउत्थेहि) चौथा पात्र (परिबुसिए) इन उपाधियों के साथ रहता है (तस्स रां) उसको (एव) इस प्रकार का विचार (णो भवइ) नहीं होता है कि मैं (चउत्थ) चीथे (वत्थ) वस्त्र की (जाइस्सामि) याचना करूंगा। (से) वह साधु (अहेसणिज्जाइ) पंषणा के अनुसार (वत्थाइ) वस्त्र की (जाइज्जा) याचना करे और (अहापरिग्गहियाइ) जस्सा वस्त्र ग्रहण किया है वैसा ही (धारिज्जा) धारण करे। (णो धोइज्जा) उन वस्त्रों को धोबे नहीं (णो रइज्जा) रंगे नहीं और (धोय-रत्ताइं) धोए हुए तथा रंगे हुए अथवा पहले धोकर पीछे रंगे हुए (वत्थाइ) वस्त्रों को (णो वारिज्जा) धारण नहीं करते (गामंतरेसु) दूसरे ग्राम में जाता हुआ साधु (अपलिउंचमाणे-अपलिगोवमाणे) अपने वस्त्रों को न छिपाता हुआ तथा (ओमचेलिए) अल्प मूल्य वाले वस्त्रों को धारण करता हुआ जावे। (बु) निश्चय ही (वत्थधारिस्स) वस्त्रधारी साधु की (एय) यही (सामणियं) सामग्री है ॥ २०८ ॥

भावार्थः—जो प्रतिमाधारी साधु तीन वस्त्रों को धारण करने का नियम रखता है उसे शीत आदि के समय तीन वस्त्रों से ही सतोप रतना चाहिए, चौथे वस्त्र को मागने की कभी इच्छा न करनी चाहिए। उसे वस्त्रों को न धोना चाहिए और न रत्नना चाहिए। ग्रामादि में जाते समय वस्त्रों को छिपाना न चाहिए। उसे अल्पपरिमाण और अल्पमूल्य वाले ही वस्त्र रतना चाहिए ॥

अहं पुण एवं जाणिज्जा—उवाइक्कते खलु हेमंते गिम्हे पडिवरणे अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अट्ठुवा संतरुत्तरे अट्ठुवा ओमचेले अट्ठुवा एगसाडे अट्ठुवा अचेले ॥ २०६ ॥

अन्वयार्थः—(अहं) अथ जब (पुणो) फिर साधु (एव) ऐसा (जाणिज्जा) जाने कि (गत्तु) निश्चय ही भय (एगते) हेमन्त ऋतु (उवाइक्कते) वीत गई है और (गिम्हे) ग्रीष्म ऋतु (पडिवरणे) मागई है तो (अहापरिजुण्णाइं) जीर्ण (वत्थाइं) वस्त्रों को (परिट्ठविज्जा) त्याग देवे (अट्ठुवा) अथवा (संतरुत्तरे) उन वस्त्रों को कभी ओढ़े और कभी वगल में रखे (अट्ठुवा) अथवा (ओमन्तेले) एक वस्त्र को त्याग दे (अट्ठुवा) अथवा फिर दूसरे को भी त्याग कर (एगसाडे) एक ही रखे (अट्ठुवा) अथवा इसके पदचात् (अन्तेले) उस एक वस्त्र को भी त्याग देवे ॥ २०६ ॥

भावार्थः—शीत निवारण करने के लिए साधु ने जिन वस्त्रों को ग्रहण किया है यदि वे वस्त्र दूसरे वर्ष के शीतकाल तक टिक सकते हैं तो उन्हें वह अपने पास रखे, परन्तु यदि वे जीर्ण हो गये हों तो वह उन्हें त्याग दे ॥

लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमएणागए भवह ॥ २१० ॥

अन्वयार्थः—साधु अपने आपको (लाघविय आगममाणे) हल्का करता हुआ वस्त्र का त्याग करे। वस्त्र परित्याग से (शे) साधु को (तवे) तप की (अभिसमएणागए भवह) प्राप्ति होती है ॥ २१० ॥

भावार्थः—जहाँ तक हो सके साधु को हल्का रहने का प्रयत्न करना चाहिए। वत्स का त्याग करने से कायाक्लेश रूप तप की प्राप्ति होती है ॥

जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्च सव्वओ सव्वत्ताए सम्मचमेव समभिजाणिज्जा ॥ २११ ॥

अन्वयार्थः—(भगवया) तीर्थङ्कर भगवान् ने (जमे) जो कुछ (पवेइय) फरमाया है (तमेव) उसी को (अभिसमिच्च) जान कर (सव्वओ) सब ओर से (सव्वत्ताए) सब प्रकार से (सम्मचमेव) समभाव का ही (समभिजाणिज्जा) सेवन करना चाहिए ॥ २११ ॥

भावार्थः—श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने साधु के लिए जो आचरण बताया है उसे भलीभाति जान कर साधु समभाव से रहे। वक्ष्युक्त हो गा धरहरहित हो दोनों ही अन्धस्था से समान परिणाम रखे ॥

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ पुडो खलु अहमंसि णालमहमंसि सीयफासं अहियासित्ताए से वसुमं सव्वसमण्णा-
गयपण्णाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्ठे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स कालयरियाए,
से वि तत्थ विअंतकारए, इच्चैयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं त्ति वेमि ॥ २१२ ॥

अन्वयार्थः—(केइ) किसी के द्वारा (अकरणयाए आउट्ठे) उपवर्ग किये जाने पर (जस्स ण) जिस (भिक्खुस्स) साधु को (एव) ऐसा विचार (भवइ) होता है कि (खलु) निश्चय ही (अह) मैं (पुडो असि) दु खों से आक्रान्त हो गया हूँ (अह) मैं (सीयफास) शीतस्पर्श को यानी कामवाधा को (अहियासित्ताए) सहन करने में (अल) समर्थ (ण असि) नहीं हूँ तो (सव्वसमण्णागयपण्णाणेण अप्पाणेण) समस्त ज्ञानों से युक्त आत्मा वाला होने के कारण अर्थात् द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विचार करके (से) वह (वसुम) चारित्रवान् साधु (एगे)

अकेला ही (विह) वेदायस मरण को (आइल) स्वीकार करे (१) क्योंकि (हु) नियन्त्रण ही (तवरिगणो) उस तपस्वी साधु के लिए (तं) पेसा करना ही (सिय) श्रेष्ठ है किन्तु चारित्र को दूषित न करे। (तत्स्य) उसके लिए (तत्पापि) यह मरण भी (भाजपरिणाम) काल का ही पर्याय है। (तत्त) उस मरण से (सोचि) मरने वाला यह (सिमतकारण-विप्रतिपारण) कर्मों का अन्त करने वाला है। (इच्छेय) यह मरण भी (विमोहायण) मोह रहित पुरुषों का आश्रय है। अतएव युक्त यह मरण (क्षिय) हितकारक (गण) सुख कारक (गर्भ) यानी युक्त (गुण्येस) निःश्रेयस अर्थात् कर्मक्षय का कारण और (पाणुगमिय) पुण्य का फल है (ति धेमि) पेसा भ कहता है ॥ २१२ ॥

भावार्थ:—अल्पशक्ति होने के कारण जिन साधु के मन में ऐसा विचार उत्पन्न हो कि—मुझमें रोग उत्पन्न हो गया है जिसमें मैं बहुत कष्ट पा रहा हूँ प्रथमा काम जनित पापा मुझे पीड़ित कर रही है जिसको राटन करने में मैं समर्थ नहीं हूँ अथवा त्वी मेरे चारित्र को नष्ट करना चाहती है, मैं इससे अपने चारित्र की रक्षा करने में समर्थ नहीं हूँ। ऐसे समय में साधु वैद्यायस आदि अप-चाद मरण को स्वीकार करे किन्तु चारित्र को दूषित न करे क्योंकि चारित्र को दूषित करने की अपेक्षा मरण ही भेयरकर है। यद्यपि वैद्यायसादि मरण को बालमरण कहा है तथापि द्रव्य नेत्र कान भाव की अपेक्षा से नहीं परिउत्तमरण भी हो जाता है। अत उत्तम अवसर में वैद्यायसादि मरण भी भारी गुण के लिए होता है। इस मरण से भी उनका हित, सुख और ज्ञान का क्षय होता है। अत यह मरण अवसर प्राप्त है ॥

॥ इति आठवें अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का पाँचवाँ उद्देशक

चौथे उद्देशक में वैहायसादि मरण बताये गये थे । अब इस पाँचवें उद्देशक में भक्तपरिज्ञा मरण बताया जाता है:—

जे भिक्खू दोहि वत्थेहि परिचुसिए पायतइएहि तस्स णं णो एवं भवइ—तइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं नत्थाइं जाइज्जा जान एवं खु तस्स भिक्खुस्स सामगियं, अह पुण एवं जाणिज्जा उवाइकंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवरणे, अहापरिजुएणाइं वत्थाइं परिडुविज्जा, अहापरिजुएणाइं परिडुवित्ता अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमएणाए भवइ, जसेयं भगनया पवेइयं तमेव अभिससिच्चवा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया । जस्स णं भिक्खुस्स एयं भवइ पुडो अवलो अहमंसि खालमहमंसि गिहंतरसंकमणं भिक्खायरियं गमणाए, से एवं वयंतस्स परो अभिहंडं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्ठु दलइज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसंतो गाहावई ! णो खलु मे कप्पइ अभिहंडं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भुत्तए वा पायए वा अरणे वा एयप्पगारे ॥२१३॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (भिक्खू) साधु (दोहि) दो (वत्थेहि) बख और (पायतइएहि) तीसरा पात्र (परिचुसिए) रखने का नियम ररता है (तस्स ण) उसको (एवं) ऐसा (णो) नहीं (भवइ) होता है कि मैं (तइयं) तीसरे (वत्थ) वस्त्र की (जाइस्सामि) याचना करूँगा उस साधु को चाहिए कि (से) वह (अहेसणिज्जाइं) एपणा के अनुसार ही (वत्थाइं) वस्त्रों की (जाइज्जा) याचना करे (खे) निश्चय ही

(एव) इस तरह से (तस्) उस (भिक्षुस्) साधु की (सामग्य) यही सामग्री है। (अह) इसके पश्चात् (पुण) फिर वह साधु (एव) यह (जाणिज्जा) जाने कि (रलु) निश्चय ही अथ (हेमते) हेमन्त ऋतु (उवाक्कत्ते) व्यतीत हो गई है और (गिह्हे) ग्रीष्म ऋतु (पडिक्खणे) आगई है तो वह (अहापरिजुण्णाइ) जीर्ण (वथाइ) वस्त्रों को (परिट्टिज्जा) त्याग देने (अहापरिजुण्णाइ) जीर्ण वस्त्रों को (परिट्टिज्जा) त्याग कर रहे (अदुवा) प्रथवा (सत्तहरे) शीत के समय वस्त्रों को ओढ़े और दूसरे समय में उन्हें पास में रखे (अदुवा) अथवा (ओगचेल्ले) अवमचेल्लक अर्थात् क्रमशः एक को कम करता हुआ (अदुवा) अथवा (एगसाइ) एक वस्त्र वाला (अदुवा) अथवा (अचेल्ले) उसको भी त्याग कर वस्त्ररहित हो जाय। वह अपने को (लाघविय) लघु-हल्का (आगममाणे) बनाता हुआ रहे। इस प्रकार (से) उसको (त्वे) तप की (अभिनमएणाए) प्राप्ति होती है (भगवया) तीर्थंकर भगवान् ने (ज) जो (एय) यह (पवेइय) फरमाया है (त्मेव) उसी को (यभि-समिच्चा) जानकर (सव्यओ) सब ओर से (सव्यताए) सब प्रकार से (सम्मत्तमेव) समभाव को ही (समभिजाणिया) स्वीकार करे। (जस्स ए) जिस (भिम्मुस्) साधु को (एव) ऐसा विचार (भवइ) होता है कि (अह) मैं (फुडो) रोगादि से आक्रान्त होने के कारण (अवल्लो) निर्दल (असिं) हूँ। (अह) मैं (गिरत्तस्सक्रमण) एक से दूसरे घर में तथा (भिम्बायसिय) भिक्षाचरी के लिए (गमणाए) जाने में (अल) समर्थ (ए) नहीं (असिं) हूँ (एव) इस प्रकार (वयत्तस्स) कहते हुए (से) उस साधु से सुनकर (परो) यदि कोई (अभिहड) जीवों के आरम्भ से बने हुए (असण) अशान (पाण) पानी (साइम) खादिम (साइम) स्वादिम (आहट्टु) लाकर (दलइज्जा) उसे देने लगे तो (से) वह (पुब्बामेव) पहले ही (अलोइज्जा) निषेध करदे कि (आउसतो) हे आयुष्मन् (गहावई) गाथापति ! (मे) मुझे (अभिहड) दूसरे का लाया हुआ (असण) अशान (पाण) पानी (साइम) खादिम (साइम) स्वादिम (वा) और (एय्यगारे-तहणगारे) इसी प्रकार (अण्णे) दूसरे पदार्थ भी (णो) रूपइ नहीं कल्पते हैं ॥२१३॥

भावार्थः—जो लिनकल्पी साधु दो वस्त्र और तीसरा पात्र रखता है उसको तीसरा वस्त्र मागना नहीं कल्पता है। वह साधु यदि रोगादि से पीडित होकर एक घर से दूसरे घर में जाने के लिए तथा भिक्षा के लिए जाने में समर्थन हो, उसके मुख से यह बात सुन कर यदि कोई गृहस्थ भक्तिवश होकर उसके लिए आहारादि लाकर देवे तो वह साधु उसे स्वीकार न करे। वह उसको समझा कर कह देवे कि—इस प्रकार का आहार अथवा दूसरी वस्तु ग्रहण करना मुझे नहीं कल्पता है ॥

जस्स गुं भिक्खुस्स अयं पणप्पे अहं य खलु पडिणत्तो अपडिणत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंख साहम्मि-
एहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, अहं वावि खलु अपडिणत्तो पडिणत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंख
साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए आहट्ठु परिणं आणक्खिस्सामि आहडं य साइज्जिस्सामि, आहट्ठु परिणं आण-
क्खिस्सामि आहडं य णो साइज्जिस्सामि, आहट्ठु परिणं णो आणक्खिस्सामि आहडं य साइज्जिस्सामि, आहट्ठु परिणं
णो आणक्खिस्सामि आहडं य णो साइज्जिस्सामि, एवं से अहाकिट्ठियमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरेए सुसमाहिय-
लेसे तत्थावि तस्स कालपरियाए से तत्थ विअंत्तिकारए, इच्चयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं
त्ति वेमि ॥ २१४ ॥

अन्वयार्थः—(जस्स ण) जिस (भिक्खुस्स) साधु का (अयं) यह (पणप्पे) आचार-नियम हो कि—यदि (अहं) मैं (गिलाणो)
बीमार हो जाऊँ तो (अपडिणत्तेहिं) बिना आज्ञा दिये हुए अर्थात् मेरे न कहने पर भी (अगिलाणेहिं) गलानि रहित (साहम्मिएहिं) साथ-
भिक्ष साधुओं के द्वारा (अभिकंख) निर्जरा की इच्छा से (कीरमाणे) वैयावस्त्र को (पडिणत्तो) उनके द्वारा कहने पर

(साइजिस्सामि) में स्वीकार करेंगा। किसी साधु को ऐसा नियम होता है कि (अह) में (वाचि) भी (अग्लिणो) ग्लानि रहित यानी स्वस्थ होऊ तब (अपडिणतो) आशा न दिया हुआ अर्थात् दूसरों के बिना कहे ही (पडिणत्तस्स) कहे हुए (गिलाणत्तस्स) ग्लान यानी बीमार (साहम्मियस्स) साधर्मिक साधु की (वेयावडिय) वैयावच्च (अभिकप) निर्जरा की इच्छा से (करणए) उसका उपकार करने के लिए (हुज्जा) करेंगा। कोई प्रतिज्ञा करता है कि (परिण) प्रतिज्ञा (आहट्टु) करके (आणक्खिस्सामि-अणुक्खिस्सामि) मैं दूसरे साधर्मिक के लिए आहारादि का अन्वेपण करेंगा (य) और (आहजं) दूसरे साधर्मिक द्वारा लाये हुए आहारादि को स्वीकार करेंगा। कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि (परिण) प्रतिज्ञा (आहट्टु) करके (आणक्खिस्सामि) दूसरे साधर्मिक के लिए आहारादि का अन्वेपण करेंगा परन्तु (आहज) दूसरे के द्वारा लाये हुए आहार आदि को (लो साइजिस्सामि) नहीं भोगूंगा। कोई ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि (परिण) प्रतिज्ञा (आहट्टु) करके (लो आणक्खिस्सामि) मैं दूसरे साधर्मिक द्वारा लाये हुए आहारादि को (साइजिस्सामि) भोगूंगा। (परिण) प्रतिज्ञा (आहट्टु) करके (लो आणक्खिस्सामि) मैं दूसरे साधर्मिक के लिए आहारादि का अन्वेपण नहीं करेंगा (य) और (आहज) दूसरे साधर्मिक द्वारा लाये हुए आहारादि को (लो साइजिस्सामि) मैं नहीं भोगूंगा। (एव) इस प्रकार (से) वह (अहाकिट्ठियमेव) अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार (धम्म) धर्म का (समभिजाणामो) सेवन करता हुआ (सत्ते) शान्त (विए) विरत और (इसमाहिद्वेसे) शुभ लेश्या वाला होकर प्रतिज्ञा का पालन करे। (तत्याचि) प्रतिज्ञा के पालन में असमर्थता होने पर (तस्स) उस साधु के लिए (कालपरियाण) भक्त प्रत्याख्यान द्वारा मृत्यु को प्राप्त करना भी सु-मृत्यु का ही अवसर है। (तत्थ) इस प्रकार मरने वाला (से) वह साधु (विअ तिकारए-विअंतकारए) कर्मों का अन्त करता है। (इच्चैय) यह (विमोहाययण) मोह रहित पुरुषों का आश्रय है (दिय) यह हितकारी (इहं) सुखकारी (खमं) उचित (णित्सेसं) कर्मों का दाग करने वाला (य) और (आण-

गामिण्यं) पुण्यकारी है (ति वेमि) यह मैं कहता हूँ ॥ २१४ ॥

भावार्थः—जिस परिहारविशुद्धिक या यथालन्दिक एवं पडिमाधारी साधु को ऐसी प्रतिज्ञा हो कि “तपस्या आदि के द्वारा ग्लानि को प्राप्त होने पर मैं उसी पुरुष के द्वारा वैयावच्च कराऊँगा जो मेरे बिना कहे ही मुझ से कहेगा कि मैं निर्जरा की भावना से आपकी सेवा करूँगा तथा वह स्वयं तपस्या या रोग आदि से ग्लान न होगा और साधर्मिक होगा।” कोई साधु ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि “मैं तप आदि के द्वारा ग्लानि को प्राप्त दूसरे साधर्मिक का वैयावच्च उसके कहे बिना ही अपनी निर्जरा की भावना से करूँगा” ऐसी प्रतिज्ञा करने वाला साधु अपनी प्रतिज्ञा को पालन करने के लिए अपने प्राणों को भले ही त्याग दे किन्तु प्रतिज्ञा का भङ्ग न करे। ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले मुनियों की एक चतुर्भङ्गी बतलाई गई है:—

(१) मैं दूसरे ग्लान साधर्मिक की वैयावच्च करूँगा और उसके लिए आहारादि लाऊँगा तथा दूसरे साधर्मिक के द्वारा लाये हुए आहारादि का उपभोग करूँगा। (२) मैं दूसरे साधु के लिए आहारादि लाऊँगा परन्तु दूसरे के द्वारा लाये हुए आहारादि का उपभोग न करूँगा। (३) मैं दूसरे के लिए आहारादि नहीं लाऊँगा परन्तु दूसरे के द्वारा लाये हुए आहारादि का उपभोग करूँगा। (४) मैं न तो दूसरे के लिए आहारादि लाऊँगा और न दूसरे के द्वारा लाये हुए आहारादि का उपभोग करूँगा ॥

इस प्रकार नाना प्रकार की प्रतिज्ञाओं को स्वीकार करने वाले मुनियों को चाहिए कि दृढ़ता के साथ वे अपनी प्रतिज्ञा का पालन करें ॥

॥ इति आठवें अध्ययन का पञ्चम उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का छठा उद्देशक

अ० भा०
छ० उ०

२४०

पाचवें उद्देशक में भक्त प्रत्याख्यान का कथन किया गया है। इस छोटे उद्देशक में इंगित-मरण का कथन किया जाता है—

जे भिक्खू एगेण वत्थेण परियुसिए पायविईएण, तस्स णं णो एवं भवइ विइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा अहापरिगहियं वत्थं धारिज्जा जाव गिमहे पडिवएणो अहापरिजुएणं वत्थं परिट्ठविज्जा, परिट्ठवित्ता अट्ठुवा अचेले लायवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (भिक्षु) साधु (एगेण) एक (वत्थेण) वस्त्र और (पायविईएण) दूसरा पात्र इनके साथ (परियुसिए) रहता है (तस्स णं) उसको (एव) ऐसा विचार (णो भवइ) नहीं होता है कि मैं (विइयं) दूसरे (वत्थं) वस्त्र की (जाइस्सामि) याचना करूँगा। (से) वह (अहेसणिज्जं) एपणा के अनुसार (वत्थं) वस्त्र की (जाइज्जा) याचना करे और (अहापरिगहियं वत्थं) जैसा वस्त्र ग्रहण किया गया है अर्थात् मिल गया है वैसा ही (धारिज्जा) धारण करे (जाव) यावत् जब वह देखे कि शीत ऋतु चली गई है और (गिमहे) ग्रीष्म ऋतु (पडिवएणो) आगई है तब वह (अहापरिजुएण) जीरेण (वत्थं) वस्त्रों को (परिट्ठविज्जा) त्याग देवे। (अट्ठुवा) अथवा (एगसाहे) वह क्रमशः एक वस्त्र वाला (अट्ठुवा) तथा (अचेले) वस्त्र रहित होकर (लायवियं) अपने आप को लघु (आगममाणे) बनाता हुआ (जाव) यावत् (सम्मत्तमेव) सम्यक्त्व को (समभिजाणिया) धारण करे ॥ २१५ ॥

भावार्थः—जिस साधु का यह नियम है कि—एक वस्त्र और एक पात्र को धारण करके अपने समय जीवन का निर्वाह करता

है उसको दूसरे वस्त्र की याचना करना नहीं कल्पता है। जब शीत ऋतु व्यतीत हो जाय और ग्रीष्म ऋतु आ जाय तब वह अपने उस फटे हुए वस्त्र को त्याग दे और वस्त्र रहित होकर रहे। इस प्रकार वह अपने आपको लघु-दलका बनाता हुआ समभाव को धारण करे।

जस्स रां भिक्खुस्स एवं भवइ एगे अहमंसि, रा मे अत्थि कोइ, ण याहमवि कस्सवि, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमणणाए भवइ जाव समभिजाणिया ॥ २१६ ॥

अन्वयार्थः—(जस्स रा) जिस (भिक्खुस्स) साधु को (एव) ऐसा विचार (भवइ) होता है कि (अह) मैं (एगे) अकेला (असि) हूँ। (मे) मेरा (कोइ) कोई (रा) नहीं (अत्थि) है (य) और (अहमवि) मैं भी (रा कस्सवि) किसी का नहीं हूँ। (एव) इस प्रकार (से) वह (अप्पाण) अपने को (एगागिणमेव) अकेला ही (ममभिजाणिज्जा) जाने। (लाघविय) अपने आपको लघु यानी हल्का (आगममाणे) बनाता हुआ (से) वह ऐसा समझे कि ऐसा करने से उसको (तवे) तप की (अभिसमणणाए) प्राप्ति (भवइ) होती है। (जाव) यावत् (समभिजाणिया) सम-भाव को ही धारण करे ॥ २१६ ॥

भावार्थः—मोक्षार्थी पुरुष ऐसा विचार करे कि “मैं अकेला हूँ, इस अनादि संसार में भ्रमण करता हुआ मैं अनादि काल से चला आ रहा हूँ। मेरा कोई भी वास्तविक सहायक नहीं है और मैं भी किसी के दुःख का नाश करने में समर्थ नहीं हूँ। संसार के समस्त प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल भोगते हैं” ऐसा जान कर साधु सुख और दुःख दोनों में समभाव रखता हुआ वीतराग की आज्ञानुसार शुद्ध संयम का पालन करे ॥

से भिक्खू वां भिक्खुणीं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेमाणे णो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारिज्जा आसाएमाणे, दाहिणाओ वा हणुयाओ वामं हणुयं णो संचारिज्जा आसाएमाणे, से अणासायमाणे

लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमएणागए भवइ । जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चि सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थः—(से) यह (भिक्षु) साधु (वा) अथवा (भिक्कु) साध्वी (असण) अशन (गण) पानी (साइम) खाटिम (साइम) स्वादिम (आहारोमाणे) यह चार प्रकार का आहार करता हुआ (आसाएमाणे) स्वाद लेने के लिए आहार को (वामाओ) वापें (हणुयाओ) हनु यानी दाढ़ से (दाहिण) दक्षिण यानी दाहिनी (हणुय) दाढ़ की ओर (णो सचारिजा) संचारित न करे । तथा (आसाएमाणे) स्वाद लेने के लिए (दाहिणाओ) दाहिनी (हणुयाओ) दाढ़ से (वाम) वाई (हणुय) दाढ़ की तरफ (णो सचारिजा) संचारित न करे । इस प्रकार (से) वह साधु (अणासायमाणे) स्वाद न लेता हुआ आहार करे । (तावविय) अपने कर्मों को लघु (आगममाणे) बनाता हुआ स्वाद न लेकर आहार करे । जो साधु स्वाद न लेकर आहार करता है (से) उसे (तवे) तप की (अभिसमएणागए भवइ) प्राप्ति होती है । (ज) जो (एयं) यह (भगवया) भगवान् ने (पवेइय) फरमाया है (तमेव) उसी को (अभिसमिजा) यथार्थ जान कर (सव्वओ) सब प्रकार से और (सव्वत्ताए) सर्वोत्तम भाव से (सम्मत्तमेव) समभाव का ही (यमभिजाणिया-अभिजाणिया) पालन करे ॥ २१७ ॥

भावार्थः—साधु या साध्वी आहार करते समय स्वाद लेने के लिए आहार को वाई दाढ़ से दाहिनी दाढ़ की ओर तथा दाहिनी दाढ़ से वाई दाढ़ की ओर संचारित न करे किन्तु गृद्धिभाव रहित होकर आहार करे । इस प्रकार गृद्धिभाव रहित आहार करने से उसे तप की प्राप्ति होती है और कर्मों का क्षय होकर लघुपना प्राप्त होता है । ऐसा साधु सर्वत्र सब प्रकार से मममाय रखता हुआ विचरे ॥

जस्स एणं भिक्खुस्स एवं भवइ से गिलामि य खलु अहं इमम्मि समए सो संचाएमि इमं सरीरं अणुपुण्वेण परि-
वहित्तए, से अणुपुण्वेणं आहार संवट्ठिज्जा, अणुपुण्वेणं आहारं संवट्ठित्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगा-
वयइही उट्ठाय भिक्खु अभिणिबुडच्चे ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थः—(जस्स ए) जिस (भिक्खुस्स) साधु के चित्त में (एव) इस प्रकार (भवइ) विचार होता है कि (इमम्मि) इस (समए)
समय में (गिलामि) ग्लान हो गया हूँ । इसलिये (इमं) इस (सरीरं) शरीर को (अणुपुण्वेण) अनुक्रम से (परिवहित्तए) धारण करने में
एवं संयम की आवश्यक क्रियाओं में प्रवृत्ति कराने में (एणो संचाएमि) समर्थ नहीं हूँ । (से) वह साधु (अणुपुण्वेण) अनुक्रम से (आहार)
आहार को (संवट्ठिज्जा) त्याग देवे । (अणुपुण्वेण) अनुक्रम से (आहार) आहार को (संवट्ठित्ता) त्याग कर (य) और (कसाए) कषाय को
(पयणुए) पतला (किच्चा) करके (समाहियच्चे) शरीर के व्यापार को नियमित रखने वाला (फलगावयइहो) कर्म क्षपण रूप फल का अर्थी
(भिक्खु) साधु (उट्ठाय) मरण के लिए उठ कर (अभिणिबुडच्चे) शरीर के सन्ताप से रहित हो जाय ॥ २१८ ॥

भावार्थः—जिस साधु के मन में यह विचार उत्पन्न हो कि अत्र मैं ग्लान हो गया हूँ, संयम की आवश्यक क्रियाओं को करने
में भी समर्थ नहीं हूँ, तब वह साधु आहार को त्याग देवे और संलेखना के द्वारा कषायों को पतला करे । इस प्रकार वह साधु अपने
शरीर के व्यापार को नियमित रखता हुआ शुद्ध अभ्यवसाय रखे । यदि कोई दुर्वचन कहे तो समभाव पूर्वक सहन करे । रोगादि की
प्रचलता होने पर अशनादि का प्रत्याख्यान करके हगित मरण द्वारा शरीर का त्याग कर दे ॥

अणुपविसित्ता गमं वा णयरं वा खेडं वा कब्बडं वा मंडवं वा पट्ठणं वा दोणमुहं वा आगरं वा आसमं वा

सखिण्यवेसवे वा शिगमं वा रायहाणि वा तथाइं जाइज्जा तथाइं जाइत्ता से तमायाए एगंतमवकमिज्जा, एगंतमवकमिज्जा प्रपंडे अप्पपाणे अप्पवीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदेए अप्पुत्तिगणगदग मट्ठियमक्कडासंताणए पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तथाइं संथरिज्जा, तथाइं संथरित्ता इत्थवि समए इत्तरियं कुज्जा, तं सच्चं सच्चवाई ओए तिएणे छिएणकंहं आइयट्ठे अणार्हिए चिच्चाण भेरुं कायं संविहूय विरुवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सि विस्संभणयाए भेरवमणु-चिएणे तत्थावि तस्स कालपरियाए जाव अणुगामियं ति वेमि ॥ २१६ ॥

अन्वयार्थः—*(गम) ग्राम (नगर) नगर (खेउ) खेट (कब्ब) कर्बट (मंडबं) मडम्भ (पट्टण) पत्तन (दोणमुह) दोणमुख (आगर) आगर-आगर (पासमं) आश्रम (सखिण्यवेस) सन्निवेश (णिगम) निगम (वा) और (रायहाणि) राजधानी में (तणाई) साधु तृण की (जाइज्जा) याचना करे। (तणाई) तृणों की (जाइत्ता) याचना करके (से) वह साधु (त) उन तृणादि को (आयाए) लेकर (एगत) एकान्त

* (१) ग्राम-जहां राज्य की तरफ से अठारह प्रकार का कर (महसूल) लिया जाता हो उसे ग्राम कहते हैं। (२) नगर (नकर) जहां गाय बैल आदि का कर (महसूल) न लिया जाता हो उस बड़ी आबादी को नगर (नकर) कहते हैं। (३) खेट (खेटक) जिस आबादी के चारों ओर भिट्टी का परकोटा हो उसे खेड़ या खेड़ा कहते हैं। (४) कब्बड (कर्बट)-थोड़ी आबादी वाला गांव कर्बट कहलाता है। (५) मडम्भ-जिस गांव से ढाई कोस की दूरी पर दूसरा गांव हो उसे मडम्भ कहते हैं। (६) पाटण (पत्तन) व्यापार वाणिज्य का बड़ा स्थान, जहां सब वस्तुएं मिलती हैं उसे पाटण कहते हैं। (७) दोणमुख-समुद्र के किनारे की आबादी, जहां जाने के लिए जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्ग हैं वह दोणमुख (बन्दरगाह) कहलाता है। (८) आगर (आकर)-सोना चांदी आदि धातुओं के निक-

में (अवक्कमिज्जा) चला जाय । (एत) एकान्त में (अवक्कमिता) जाकर (अप्पे) अगड़े रहित (अप्पमाणे) वेइन्द्रियादि प्राणियों से रहित (अप्पचीए) वीजों से रहित (अप्पहरिए) दूब आदि हरी लीलोती से रहित (अप्पोवे) ओस रहित (अप्पोदए) जल रहित (अप्पुत्तिंगपण्णदग्गम-ट्टियमक्कडासताणए) कीड़ी नगरा, पांच जाति की लीलन फूलन, सचित्त मिट्टी, मकड़ी के जाले आदि से रहित भूमि को (पडिलेहिय पडिलेहिय) नेत्रों से बारबार खूब अच्छी तरह देख कर तथा (प्पमज्जिय पमज्जिय) बार बार खूब अच्छी तरह पूंज कर (तणाइ) तृणों का (संयस्सिजा) सथारा बिछावे । (तणाइ) तृणों का (सयस्सिता) संथारा बिछा कर (इत्थवि) इस (समए) समय में (इत्तरिय) इङ्कित मरण की (वृज्जा) प्रतिज्ञा करने । (त) यह इङ्कित मरण (सच्च) सत्य-हितकारी है और (सच्चवाई) इसको अगीकार करने वाला सत्यवादी है । वह (ओए) रागद्वेष रहित (तिण्णे) संसार सागर को तिरने वाला (द्विण्णकहकहे) रागद्वेषादि की कथा को छेदन करने वाला (आईयट्ठे) जीवादि पदार्थों का ज्ञाता और (अण्णईए) संसार सागर को पार करने वाला है । वह (भेउर) इस नश्वर (काय) शरीर को (चिच्चा) त्याग कर और (विल्लब्बे) नाना प्रकार के (परीसहोवसणे) परीषह और उपसर्गों को (सविहूय) समभाव पूर्वक सहन करके (अस्सि) इस आर्हत आगम में (विस्समण्णयाए) विश्वास होने के कारण (भेउव) भैरव-कठिन (अणुचिण्णे) आचरण करता है । (तत्थावि) रोगादि के

लने की ग्वान को आगर कहते हैं । (६) आश्रम-तपस्वी संन्यासी आदि के ठहरने का स्थान आश्रम कहलाता है । (१०) सन्निवेश—जहा सार्थवाह अर्थात् बड़े बड़े व्यापारी बाहर से आकर उतरते हो उसे सन्निवेश कहते हैं । (११) निगम—जहां अधिकतर व्यापार वाणिज्य करने वाले महाजनों की आवादी हो उसे निगम कहते हैं । (१२) राजधानी—जहा राजा स्वय रहता हो वह राजधानी कहलाती है ।

कारण इगितमरण को प्राप्त करना भी (तस) उस साधु के लिए (काउरियाए) काल पर्याय है (अब) यावत् (अणुगमिय) यह पुण्य से प्राप्त होता है (ति वेमि) ऐसा मे कहता हूँ ॥ २१६ ॥

भावार्थ:—ग्राम नगर आदि किसी भी स्थान पर जाकर माधु तृणों की याचना करके वह एकान्त स्थान में जाकर स्थण्डिल भूमि को देगे। वह स्थण्डिल भूमि ऐसी होनी चाहिए जहाँ चींटो आदि के अण्डे न हों, नेदन्द्रियादि प्राणी न हों, बीज, हरी दूध, ओस और लीलन फूलन, मचित्तमिष्टी एवं चींटियों का समूह तथा मकड़ी आदि के जाले न हों। ऐसी भूमि पर उन तृणों को विछावे। तृणों को विछाने के पहले उस भूमि को अपनी प्रांगों से अच्छी तरह रेंप ले और फिर रजोहरण मे पंजु ले फिर उच्चवार प्रसवण की भूमि को देल ले। इसके पश्चात् पूर्ण दिशा की तरफ मुह करके उस मस्तरक पर स्थित हो जाय। फिर इङ्कित मरण को स्वीकार करे। अपनी प्रतिज्ञा का जीवन पर्यन्त पालन करता हुआ तथा विविध प्रकार के परीषद् उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करता हुआ वह साधु दस नरर शरीर का त्याग करे। ऐसा करता हुआ साधु इङ्कित मरण को प्राप्त होता है। काल का ज्ञान रखने वाले साधु के लिए यही काल का अवसर है क्योंकि काल प्राप्त इ गित मरण मरने वाला साधु सुगति को प्राप्त होता है।

॥ इति आठवें अध्ययन का छठा उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का सातवाँ उद्देशक

छठे उद्देशक में इंगितमरण का कथन किया गया है। अब इस सातवें उद्देशक में पादपोषगमन मरण का कथन किया जायगा और साथ ही साथ प्रतिमाश्रों का कथन भी किया जायगा।

जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स रां भिक्खुस्स एवं भवइ चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए, सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंसमसगफासं अहियासित्तए एगयरे अएणयरे विरुवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायणं य अहं णो संचाएमि अहियासित्तए एवं से कप्पइ कडिबंधणं धारित्तए ॥ २२० ॥

अन्ययार्थः—(जे) जो (भिक्खू) साधु (अचेले) चल रहित रहता हुआ (परिवुसिए) संगम में स्थित है। यदि (तत्स) उस (भिक्खुस्स) साधु को (एवं) ऐसा (भवइ) विचार हो कि (अहं) मैं (तणफास) तृण स्पर्श को (अहियासित्तए) सहन करने के लिए (सीयफास) शीतस्पर्श को (अहियासित्तए) सहन करने के लिए (तेउफास) उष्ण स्पर्श को (अहियासित्तए) सहन करने के लिए (दंसमसगफास) डांस और मच्छर के स्पर्श को (अहियासित्तए) सहन करने के लिए तथा (एगयरे) इनमें से किसी एक को अथवा (अएणयरे) दूसरे किसी कष्ट को एवं (विरुवरूवे) नाना प्रकार के (फासे) कष्टों को (अहियासित्तए) सहन करने के लिए (चाएमि-संचाएमि) समर्थ हूँ किन्तु (हिरिपडिच्छायण) गुह्य अंग की लज्जा निवारण करने वाले वस्त्र को के त्याग के कष्ट (अहियासित्तए) सहने के लिए (अहं) मैं (णो संचाएमि) समर्थ नहीं हूँ। (एवं) इस प्रकार (से) उस साधु को (कडिबन्धण) धारण करना (कप्पइ) कल्पता है ॥ २२० ॥

भावार्थः—प्रतिमाधारी अथवा अभिग्रहधारी साधु के मन में यदि यह विचार हो कि मैं तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श और ढांस मच्छर आदि के परीषद् को तथा और भी नाना प्रकार के परीषद् को सहन करने में समर्थ हूँ किन्तु स्वभाव से ही लज्जाशील होने के कारण मैं गुप्त ग्रग को ढकने वाले वस्त्र का त्याग करने में समर्थ नहीं हूँ इस प्रकार का विचार करने वाले साधु को चोलपट्टा धारण करना कल्पता है। यदि उसके हृदय में ऐसा विचार न हो तो वह बिना वस्त्र ही विचर सकता है ॥

अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तण्णफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमण्णायणं भवइ । जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चवा सन्वओ सन्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ॥ २२१ ॥

अन्वयार्थः—(अदुवा) अथवा (तत्थ) वहा (अचेल) वस्त्र रहित होकर (परक्कमत) विचरते हुए साधु को (भुज्जो) बार बार (तण्णफासा) तृणस्पर्श (फुसति) कष्ट देते हैं (सीयफासा) शीतस्पर्श (फुसति) कष्ट देते हैं, (तेउफासा) उष्णस्पर्श (फुसति) कष्ट देते हैं एवं (दंसमसगफासा) ढांस और मच्छर का स्पर्श (फुसति) कष्ट देते हैं। इस प्रकार वह (एगयरे) एक या (अण्णयरे) किसी दूसरे तथा (विरूवरूवे) नाना प्रकार के (फासे) कष्टों को (अहियासेइ) सहन करता है। (अचेले) वह वस्त्र रहित होकर (लाघवियं) अपने आपको लघु (आगममाणे) करता हुआ विचरे। इस प्रकार (से) उसे (तवे) तप की (अभिसमण्णायणं) प्राप्ति (भवइ) होती है। (जहा) जिस प्रकार (इय) यह (भगवया) भगवान् ने (पवेइयं) फरमाया है (तमेव) उसी को (अभिसमिच्चवा) जान कर (सन्वओ) सब प्रकार से और (सन्वत्ताए) सर्वरूप से (समत्तमेव) समभाव को (समभिजाणिया) धारण करे ॥ २२१ ॥

भावार्थः—वह अभिग्रहधारी साधु पूर्वोक्त कारण से बन्ध को धारण कर सकता है किन्तु वह लज्जित न होता हो तो वह सर्वथा बन्ध का त्याग करके विचरे और सदी, गर्मी और ठास मच्छर आदि के परीषद को समभाव पूर्वक सहन करता हुआ शुद्ध सयम का पालन करे ॥

जस्स गं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं य खलु अण्येसिं भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहड्डु दलइस्सामि, आहडं च साइज्जिस्सामि, जस्स गं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं य खलु अण्येसिं भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहड्डु दलइस्सामि आहडं य णो साइज्जिस्सामि, जस्स गं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं य वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहड्डु णो दलइस्सामि आहडं य णो साइज्जिस्सामि, अहं खलु अण्येसिं भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहड्डु णो दलइस्सामि आहडं य णो साइज्जिस्सामि, अहं य खलु तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिण्ण असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए, अहं वावि तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिण्ण असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, लाघवियं आगममाणे जाव समत्तमेव समभिजाणिया ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थः—(१) (जस्स ण) जिस (भिक्खुस्स) साधु का (एव) ऐसा अभिग्रह (भवइ) होता है कि (अह) मैं (अण्येसिं) दूसरे

(भिक्षुण) साधर्मिक साधुओं को (असण) अशन (पाण) पानी (खाइमं) खादिम (साइम) स्वादिम (आहटु) लाकर (दलइस्सामि) देंगा (य) और (आहड) उनके द्वारा लाये हुए अशननादि का (साइजिस्सामि) मैं उपभोग करूँगा । (२) (जस्स ण) जिस (भिक्षुस्स) साधु का (एव) ऐसा अभिग्रह (भवइ) होता है कि (अह) मैं (अणोसि) दूसरे (भिक्षुण) साधर्मिक साधुओं को (असण) अशन (पाण) पानी (खाइम) खादिम (साइम) स्वादिम (आहटु) लाकर (दलइस्सामि) देंगा परन्तु (आहड) उनके द्वारा लाये हुए आहारादि को (णो साइजिस्सामि) न खाऊँगा । (३) (जस्स ण) जिस (भिक्षुस्स) साधु को (एव) ऐसा अभिग्रह (भवइ) होता है कि (अह) मैं (अणोसि) दूसरे (भिक्षुण) साधर्मिक साधुओं के लिए (असण) अशन (पाण) पानी (खाइम) स्वादिम (साइम) स्वादिम (आहटु) लाकर (णो दलइस्सामि) नहीं दूँगा परन्तु (आहड) उनके द्वारा लाये हुए अशननादि को (साइजिस्सामि) मैं खाऊँगा । (४) (जस्स ण) जिस (भिक्षुस्स) साधु को (एव) ऐसा अभिग्रह (भवइ) होता है कि (अह) मैं (अणोसि) दूसरे (भिक्षुण) साधर्मिक साधुओं के लिए (असण) अशन (पाण) पानी (खाइम) खादिम (साइम) स्वादिम (आहटु) लाकर (णो दलइस्सामि) नहीं दूँगा (य) और (आहड) उनके द्वारा लाये हुए अशननादि को (णो साइजिस्सामि) मैं नहीं खाऊँगा । किसी किसी साधु का ऐसा अभिग्रह होता है कि (अह) मैं (अहोइस्सिण) अपने उपभोग में आने के अतिरिक्त यानी बचे हुए (अहोइस्सिण) पणीय (अहोइस्सिण) जैसा ग्रहण किया गया है वैसे (तेण) उस (असणोण) अशन (पाणोण) पानी (खाइमेण) खादिम (साइमेण) स्वादिम के द्वारा (अभिकख) निर्जरा की भावना से तथा (करणेण) उपकारार्थ (साहम्मियस्स) अपने साधर्मिक साधु की (वेयावट्ठिय) वैयावन्च (कुज्जा) करूँगा । किसी किसी साधु का ऐसा अभिग्रह होता है कि (साहम्मियहि) साधर्मिक साधुओं द्वारा (अहोइस्सिण) उनके उपभोग में आने से अतिरिक्त यानी भोजन के पश्चात् वाकी बचे हुए (अहोइस्सिण) पणीय

(ग्रहणरिगिण्ण) जैसा ग्रहण किया गया है वैसे (तेण) उस (असणेण) अशन (पाणेण) पानी (खाइमेण) खादिम (साइमेण) स्वादिम द्वारा (अभिद्धन्) निर्जरा की भावना से (कीरमाण) की जाने वाली (वैयावच्चिय) वैयावच्च को (अह वावि) मैं भी (साइजिस्सामि) स्वीकार करूँगा । इस प्रकार साधु (लावविय) अपने कर्मों को लघु (अगममाणो) बनाता हुआ (जाव) यावत् (समतमेव) समभाव को (समभिजा-
शिया) धारण करे ॥ २२२ ॥

भावार्थः—साधुओं के अभिग्रह विशेष के सम्बन्ध में एक चौभगी बतलाई गई है । यथा —(१) मैं दूसरे साधर्मिक साधुओं को आहारादि लाकर दूँगा । और उनके द्वारा लाये हुए आहार आदि को मैं खाऊँगा । (२) मैं दूसरे साधर्मिक साधुओं को आहारादि लाकर दूँगा किन्तु उनके द्वारा लाये हुए आहारादि को मैं नहीं खाऊँगा । (३) मैं दूसरे साधर्मिक साधुओं को आहारादि लाकर न दूँगा किन्तु उनके द्वारा लाये हुए आहारादि को मैं खाऊँगा । (४) मैं दूसरे साधर्मिक साधुओं को आहारादि लाकर न दूँगा और न उनके द्वारा लाये हुए आहारादि को खाऊँगा ।

किसी किसी साधु का ऐसा अभिग्रह होता है कि—मैं अपने परिभोग से बचे हुए आहारादि द्वारा निर्जरा की भावना से दूसरे साधर्मिक साधुओं की वैयावच्च करूँगा । किसी किसी का ऐसा अभिग्रह होता है कि—साधर्मिक के द्वारा उसके खाने से बचे हुए आहारादि से किये जाने वाले वैयावच्च को मैं स्वीकार करूँगा । इस प्रकार अभिग्रह धारण करने वाला साधु अपने कर्मों को लघु बनाता हुआ समभाव को धारण करे और शुद्ध संयम का पालन करता हुआ ग्रहण किये हुए अभिग्रह पर दृढ़ रहे ॥

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ, से गिलाभि खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरगं अणुपुण्वेणं परिवहित्तए, से अणु-

पुत्रेणं आहारं संवट्टिज्जा, संवट्टइत्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहिच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्षु अभिणिवुडच्चे, अणुपविसित्ता गामं वा शयरं वा जाव रायहारिणि वा तणाइं जाइज्जा जान संथरिज्जा, इत्यवि समए कायं य जोगं य ईरियं य पच्चक्खाइज्जा, तं सच्चं सच्चावाई ओए तिएणे छिएणकहं कहे आइयट्ठे अणार्इए चिच्चाणं भेउरं कायं संविहू-
णिय विरूवरूवे परीसहोवसगे अस्सि विसंभणाए भेरवमणुचिएणे तत्थावि तस्स कालपरियाए, से वि तत्थ वियंतिकारए,
इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं समं शिस्सेसं आणुगामियं चि त्रेमि ॥ २२३ ॥

अन्यथार्थः—(जस ण) जिस (भिग्गल) साधु के मन में (एव भवइ) इस प्रकार का विचार उत्पन्न होता है कि (सल्लु) निश्चय ही (इगम्मि) इस (ममए) समय में (अह) मैं (इम) इस (सरीए) अपने शरीर का (यणुपुब्बेण) क्रमशः (परिवर्हितए) निर्वाह करने में (गिलांमि) ग्लानि को प्राप्त होता हूँ । (से) वह (अणुपुब्बेणं) क्रमशः (आहार) आहार का (संवट्टिज्जा) त्याग करदे तथा (कसाए) कपायों को (पयणुए) पतला (किच्चा) करके (समाहिच्चे) शरीर के व्यापार को नियमित करे अथवा अपने विचारों को समाधिस्थ करे । (उट्ठाय) पण्डितमरण के लिए उद्यत होकर (फाणवयट्ठी) काठ के पाटे की तरह निश्चल होकर (अभिणिवुडच्चे) शरीर के सन्ताप से रहित होने की इच्छा वाला (भिग्ग) साधु (गाम) ग्राम (ना) ग्राम (णयर) नगर (जाव) यावत् (रायहारिणि) राजधानी में (अणुपविसित्ता) प्रवेश करके-जाकर (तणाइ) तृणों की (जाइज्जा) याचना करे (जाव) यावत् तृणों की याचना करके उन्हें (सथरिज्जा) विधिपूर्वक विच्छावे । (इत्यवि) उस (समए) समय में (काय) शरीर (य) और (जोग) योग (य) तथा (ईरियं) ईश्वरों का (पच्चक्खाइज्जा) पच्चक्खलाण

करे । तीर्थंकर भगवान् का कथित होने के कारण (त) वह मरण (सच्च) सत्य-हितकारी है । और इसको अंगीकार करने वाला पुरुष (सच्चवाई) सत्यवादी है (ओए) रागद्वेष रहित (तिण्णे) संसार मागर को तिरने वाला (छिण्णकूहे) रागादि की कथा का छेदन करने वाला (आइय्हे) जीवादि पदार्थों का ज्ञाता और (अण्णईए) संसार सागर को पार करने वाला है । ऐसा पुरुष ही पादपोपगमन मरण को प्राप्त करता है । (अस्सि) इस आर्हत आगम में (विस्सभण्णए) विश्वास होने के कारण (विरूह्वे) विविध प्रकार के (परीसहोवसणे) परीषह और उपसर्गों को (सविहूणिय) सहन करता हुआ धीर पुरुष (भेत्तव) कठोर (अणुक्खिण्णे) संयम का पालन करता है और अन्त में (भेत्तव) इस नश्वर (काय) शरीर को (चिच्चा) छोड़ कर सुगति को प्राप्त होता है । (तत्थावि-तत्थवि) इस अवस्था में है और उसका मरण को प्राप्त होना (कालपरियाए) काल का ही पर्याय है । (तत्थ) इस अवस्था में (से) मरण को प्राप्त करने वाला वह साधु (वियतिकारए-विअत्तकारए) कर्मों का अन्त करता है । (इच्चैय) यह पादपोपगमन मरण (विमोहाययण) मोहरहित पुरुषों का स्थान है अथवा मोक्ष का स्थान है (हिय) हितकारी (खम) युक्त-अवसर के अनुकूल (णित्तेस) परम कल्याणकारक और (आणुगामिय) पूर्वोपाजित पुण्य से प्राप्त होने वाला है (ति बेभि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ २२३ ॥

भावार्थः—जिस साधु के हृदय में यह विचार उत्पन्न हो कि—अब मेरा शरीर बहुत ग्लान हो गया है । इस शरीर द्वारा समय जीवन का निर्वाह करने में भी मैं असमर्थ हूँ । तब वह साधु पादपोपगमन रूप समाधि मरण को प्राप्त करने के लिए क्रमशः आहार का त्याग करे और कषायों को पतला करे । जैसे वसूल से छीला जाने पर भी फलक-लकड़ी का पाटा निश्चल रहता है उसी प्रकार दुर्जनो के कठोर वचनों द्वारा विद्ध होता हुआ भी वह मुनि अपने भागों से किसी भी प्रकार से कलुषता न आने दे । वह मुनि

निकटवर्ती ग्राम, नगर या राजधानी आदि में जाकर वृणों की याचना करके लावे और उन्हें विधिपूर्वक त्रिछावे । फिर वह शरीर, योग और ईर्ष्या का प्रत्याख्यान करे । उपरोक्त विधि के अनुसार पादपोषगमन रूप मृत्यु को प्राप्त करना तीर्थङ्करोक्त होने के कारण हितकारी है । ग्रहण किये हुए व्रतों का यथावत् पालन करने वाले सत्यवादी पुरुष ही इसे अङ्गीकार कर सकते हैं । तीर्थङ्कर भगवान् के वचनो पर अटल श्रद्धा होने के कारण वे इस कठोर मरण को अङ्गीकार करते हैं । वे धीर पुरुष परीपह उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करके इस पादपोषगमन रूप मरण से शरीर को छोड़ कर सुगति को प्राप्त होते हैं ॥

॥ इति आठवें अभ्ययन का सातवाँ उद्देशक समाप्त ॥

पहले के उद्देशको से बताया गया है कि रोगादि के होने पर भक्तपरिज्ञा, इगित और पादपोषगमन रूप त्रिविध मरण मे से किसी मरण को स्वीकार करना चाहिए। इस आठवें उद्देशक मे रोगादि के विना ही कालपर्याय से आये हुए त्रिविध मरण का विधान बताया जाता है:—

आणुपुण्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज । वसुमंतो मइमंतो, सव्वं णच्चा अणेलिसं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(आणुपुण्वेण) अनुक्रम से (जाइं) जिनका विधान किया गया है उन (सव्वं) सब को (अणेलिसं) भलीभांति (णच्चा) जान कर (वसुमंतो) संयमी (मइमंतो) बुद्धिमान् (धीरा) धीर मुनि (विमोहाइं) मोहरहित भक्तपरिज्ञा, इगितमरण और पादपोषगमन रूप त्रिविध मरणों में से किसी एक को (समासज्ज) प्राप्त कर समाधि पूर्वक शरीर का त्याग करे ॥ १ ॥

भावार्थः—शास्त्रकारो ने जिस क्रम से जिस क्रिया का विधान किया है उसी प्रकार आचरण करता हुआ सयमी मुनि अन्तिम समय मे भक्तपरिज्ञा, इगितमरण और पादपोषगमन मरण इन त्रिविध मरण मे से यथावसर किसी एक मरण द्वारा समाधिपूर्वक इस नश्वर तन का त्याग करे ॥

दुविहं वि विहत्ताणं, बुद्धा धम्मस्स पारगा । अणुपुण्वीए संखाए, आरंभाओ तिउट्ठइ ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—(धम्मस्स) श्रुत चारित्र रूप धर्म के (पारगा) पारगामी (बुद्धा) तत्त्वज्ञ पुरुष (दुविहं वि) दोनों प्रकार के अर्थात्

बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को (विदित्वाण) जान कर एवं त्याग कर (अणुपुब्बीए) अनुक्रम से संयम की क्रियाओं का पालन करके (सत्वाए) यथायोग्य मरण का निश्चय करके (आरभाओ-कम्पुणाओ) आरम्भ से अथवा कर्मों से (तिष्ठ) छूट जाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ:—बुद्धिमान सयसी पुरुष यथाक्रम से संयम की क्रियाओं का पालन करके अन्तिम समय में भक्तपरिज्ञा, हगितमरण और पादपोषगमन इन तीन मरणों में से में किस मरण के योग्य हैं, यह निश्चय करके उसी मरण द्वारा समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर आरम्भ से निवृत्त हो जाते हैं और अनुक्रम से कर्मों से छूट जाते हैं ॥

कसाए पयणुए किञ्चा, अप्पाहारे तित्तिक्खए । अह भिक्खु गिलाइज्जा, आहारस्सेव अंतियं ॥ ३ ॥

अन्ययार्थ:—वह साधु (कसाए) कपायों को (पयणुए) पतला (किञ्चा) करके (अप्पाहारे) अल्प आहार करे । यदि कोई कठोर वचन कहे तो उन्हें (तित्तिक्खए) सहन करे । (अह) यदि इस प्रकार करता हुआ (भिक्खु) साधु (गिलाइज्जा) आहार के बिना ग्लानि को प्राप्त हो तो भी (आहारस्सेव) आहार के (अतिय) पास भी न जावे अर्थात् आहार की इच्छा न करे ॥ ३ ॥

भावार्थ:—भक्तपरिज्ञा आदि त्रिविध मरण में से किसी एक मरण को प्राप्त करने के लिए उद्यत हुआ साधु पहले कपायों की संलेखना करे अर्थात् कपायों को पतला करे । कपायों को पतला करता हुआ साधु आहार की मात्रा को भी घटाता जाय और बहुत थोड़ा मोजन करे । ऐसा करते हुए यदि जुधापरिपह अधिक सत्तावे तो भी साधु आहार की इच्छा न करे अर्थात् वह यह न सोचे कि “मैं थोड़े दिन और आहार कर लूँ फिर संलेखना करूँगा” ।

नोट:—इस गाथा में “आहारस्सेव अतिय” यह पद दिया है किन्तु इसके आगे कुछ भी क्रिया पद नहीं दिया है । इसलिए वाक्य की पूर्ति के लिए यदि ‘न गच्छेत्’ क्रिया का अभ्याहार किया जाय तब तो इस वाक्य का वही अर्थ होगा जो ऊपर किया गया

है किन्तु यदि 'न गच्छेत्' के स्थान में सिर्फ 'गच्छेत्' क्रिया का अध्याहार करे तब हमका यह अर्थ होगा कि—संलेखना करता हुआ साधु यदि आहार के बिना अत्यन्त ग्लानि को प्राप्त हो और आहार में मूर्च्छित होकर उसका चित्त शुभध्यान से हट कर अशुभ ध्यान की ओर जाने लगे तो उसके अशुभध्यान को मिटाने के लिए उसे आहार दिया जा सकता है ।

जीवियं शाभिकं खेज्जा, मरणं यो वि पत्थए । दुहओ वि ण सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—संलेखना में स्थित साधु (जीवियं) जीवन की (ण अभिकसेज्जा) इच्छा न करे तथा (मरण वि) मरण की भी (यो पत्थए) इच्छा न करे । (जीवियं) जीवन (तहा) तथा (मरणे) मरण (दुहओ वि) दोनों ही में (ण सज्जिज्जा) आसक्त न होवे ॥ ४ ॥

भावार्थः—संलेखना करने में प्रवृत्त साधु अपनी प्रशंसा होती देख कर अधिक जीवन की इच्छा न करे और श्रद्धा की पीडा से तथा रोगादि से घबरा कर शीघ्र मरण की इच्छा न करे किन्तु वह जीवन और मरण किसी में भी आसक्त न होता हुआ समभाव रखे ॥

मज्झत्थो गिज्जरापेही, समाहिमणुपालए । अंतो वहिं विउस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—(मज्झत्थो) मध्यस्थ यानी जीवन और मरण की आकांक्षा से रहित (गिज्जरापेही) निर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ साधु (समाहिं) समाधि का (अणुपालए) पालन करे और (अंतो) आन्तरिक कषायों को तथा (वहिं) बाहरी यानी शरीर के उपकरणों को (विउस्सिज्ज) त्याग कर (अज्झत्थ) अन्तःकरण की (सुद्धं) शुद्धि की (एसए) कामना करे ॥ ५ ॥

भावार्थः—संलेखना के लिए उद्यत साधु जीवन तथा मरण में समभाव रखता हुआ निर्जरा की अपेक्षा करे । कषायादि आन्तरिक शत्रुओं का तथा बाहर रहने वाले शरीर के उपकरणों का त्याग करके अन्तःकरण की शुद्धि करे । इस प्रकार समाधिमरण को प्राप्त करने वाला सब संभूतों से रहित होकर परमपद को प्राप्त करता है ॥

जं किंचुवकमं जाणे, आउलेमस्समप्पणे । तस्सेव अंतरद्वाए, खिप्पं सिक्खिज्ज पंडिए ॥ ६ ॥

अन्ययार्थः—(पंडिए) बुद्धिमान् साधु (अपणो) अपनी (आउलेमस्स) आयु के पालने योग्य (ज) जो (किं च) कुछ (उपपत्तं) उपाय (जाणे) समझे (तस्सेव) वह उसे (अंतरद्वाए) संलेखना काल में ही (खिप्पं) शीघ्र (सिक्खिज्ज) करे ॥ ६ ॥

भावार्थः—समाधि मरण की इच्छा करने वाले साधु के शरीर में संलेखना करते समय यदि प्राणों का शीघ्र विनाश करने वाला रोग उत्पन्न हो जाय तो पण्णीय विधि से जो कुछ उपाय रोगनिवृत्ति के लिए आवश्यक प्रतीत हों उन्हें संलेखना काल के अन्दर ही शीघ्र करे और फिर रोग की निवृत्ति हो जाने पर संलेखना करे ।

इस गाथा का दूसरा अर्थ यह भी है कि उक्त मुनि को यदि यह ज्ञात हो जाय कि मेरी आयु को शीघ्र नष्ट करने वाला कोई कारण विशेष उपस्थित हो गया है तो वह संलेखना काल में ही धैर्य के साथ शीघ्र ही भक्तपरिज्ञा का सेवन करे ॥

गामे वा अदुवा रणणे, थंडिलं पडिलोहिया । अप्पपाणं तु विण्णाय, तणाइं संथरे मुणी ॥ ७ ॥

अन्ययार्थः—(मुणी) उचित अवसर को जानने वाला मुनि (गामे) ग्राम (अदुवा) अथवा (रणणे) जङ्गल में (पडिल) स्थण्डिल भूमि को (पडिलोहिया) प्रमाजित करके (अप्पपाण) उसे वेदन्द्रियादि प्राणी रहित (विण्णाय) जान कर (तणाइं) उसके ऊपर तृणों को (संथरे) बिछावे ॥ ७ ॥

भावार्थः—संलेखना द्वारा शरीर की शुद्धि किया हुआ मुनि अपने मरण काल को समीप जान कर ग्रामादि से तृणों की याचना कर लावे । फिर ग्राम या जंगल में निस्तर बिछाने की भूमि की प्रतिलेखना करे । उसके पश्चात् उस भूमि को प्राणियों से रहित जान कर उस पर उन तृणों को बिछावे ।

अणाहारो तुयद्विज्जा, पुटो तत्थऽहियासए । एणइवल उवचरे, माणुस्सेहि विपुटवं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(अणाहारो) आहार का त्याग करके साधु (तुयद्विज्जा) उक्त शय्या के ऊपर सो जाय । (तय) वहाँ (पुटो) परी-
पह उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर (अहियासए) उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे । तथा (माणुस्सेहि) मनुष्य सम्यन्धी अनुकूल प्रतिकूल
उपसर्गों के (विपुटवं) प्राप्त होने पर साधु (अइकेलं ए उवचरे) अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करे ॥ ८ ॥

भावार्थः—यह साधु अपनी शक्ति के अनुसार त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग करके तथा समस्त प्राणियों से क्षमा
याचना करके उस दृष्टि की शय्या पर सो जाय । वहाँ यदि कोई परीषद उपसर्ग प्राप्त हो तो वह उसे समभाव पूर्वक सहन करे और
अपने पुत्र कलत्र आदि प्रियजनों का स्मरण कर आर्त्तभयान के वशीभूत न होवे ॥

संस्पृग्गा य जे पाणा, जे य उड्डमहेचरा । भुंजंति मंससोणियं, ए छणे ए पमज्जए ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (सस्पृग्गा) चींटी शृगाल आदि संसर्पक यानी भूमि पर चलने वाले (पाणा) प्राणी हैं (य) और (जे)
जो (उड्ड) ऊपर आकाश में उड़ने वाले गीध आदि (य) तथा (अहेचरा) नीचे यानी त्रिल में रहने वाले सर्पादि प्राणी हैं । यदि वे
(मंसोणियं) मांस और रक्त का (भुजति) भक्षण करें तो (ए छणे) साधु उन को न तो मारे और (ए पमज्जए) न रजोहरण से प्रमार्जन
ही करे ॥ ९ ॥

भावार्थः—चींटी, शृगाल, गीध, सर्प और सिंह व्याघ्र आदि प्राणी यदि उस साधु का मांस भक्षण करें और मच्छर आदि
उसका रक्त पान करें तो साधु हाथ आदि के द्वारा उन प्राणियों का घात न करे और जिस अन्न को वे खा रहे हों उस अन्न का रजो-
हरण के द्वारा प्रमार्जन भी न करे ॥

पाणा देहं विहिंसन्ति, ठाणाओ ण वि उब्भमे । आसवेहिं विविचेहिं, तिप्पमाणो ऽहियासए ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—(पाणा) रक्त और मांस का भक्षण करते हुए उपरोक्त प्राणी (देहं) शरीर का (विहिंसन्ति) घात करते हैं, ज्ञानादि का नहीं । अतः वह साधु (ठाणाओ) उस स्थान से (ण उब्भमे) दूर न हटे । (आसवेहिं) आधवों के (विविचेहिं) अलग होने के कारण (तिप्पमाणो) आत्मिक सुख से तृप्त वह मुनि (अहियासए) सब कर्षों को समभाव पूर्वक सहन करे ॥ १० ॥

भावार्थः—उपरोक्त हिंसक प्राणियों द्वारा रक्त मांस का भक्षण किया जाता हुआ वह मुनि ऐसा विचार करे कि “ये प्राणी मेरे शरीर का घात कर रहे हैं, ज्ञान दर्शन चारित्र्य का नहीं” ऐसा विचार कर उन प्राणियों को हटाने का प्रयत्न न करे तथा कष्ट मे बचने के लिए उस स्थान से हट कर अन्यत्र भी न जाय । समस्त आधवों के हट जाने से शुभ अभ्यवसाय वाला होने के कारण हिंसक प्राणियों के द्वारा खाया जाता हुआ भी वह साधु अमृत पान से तृप्त हुए जीव की तरह उस वेदना को कुछ वस्तु ही न माने एवं सम-भाव पूर्वक सहन करे ॥

गंथेहिं विविचेहिं, आउकालस्स पारए । पग्गहियतरंगं चेयं, दवियस्स वियाणओ ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—(गंथेहिं) ग्रन्थ यानी बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के बन्धनों से (विविचेहिं) रहित होकर (आउकालस्स) मृत्यु काल को (पारए) पार किया हुआ वह मुनि सिद्धि अथवा स्वर्गलोक को प्राप्त करता है । अब इद्विमत मरण के विषय में कहा जाता है—(एय) यह इद्विमत मरण (दवियस्स) संयमी (वियाणओ) गीतार्थ मुनियों द्वारा (पग्गहियतरंगं) ग्रहण किया जाता है ॥ ११ ॥

भावार्थः—पुनः कलत्रादि बाह्य बन्धन और रागादेवादि आभ्यन्तर बन्धन इन दोनों बन्धनों से रहित होकर मृत्युकाल पर्यन्त धर्मभ्यान शुक्लभ्यान भ्याता हुआ वह मुनि मरणकाल के पश्चात् या तो मोक्ष को प्राप्त होता है अथवा स्वर्ग को प्राप्त होता है ।

यहाँ तक भक्तपरिक्षा मरण का कथन किया गया है। अब इस गाथा के उत्तरार्द्ध से इङ्गित मरण का कथन किया जाता है— इस इङ्गितमरण में चारों आहार का त्याग किया जाता है। विशिष्ट धैर्य और विशिष्ट सहनन से युक्त, सगमी और कम से कम नौ पूर्व के ज्ञाता पुरुषों द्वारा यह मरण स्वीकार किया जाता है।

अयं से अवरे धम्मे, णायपुत्तेण साहिए । आयवज्जं पडीयारं, विज्जहिज्जा तिहा तिहा ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(णायपुत्तेण) ज्ञातपुत्र श्री महावीर स्वामी ने (अय) यह (अवरे) दूसरा (धम्मे) धर्म यानी विशेष अनुष्ठान (साहिए) बतलाया है कि (से) वह इङ्गितमरण के लिए संस्कारक पर सोया हुआ मुनि (आयवज्ज) अपने सिवाय दूसरों की (पडीयार-पडियार) सेवा का (तिहा तिहा) तीन करण तीन योग से त्याग करे ॥१२॥

भावार्थः—प्रथम दीक्षा ग्रहण करना, सलेखना करना, स्थण्डिल भूमि का प्रतिलेखन करना आदि जो क्रम भक्तपरिज्ञा में बतलाया गया है वही क्रम इङ्गितमरण के विषय में है परन्तु इसमें विशेष धर्म यह कहा गया है कि इङ्गितमरण की शय्या पर स्थित साधु दूसरों से सेवा कराने का मन वचन काया रूप तीन योग और करना, कराना, अनुमोदना रूप तीन करण से त्याग करे। वह स्वयमेव उस शय्या पर उलटना या कबट बदलना आदि करे किन्तु दूसरे की सहायता न ले ॥

हरिएसु ण णिवज्जिज्जा, थण्डिलं मुणिया सए । विउसिज्ज अणाहारो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—इङ्गितमरणार्थी साधु (हरिएसु) हरितकाय—वनस्पति के ऊपर (ण णिवज्जिज्जा) शयन न करे किन्तु (थण्डिल) निर्जीव स्थण्डिल (मुणिया) जानकर (सए) शयन करे। (विउसिज्ज) बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की उपधियों का त्याग कर

(अणादारे) निराहार रहता हुआ मुनि (तत्त्व) वहां (उत्ते) परीषद उपसर्गों के आने पर (ग्रहियासए) उन्हें समभावपूर्वक सहन करे ॥१३॥

भावार्थः—जहाँ हरित घनस्पतिकाय के जीव हो वहाँ वह साधु शयन न करे किन्तु जो भूमि जीवों से रहित हो उसे अच्छी तरह देत भाल कर उस पर शयन करे । बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की उपधि का त्याग कर निराहार रहते हुए उस साधु को यदि परीषद उपसर्ग उत्पन्न हो तो वह उन्हें धैर्य के साथ समभाव पूर्वक सहन करे किन्तु क्षोभ को प्राप्त न होवे ॥

इंदिएहि गिलायंतो, समियमाहरे गुणी । तहावि से अग्रहिहे, अचले से समाहिए ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—(इदिएहि) इन्द्रियों से (गिलायंतो) ग्लानि को प्राप्त होता हुआ (गुणी) मुनि (समिय) अपने में साम्यभाव को (आहरे) स्थापित करे । यद्यपि वह अपनी मर्यादानुसार इगित प्रदेश में संचार करता है (तहावि) तथापि (से) वह (अचले) उस मरण से विचलित नहीं है और (समाहिए) मनको धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में स्थापित किया हुआ है इसलिए वह (अग्रहिहे) अगर्हित धानी प्रशसनीय ही है, निन्दनीय नहीं है ॥१४॥

भावार्थः—इङ्गित मरणार्थी साधु की इन्द्रियां आहार के अभाव में जब ग्लानि को प्राप्त हो तो वह व्याकुलता को प्राप्त न हो किन्तु अपने चित्त में समता को स्थापित करे । वह साधु जिस तरह से चित्त में समाधि रहे उसी तरह से अपने शरीर को रखता है यानी हाथ पैर को संकुचित रखने से जब घबराहट होती है तब वह हाथ पैर को पसार देता है और उससे भी जब उकता जाता है तब वह इगित प्रदेश में टहलता है या बैठ जाता है तो भी वह अपने द्वारा ही समस्त चेष्टाएँ करता है इसलिए वह अनिन्दनीय ही बना रहता है । वह यद्यपि इगितप्रदेश में चलता फिरता है किन्तु वह उस इगितमरण से विचलित नहीं होता है इसलिए वास्तव में वह

अचल ही है तथा धर्मभ्यान शुक्लभ्यान मे अपना चित्त रखता है, इसलिए वह समाहित है। वह भाव से अचल है इस कारण इगित प्रदेश मे भ्रमण आदि करने पर भी कोई दोष नहीं है ॥

अभिक्रमे पंडिक्रमे, संकुचए पसारए । कायसाहारणद्वए, इत्थं वावि अचेयणे ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—वह साधु (कायसाहारणद्वए) अपने शरीर की सुविधा के लिए इगितप्रदेश में (अभिक्रमे) अपने विस्तर से उतर कर सामने की ओर जा सकता है और (पंडिक्रमे) वहा से वापिस भी आ सकता है। (संकुचए) अपने अंगों को सिकोड सकता है और (पसारए) पसार भी सकता है। (वावि) अथवा उसमें शक्ति हो तो (इत्थं) शरीर के उक्त व्यापारों को न करता हुआ (अचेयणे) अचेतन पदार्थ की तरह ज्यों का त्यों पड़ा भी रह सकता है ॥१५॥

भावार्थः—इगित मरण करने वाला साधु नियमित प्रदेश मे गमनागमन तथा शरीर के अङ्गों का संकोच विस्तार कर सकता है। ऐसा करने पर भी कोई दोष नहीं है किन्तु यह कोई नियम नहीं है कि उसे गमनागमनादि क्रियाए करनी ही चाहिए किन्तु यदि उसकी शक्ति वैसी हो तो वह सूखे काष्ठ की तरह निश्चेष्ट पड़ा रह सकता है।

परिक्रमे परिकिलंते, अदुवा चिड्डे अहायए । ठाणेण परिकिलंते, णिसीइज्जा य अंतसो ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—(परिकिलंते) बैठे बैठे या लेटे लेटे यदि साधु का अङ्ग भङ्ग होने लगे तो (परिक्रमे) उठलने लग जाय (अदुवा) अथवा (अहायए) अपने अङ्गों को ज्यों का त्यों रखता हुआ (चिड्डे) स्थित रहे। (ठाणेण) खड़े होने से (परिकिलंते) जब कष्ट होने लगे तो (अंतसो) अन्त मे (णिसीइज्जा) बैठ जाय ॥ १६ ॥

भावार्थः—जो मुनि उस तरह की शक्ति न होने के कारण सूखे काठ की तरह निश्चेष्ट पड़ा रहने में असमर्थ हो वह नियमित प्रदेश में गमनागमनादि करे तो कोई दोष नहीं है। इससे भी जब थक जाय तब अपने शरीर को ज्यों का त्यों रखता हुआ स्थित रहे। इस प्रकार स्थित रहने से भी जब खेद होने लगे तो लेट जाय या बैठ जाय।

आसीणेऽश्वेलिसं मरणं, इंदियाणि समीरए । कोलावासं समासज्ज, वितहं पाउरेसए ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—(अश्वेलिस) अतन्यसदृश यानी जिस मरण को साधारण मनुष्य अगीकार न कर सकें ऐसे (मरण) मरण को (आसीणे) स्वीकार किया हुआ मुनि (इंदियाणि) इन्द्रियों को (समीरए) अपने विषयों से हटा दे। (कोलावास) घुण आदि जन्तुओं से युक्त स्थान या पाटा (समासज्ज) मिलने पर उसे छोड़ कर (वितह) जीव रहित स्थान या पाटे का (पाउरेसए-पाउरेसया) अन्वेषण करे।

भावार्थः—जिसे साधारण मनुष्य अङ्गीकार नहीं कर सकते उस इगित मरण को स्वीकार करके धैर्यवान् मुनि इन्द्रियों को अपने विषय से हटा दे। जिस स्थान पर घुण आदि जीव हो उस स्थान को और पाटे को छोड़ कर जीवरहित स्थान का अन्वेषण करे।

जञ्जो वज्जं समुप्पज्जे, ए तत्थ अवलंबए । तञ्जो उक्कसे अप्पाणं, फासे तत्थऽहियासए ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः—(जञ्जो) जिस कार्य से (वज्ज) वज्र के समान भारी कर्म अथवा पाप की (समुप्पज्जे) उत्पत्ति होती है (तत्थ) उसका (ए अवलंबए) अवलम्बन न करे अर्थात् वह कार्य न करे किन्तु (तञ्जो) उस कार्य से (अप्पाण) अपनी आत्मा को (उक्कसे) दूर हटा ले। (तत्थ) ऐसा करने में (फासे) जो कष्ट हो उसे (अहियासए) समभाव पूर्वक सहन करे ॥ १८ ॥

भावार्थः—जिस व्यापार से या जिसका आश्रय लेने से वज्र के समान भारी कर्म अथवा पाप की उत्पत्ति होती है वह साधु

उस कार्य को न करे तथा उस काष्ठादि का अवलम्बन न ले किन्तु उन कार्यों से अपनी आत्मा को हटा ले। शुभभयान और शुभ परिणामों पर चढ़ता हुआ मुनि परीपह उपसर्ग को समभाव पूर्वक सहन करे ॥

अयं चायतरे सिया, जो एवमणुपालए । सव्वगायणिरोहेवि, ठाणाओ ण विउब्भमे ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—(अय) यह अब आगे कहा जाने वाला पादपोषगमन रूप मरण (आयतरे) इद्वित मरण से भी बड़ कर (सिया) है (जो) जो (एव) इस प्रकार यानी इसकी विधि के अनुसार (अणुपालए) इसका पालन करता है वह (सव्वगायणिरोहेवि) शरीर के समस्त अंगों का निरोध करता हुआ (ठाणाओ) उस स्थान से (ण विउब्भमे) किञ्चिन्मात्र भी न हटे ॥ १६ ॥

भावार्थः—भक्तपरिज्ञा मरण और इगितमरण दोनों की अपेक्षा पादपोषगमन मरण उत्कृष्ट है। इसमें भी प्रव्रज्या और सत्तेखना आदि का क्रम पहले की तरह ही है। इसमें विशेषता यह है कि पादपोषगमन मरणार्थी साधु अपने समस्त अङ्गों को निश्चल रखे। कितना भी कष्ट क्यों न हो वह उस स्थान से किञ्चिन्मात्र न हटे तथा शुभ अभ्यवसाय से भी विचलित न हो किन्तु सूखे काठ की तरह निश्चेष्ट होकर स्थिर रहे ॥

अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे । अचिरं पडिलेहिता, विहरे चिट्ठ माहणे ॥ २० ॥

अन्वयार्थः—(अय) यह (से) वह पादपोषगमन मरण रूप धर्म (उत्तमे) सब से उत्तम (धम्मे) धर्म है क्योंकि (पुव्वट्ठाणस्स) पूर्वस्थानों से यानी भक्तपरिज्ञा और इद्वितमरण से (पग्गहे) अधिक कष्टसाध्य है। पादपोषगमन मरणार्थी (माहणे) साधु (अचिरं) जीव रहित स्थण्डिल भूमि की (पडिलेहिता) प्रतिलेखना करके उसके ऊपर (विहरे) विचरे यानी इस मरण की विधि का पालन करे

और (बिड़) वहीं पर अपने समस्त अंगों का निरोध करके स्थित रहे ॥ २० ॥

भावार्थः—यह पादपोषगमन मरण सब से उत्तम है क्योंकि पूर्वोक्त भक्तपरिज्ञा और इगितमरण की अपेक्षा यह अत्यन्त कष्ट-साध्य है। पूर्वोक्त मरणों में तो अद्भो को सत्कोचने और फैलाने की छूट है किन्तु इसमें उसका भी निषेध है। इस मरण का आराधन करने वाला साधु यदि लेंटा हुआ हो तो लेंटा ही रहे, नैठा हुआ हो तो नैठा ही रहे और खड़ा हो तो खड़ा ही रहे अर्थात् उसका जो अङ्ग जिस तरह स्थित हो उसे उसी तरह रहने दे, उसे जरा भी इधर उधर न हटावे तथा कम्पित न करे ॥

अचित्तं तु समासज्ज, ठावए तत्थ अप्पगं । वोसिरे सव्वसो कायं, ण मे देहे परीसहा ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः—पादपोषगमन मरणार्थी साधु (अचित्त) जीवरहित स्थान को (समासज्ज) प्राप्त करके (तत्थ) वहाँ पर (अप्पग) अपने आप को (ठावए) स्थित करे। (काय) शरीर को (सव्वसो) सब प्रकार से (वोसिरे) त्याग दे और यह समझे कि (मे) मेरे (देहे) शरीर में (ए परीसहा) परीषह हैं ही नहीं ॥ २१ ॥

भावार्थः—पादपोषगमन मरणार्थी साधु जीवरहित स्थान पर अपने शरीर को स्थापित करके चारों आहार का त्याग करे और मेरुपर्वत के समान अडोल होकर रहे। फिर आलोचना प्रादि करके अपने शरीर का त्याग करे। शरीर का त्याग किये हुए साधु को जब कोई परीषह या उपसर्ग प्राप्त हो तो यह वह भावना करे कि मेरा तो यह शरीर ही अपना नहीं है क्योंकि मैंने तो इसका त्याग कर दिया है। जब कि शरीर ही मेरा नहीं है तो फिर मुझे परीषह कैसे हो सकता है? वह धैर्यवान् साधु कर्मरूपी शत्रुओं को विजय करने में परीषहों को अपना सहायक माने ॥

जावज्जीवं परीसहा, उवसग्गा य संखाय । संवुडे देहभेयाए, इइ पणणेऽहियासए ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः—(जावज्जीव) यावज्जीवन अर्थात् जब तक यह जीवन है तब तक (परीसहा) परीषह (य) और (उवसग्गा) उपसर्ग है (संखाय-संख्या) ऐसा जान कर (देहभेयाए) शरीर का भेद होने तक (संवुडे) बुद्धिमान् साधु (अहियासए) उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे ॥ २२ ॥

भावार्थः—जब तक यह जीवन है तब तक ही ये परीषह उपसर्ग हैं । शरीर का अन्त हो जाने पर ये नहीं रहेंगे ऐसा समझ कर वह धैर्यवान् साधु उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे ॥

भेउरेसु ण रज्जिज्जा, कामेसु बहुयेरेसु वि । इच्छालोभं ण सेविज्जा, धुववएणं संपेहिया ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः—(भेउरेसु) विनाशी (कामेसु) कामभोग (बहुयेरेसुवि) चाहे बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त हो रहे हों (ण रज्जिज्जा) उनमें अनुरक्त न होवे । (धुववएण) ध्रुव वर्ण यानी मोक्ष की ओर (संपेहिया) दृष्टि रखता हुआ वह साधु (इच्छालोभ) काम की इच्छा का और लोभ का (ण सेविज्जा) सेवन न करे ॥ २३ ॥

भावार्थः—यदि कोई राजा एव चक्रवर्ती राजा उस साधु को अत्यधिक मात्रा में कामभोगों का आमन्त्रण करे अथवा राज-कन्या देने का प्रलोभन दे तो भी साधु उस की इच्छा न करे । इसी प्रकार इहलोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी कोई नियाणा-निदान न करे किन्तु एकमात्र निर्जरा की इच्छा रखता हुआ अपने चित्त को समाधिस्थ रखे ॥

सासएहि णिमंतिज्जा, दिव्वमायं ण सदेहे । तं पडिबुज्ज माहणे, सव्वं णं विहरिया ॥ २४ ॥

अन्यथार्थः—शास्त्रकार कहते हैं कि हे साधो ! यदि कोई (सत्सङ्गि) शाश्वत यानी जीवन पर्यन्त नष्ट न होने वाली सम्पत्ति देने के लिए (णिमत्तिज्जा) निमग्नित करे तो (तं) उसे (पठितुज्ज) समझो, तथा यदि कोई देवता (दिव्यमाय) माया करके नाना प्रकार की कृद्धि देने लगे तो (ए सद्दे) उसमें श्रद्धा न करो । इस प्रकार (मादण्णे) साधु (सव्य) समस्त (एण) माया को (विहणिया) दूर कर समाधिभाव में स्थित रहे ॥ २४ ॥

भावार्थः—जो वन जीवन पर्यन्त दान और भोग करने से नष्ट न हो ऐसे शाश्वत धन से यदि कोई उस साधु को आमन्त्रित करे अथवा कोई देव उस साधु के पास आकर नाना प्रकार की कृद्धि देने के लिए आमन्त्रित करे तो भी साधु उनमें आमक्त न गने । इसी प्रकार यदि कोई देवाङ्गना मुनि की प्रार्थना करे तो मुनि उसे स्वीकार न करे किन्तु वह साधु इन सब को माया समझ कर इन से दूर रहता हुआ समाधिभान में स्थित रहे ॥

सव्वट्ठेहि अमुच्छिए, आउकालस्स पारए । तितिकखं परमं एव्वा, विमोहएणयरं हियं ॥ २५ ॥

अन्यथार्थः—(सव्वट्ठेहि) सब अर्थों में अर्थात् पांच प्रकार के विषय तथा उनके साधनभूत द्रव्यों में (अमुच्छिए) मूर्छित न होता हुआ साधु (आउकालस्स) आयुष्य के ममय को (पारए) पार करे । (तितिकखं) तितिक्षा त्रयोत् परीपह उपसर्गों को सहन करना (परम) परम-प्रधान धर्म है (एव्वा) ऐसा जान कर साधु यथाशक्ति (विमोहएणयर) विमोहान्यतर अर्थात् मोहरहित भक्तपरिशा, इंगित मरण और पादपोषगमन इन तीनों में से किसी एक को स्वीकार करे क्योंकि (हियं) तीनों ही मरण हितकारी होते हैं । (ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ २५ ॥

भावार्थः—रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द ये पांच कामगुण कहलाते हैं और इनकी प्राप्ति के साधनभूत द्रव्य भी कामगुण कहलाते हैं, साधु इन दोनों में ही आसक्त न होता हुआ शुभ अध्यवसाय पूर्वक अपने आयु के काल को यथाविधि समाप्त कर समाधि-मरण को प्राप्त होवे ।

भक्तपरिज्ञा, इक्षितमरण और पादपौपगमन इन तीनों ही मरणों में परीषद् और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करना प्रधान धर्म है । इसलिये द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार तीनों में से किसी भी मरण का सेवन करना अभीष्टित शुभ फल का देने वाला है । अतः अपनी शक्ति के अनुसार किसी एक का आश्रय लेना मोक्षार्थी का कर्तव्य है । इस प्रकार श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य-जम्बू-स्वामी से कहते हैं ॥

॥ आठवाँ अध्ययन समाप्त ॥

उपधानश्रुत नामक नवां अध्ययन

प्रथम उद्देशक

पहले के आठ अध्ययनों में जो बातें बताई गई हैं, स्वयं भगवान् महावीर स्वामी ने उनका आचरण किया था यह बात इस नवम अध्ययन में बताई जायगी। आठवें अध्ययन में तीन प्रकार के मरणों का कथन किया गया है। उन तीनों मरणों में से किसी एक को अङ्गीकार करने वाला मुनि भगवान् महावीर स्वामी का ध्यान करे जिन्होंने उक्त आठों अध्ययनों में बताये गये विधानों का स्वयं आचरण करते हुए अतिघोर परीषह और उपसर्गों को सहन किया था और तत्फलस्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त किया था। उक्त मुनि उसी प्रकार परीषह उपसर्गों को सहन करे। इसी विषय को बताने के लिए यह नवम अध्ययन आरम्भ किया जाता है:—

अहासुयं वइस्सामि, जहा से समणे भगवं उट्ठाए । संखाए तंसि हेमंते, अहुणा पव्वइए रीइत्था ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(से) उन (समणे) भगवान् महावीर स्वामी ने (उट्ठाए) उठ कर और (संखाए) समझ कर (तंसि) उस (हेमंते) हेमन्त ऋतु में (पव्वइए) दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् (अहुणा) तत्काल (जहा) जिस प्रकार (रीइत्था) बिहार किया था, (अहासुय) उसका वर्णन जैसा मैंने सुना है वैसा ही (वइस्सामि) मैं तुम से कहूँगा ॥ १ ॥

भावार्थः—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि—हे आयुष्मन् जम्बू! भगवान् महावीर स्वामी के दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् किये हुए बिहार के विषय में जैसा मैंने सुना है वैसा ही मैं तुम से कहूँगा।

भगवान् महावीर स्वामी ने समस्त आभूषणों का त्याग कर पञ्चमुष्टि लोच करके हेमन्त ऋतु में मार्गशीर्ष कृष्ण दसमी के दिन दीक्षा अङ्गीकार की और उसी समय विहार कर दिया था। उस समय उनके शरीर पर ईन्द्र के द्वारा डाले हुए देवदूष्य वस्त्र के सिवाय कुछ नहीं था। उसी दिन भगवान् कुण्डग्राम से विहार करके कर्माग्राम को एक मुहूर्त दिन शेष रहते पहुँच गये थे।

गो चेविमेण वत्थेण, पिहिस्सामि तंसि हेमंते । से पारए आवकहाए, एवं खु अणुधम्मियं तस्स ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—(हेमेण) इस (वत्थेण) वस्त्र के द्वारा (तंसि) उस (हेमंते) हेमन्त ऋतु में (पिहिस्सामि) अपने अंगों को ढँकूँगा इस भाव से भगवान् ने उस वस्त्र को (गो चेव) धारण नहीं किया था क्योंकि (से) वे (आवकहाए) जीवन भर के लिए (पारए) सांसारिक समस्त पदार्थों से पार हो चुके थे अर्थात् उनका त्याग कर चुके थे। किन्तु (एव) इसको यानी देवदूष्य वस्त्र को धारण करना (तस्स) भगवान् के लिए (अणुधम्मियं) आनुगामिक था यानी पूर्व तीर्थङ्करों द्वारा आचरण किया हुआ कार्य था ॥ २ ॥

भावार्थः—भगवान् ने देवदूष्य वस्त्र को इस आशय से धारण नहीं किया था कि मैं इसके द्वारा हेमन्त ऋतु में अपना शीत निवारण करूँगा अथवा लज्जा को ढँकूँगा क्योंकि भगवान् ने जीवन पर्यन्त के लिए सासारिक पदार्थों का त्याग कर दिया था। अतः उस वस्त्र को धारण करने का एकमात्र यही कारण था कि पहले के समस्त तीर्थङ्करों ने देवदूष्य वस्त्र को धारण किया था। अतः भगवान् के लिए यह पूर्वाचरित धर्म था।

आगमों में ऐसा वर्णन आता है कि—भूत काल में जितने तीर्थङ्कर हुए हैं तथा भविष्य काल में जो होंगे एव वर्तमान काल में जो हैं, उन सभी ने प्रव्रज्या लेते समय देवदूष्य वस्त्र को धारण किया था, करेंगे और करते हैं। इसी परिपाटी के अनुसार भगवान् महावीर स्वामी ने भी देवदूष्य वस्त्र धारण किया था।

चत्वारि साहिए मासे, वहवे पाणजाइया आगम्म । अभिरुज्ज कायं विहरिं सु, आरुसिया रां तत्थ हिंसि सु ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(साहिए चत्वारि मासे) कुछ अधिक चार मास तक (वहवे) बहुत से (पाणजाइया) प्राणी (आगम्म) आकर और (काय) भगवान् के शरीर पर (अभिरुज्ज) चढ़ कर (विहरिं सु) इधर उधर रेंगते थे तथा (आरुसिया) रक्त मासादि के लिए भगवान् के शरीर पर चढ़ कर (तत्थ) उनके शरीर को (हिंसि सु) डसते थे ॥ ३ ॥

भावार्थः—दीक्षा ग्रहण करते समय भगवान् के शरीर पर इन्द्र द्वारा डाले गये देवदूह्य वस्त्र की गन्ध से आकर्षित होकर भंवर आदि प्राणी उनके शरीर पर आते थे और रक्त मास की इच्छा से उनके शरीर को डसते थे । कुछ अधिक चार मास तक भगवान् ने उन प्राणियों द्वारा दिया हुआ कष्ट सहन किया था ॥

संवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं । अचेलाए तओ चाई, तं वोसिरिज्ज वत्थमण्णारे ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(मास साहियं संवच्छर) कुछ मास अधिक एक वर्ष तक (भगव) भगवान् ने (कथग) उस वस्त्र का (ण रिक्कासि) त्याग नहीं किया था । (तओ) उसके पश्चात् भगवान् ने (तं) उस (कथ) वस्त्र का (चाई) त्याग कर दिया था । (वोसिरिज्ज) उसका त्याग करके (अचेलाए) वस्त्र रहित (अण्णारे) अनगार बने थे ॥ ४ ॥

भावार्थः—वह वस्त्र भगवान् के शरीर पर कुछ मास अधिक एक वर्ष तक रहा । उसके पश्चात् उस के गिर जाने से वस्त्र रहित हुए ॥

अट्ट पोरेसि तिरियमिणिं, चक्खुमासज्ज अंतसो भाइ । अट्ट चक्खुमीया संहिया ते, इंता इंता वहवे कंदि सु ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—(अह) इसके पश्चात् (फेरिसि-पोरिसि) पुरुष के प्रमाण के समान प्रमाण वाले (तिरियभिर्त्ति) तिच्छे भाग के ऊपर (चक्खु) दृष्टि (आसज्ज) लगा कर (अंतसो) उसके मध्य में ध्यान रखते हुए भगवान् (आइ-आइ) ईर्यां समिति पूर्वक गमन करते थे । (अह) इसके पश्चात् (चक्खुओया) इस प्रकार जाते हुए भगवान् को देख कर भयभीत बने हुए (ते) वे (वहेवे) बहुत से बालक (सहिया) एकत्रिन होकर (हता हता) भगवान् को मार मार कर (कदिसु) दूसरे बालकों को पुकारते थे ॥ ५ ॥

भावार्थः—भगवान् ईर्यासमिति के साथ पुरुष प्रमाण भूमि को आगे देखते हुए सावधानी पूर्वक गमन करते थे । उनकी दृष्टि अपने मार्ग से इधर उधर नहीं जाती थी । इस प्रकार जाते हुए भगवान् को देख कर छोटे छोटे लडके उन पर उपसर्ग करते थे । वे उन पर धूलि फेंकते थे तथा मुक्कों आदि से मारते थे और कौतुक देखने के लिए दूसरे लडकों को पुकारते थे ।

सयणेहि वित्तिमिस्सेहि, इत्थिओ तत्थ से परिणाय । सागारियं ण से सेवे, से सयं पवेसिया भाइ ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—जब कहीं (से) भगवान् को (वित्तिमिस्सेहि) व्यतिमिश्रित यानी गृहस्थ और अन्यतीर्थियों से सयुक्त (सयणेहि) शय्या अर्थात् स्थान प्राप्त हो जाता और (तत्थ) वहाँ पर (इत्थिओ) स्त्रिया यदि मैथुनादि की प्रार्थना करती तो (से) भगवान् उन्हें (परिणाय) जान कर यानी श्रुतिज्ञान से शुभ गति की बाधक समझ कर प्रत्याख्यान परिक्षा से उनका त्याग करते हुए (सागारियं) मैथुन का (ण सेवे-ण सेवइ) सेवन नहीं करते थे । (से) वे (सयं) स्वयं (पवेसिया) अपनी आत्मा को वैराग्य मार्ग में प्रविष्ट करके (भाइ) धर्मध्यान शुक्लध्यान ध्याते थे ॥ ६ ॥

भावार्थः—भगवान् प्राय एकान्तसेवी थे परन्तु कभी कभी जब उनकी निवासस्थान ऐसा प्राप्त होता जिसमें गुं

अन्यतीर्थिक भी होते, उस स्थान पर यदि कोई स्त्री मैथुन के लिए प्रार्थना करती तो भगवान् उसे स्वीकार नहीं करते थे। वे इसे शुभगति का बाधक समझते थे। वे धर्मध्यान और शुक्लध्यान ध्याते हुए वैराग्य मार्ग में ही स्थित रहते थे ॥

जे के इसे अगारत्था, मीसीभावं पहाय से भाई। पुट्टो वि खाभिभासिसु, गच्छइ शाइवत्तइ अंजू ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (के) कोई (इसे) ये (अगारत्था) गृहस्थ हैं उनके (मीसीभाव) संसर्ग को (पहाय) छोड़ कर (से) वे भगवान् (गाई) शुभध्यान ध्याते थे। (पुट्टो वि) उनके द्वारा पृच्छा जाने पर (खाभिभासिसु) ज्ञेयते नहीं थे किन्तु (गच्छइ) वे अपने कार्य के लिए चलते ही जाते थे। (अंजू) संयमानुष्ठान में तत्पर भगवान् (शाइवत्तइ) मोक्ष मार्ग का अतिरुमण नहीं करते थे ॥ ७ ॥

नोटः—किसी किसी प्रति में “पुट्टो नि नाभिभासिसु गच्छइ गारात्तइ अंजू” की जगह “पुट्टो य सो अपुट्टो व सो अगुण्णाइ पावग भगव” ऐसा पाठ है। जिसका शब्दार्थ हम प्रकार हैः—(पुट्टो) पृच्छने पर (व) अथवा (अपुट्टो) विना पूछे (भगव) भगवान् (पावग) पाप कर्म की (शो अगुण्णाइ) आक्षा नहीं देते थे ॥

भावार्थः—भगवान् गृहस्थों के संसर्ग से दूर रहते थे। किसी के कुछ पृच्छने पर वे कुछ भी उत्तर नहीं देते थे किन्तु मौन रहते थे। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ध्याते हुए वे सदा सयम गव मोक्षमार्ग में तल्लीन रहते थे ॥

शो सुकरमेयमेगेसि, खाभिभासे य अभिवायमाणे। हयपुब्बे तत्थ दंडेहिं, लूसियपुब्बे अप्पपुण्णेहिं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(एय) यह (एगेसि) दूसरे सामान्य पुरुषों के लिए (शा सुकर) सरल बात नहीं है कि (अभिवायमाणे) वन्दन करने वालों से (खाभिभासे) बोले नहीं तथा (अप्पपुण्णेहिं-अपुण्णेहिं) पुण्यरहित यानी पापी—अनार्य पुरुषों द्वारा (दंडेहिं) खण्डे आदि

से (क्षयपुत्र्ये) हनन किया जाने पर (य) और (लूसियपुत्र्ये) छेदन भेदन किया जाने पर कुपित न होवे एवं चित्त को विकार रहित बनाये रखे ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो बातें पहले कही गई हैं और जो आगे बताई जायेंगी उनका आचरण साधारण पुरुष नहीं कर सकता । भगवान् महाश्रीर स्वामी का आचरण ऐसा ही था । जिसका आचरण साधारण पुरुषों द्वारा नहीं हो सकता । यदि कोई भगवान् को वन्दना करता तो वे उससे नीलते नहीं थे और जो वन्दना नहीं करता उस पर क्रोध भी नहीं करते थे । प्रतिकूल उपसर्ग होने पर वे चित्त में स्थिर नहीं होते थे । जब भगवान् अनार्य देश में पधारे तब वहाँ के अनार्य लोगों ने भगवान् को अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाया तो भी भगवान् सदा शान्त और समभावी बने रहे ।

फरसाईं दुत्तितिस्वाइं, अइयच्चे, मुणी परक्कममाणे । आघायणइगीयाइं, दंडजुदाइं मुट्टिजुदाइं ॥ ९ ॥

अन्यार्थः—(दुत्तितिस्वाइं) मुदिकत से सहन करने योग्य (फरसाइं) कठोर वचनों को (परक्कममाणे) वे परम पराक्रमी (मुणी) भगवान् (अइयच्चे-अइयच्च) कुछ नहीं गिनते थे अपितु समभाव पूर्वक उन्हें सहन करते थे । (आघायणइगीयाइं) आख्यात, नृत्य और गीत तथा (दंडजुदाइं-दंडजुज्जाइं) दण्डयुद्ध और (मुट्टिजुदाइं-मुट्टिजुज्जाइं) मुष्टियुद्ध को देखने की इच्छा नहीं रखते थे ॥ ९ ॥

भावार्थः—अति कठोर वचनों को सुन कर भी भगवान् उन्हें समभाव पूर्वक सहन करते थे । तथा नाच, गान और दण्डयुद्ध मुष्टियुद्ध आदि को देखने की वे इच्छा नहीं करते थे ॥

गढिएं मिहुकहासु, समयम्मि गायसुए विसोए अदक्खु । एयाइं से उरालाइं, गच्छइ गायपुत्ते असरणाए ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—(लायसुए) ज्ञातपुत्रं भगवान् महावीरं स्नामी जंब कम्भी (गिहुकहासु) परस्पर वातोलोप में (गोदपे) तल्लीन स्त्रियों को (अदक्त्वा) देखते थे तो (समयम्) उस समय में (वित्तोण) हर्ष रहित होकर मध्यस्थ रहते थे। इस प्रकार (एयाइ) इन (उरालाइ) बड़े से बड़े अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों का (असरणाए) ख्याल न करते हुए (लायपुते) ज्ञातपुत्र भगवान् (गच्छइ) संयम मार्ग में गमन करते थे ॥ १० ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्नामी पिहार करते हुए जंब कम्भी मार्ग में परस्पर वातोलोप करती हुई स्त्रियों को देखते तो उनके हृदय में किसी प्रकार का हर्ष उत्पन्न नहीं होता था किन्तु समभाव बना रहता था। भारी से भारी अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों के आने पर भी वे संयम से विचलित नहीं होते थे ॥

अवि साहिए दुवे वासे, सीओदगं अभुन्वा शिक्खंते । एगत्तंगए पिहियच्चे, से अहिण्णायदसणे संते ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—(अवि दुवे वासे साहिए) दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक (सीओदग) शीत जल यानी कच्चे पानी का (अभुन्वा) सेवन न करके (शिक्खंते) भगवान् ने दीक्षा ग्रहण की थी। (से) वे भगवान् (एगत्तंग) एकत्व भावना से भावित चित्तवाले, (पिहियच्चे) क्रोध की ज्वाला को शान्त किये हुए तथा (अहिण्णायदसणे) सम्यक्त्व की भावना से भावित और (संते) शान्त थे।

भावार्थः—अपने माता पिता का स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् भगवान् दीक्षा लेने को तय्यार हुए किन्तु अपने परिवारवर्ग के अत्याग्रह से भगवान् दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक गृहस्थावास में और ठहरे थे। उस समय में भगवान् ने कच्चे जल का सेवन नहीं किया था। उनके अन्तःकरण में सदा एकत्व की भावना विद्यमान थी और क्रोध की ज्वाला शान्त हो गई थी। वे सम्यक्त्व की भावना स युक्त, शान्त और शान्तेन्द्रिय थे। इस प्रकार भगवान् ने गृहस्थावास में ही सावग आरम्भ का त्याग कर दिया था।

पुढविं य आउकायं य, तेउकायं य वाउकायं य । बखगाईं वीयहरियाईं, तसकायं य सव्वसो खच्छा ॥१२॥
एयाईं संति पडिलेहे, चित्तमंतइं से अभिएणाय । परिवजिय विहरित्था, इय संखाय से महावीरे ॥१३॥
अन्वयार्थः—(पुढविं) पृथ्वीकाय (आउकाय) अउकाय (तेउकाय) तेउकाय (वाउकाय) वाउकाय (पणगाईं) पणक (वीयहरियाईं) वीज, हरित (य) और (तसकाय) असकाय को (सव्वसो) सर्व रूप से (खच्छा) जान कर (य) तथा (एयाईं) से सय (चित्तमंतइं) सन्नित्त (सति) हैं (पडिलेहे) ऐसा विचार कर (य) और (अभिणाय) समझ कर तथा (से) इनकी हिंसा से पाप लगता है (इय-इइ) ऐसा (संखाय) जान कर (महावीरे) भगवान् महावीर स्वामी (परिवजिय) इनकी हिंसा का त्याग करके (विहरित्था) विचरते थे ॥ १२-१३ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छहों कार्यों को चेतन जान कर इनका आरम्भ अर्थात् हिंसा न करते हुए विचरते थे ।

अट्टु आवरा य तसत्ताए, तसा य थावरत्ताए । अट्टुवा सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ॥१४॥

अन्वयार्थः—(कम्मुणा) कर्म से यानी कर्मों के वशीभूत होकर (थावरा) स्थावर जीव (तसत्ताए) त्रस रूप में परिणत होते हैं (अट्टुवा) अथवा (तलो-तमजीवा) त्रस प्राणी (थावरत्ताए) स्थावर रूप में परिणत होते हैं (अट्टुवा) अथवा (सव्वजोणिया) सर्व योनि बाले हैं (अट्टुवा) अत्तानी (सत्ता) जीव-कर्मों के वशीभूत होकर (पुढो) भिन्न भिन्न योनियों में (कप्पिया) परिवर्तित होते रहते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थः—कर्मों के वशीभूत होकर त्रस जीव पृथ्वीकायादि स्थावर योनियों में और स्थावर जीव त्रस योनियों में उत्पन्न होते हैं । अथवा सभी योनि वाले जीव रागद्वेष से युक्त होकर अपने किये हुए कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न योनियों में उत्पन्न होते रहते हैं ।

इस जगत में बाल के अग्रभाग जितना एक भी प्रदेश नचा हुआ नहीं है जहाँ इस जीव ने अनेकों बार जन्म मरण न किये हों ।

भगवं य एवमण्येसि, सोवहिष् दु लुपई वाले । कर्मं य सव्वसो णच्चा, तं पडियाइक्खे पावगं भगवं ॥१५॥

अन्वयार्थः—(भग्व) भगवान् महावीर स्वामी ने (एव) इस प्रकार (अण्येसि) समझ लिया था कि (गले) जो अश्वानी (सोव-
हिष्) उपधि से युक्त होता है वह (हु) निश्चय ही (लुपई) क्लेश को प्राप्त होता है । (कम्म) कर्म को (सव्वसो) सब प्रकार से (णच्चा)
जान कर (भग्व) भगवान् महावीर ने (त) कर्मों को उत्पन्न करने वाले (पावग) पाप कर्म का (पडियाइक्खे) त्याग कर दिया था ॥१५॥

भावार्थः—जो पुरुष द्रव्य से या भाव से उपधि युक्त होता है वह निश्चय ही कर्म जनित क्लेश का भाजन होता है यह जान
कर भगवान् ने उपधि का त्याग कर दिया था और जिन कार्यों से कर्मों का नन्व होता है उन कार्यों का भी भगवान् ने सर्वथा त्याग
कर दिया था ॥

दुविहं समिच्च मेहावी, किरियमवस्सायऽणेलिसं णाणी । आयाणसोयमहवाय—सोयं जोगं य सव्वसो णच्चा ॥१६॥

अन्वयार्थः—(मेहावी) सब भावों को जानने वाले (णाणी) केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी ने (दुविह) दो प्रकार के
कर्मों को (समिच्च) जान कर (अणेलिसं) अनुपम (किरिय) संयम रूप क्रिया का (अवस्साय) कथन किया था तथा (सव्वसो) सम्पूर्ण रूप
से (णच्चा) जान कर (यायाणसोय) आदानस्त्रोत (अहवायमेयं) अतिपातस्त्रोत (य) और (जोग) योगों को कर्मबन्ध का कारण
बताया था ॥ १६ ॥

भावार्थः—कर्म दो प्रकार के हैं—एक ईर्याप्रत्यय और दूसरा साम्परायिक । सर्वभावो के ज्ञाता भगवान् ने इन दोनों ही कर्मों
को जान कर इनका नाश करने वाली सयमानुष्ठान रूप क्रिया का अनुपम रीति से उपदेश दिया था । इसी प्रकार उन कवलज्ञानी

भगवान् ने आदानश्रोत, प्रतिपातश्रोत और योगों का भी उपदेश दिया था। जिसके द्वारा कर्मों का ग्रहण होता है उसे आदान कहते हैं। उन्मार्ग में चलने वाली इन्द्रियों आदान हैं। वे कर्मों के आने के मार्ग हैं इसलिए आदानश्रोत कहलाती हैं। इसी तरह प्राणातिपात और मृपावाद आदि भी कर्मों के आने के श्रोत हैं तथा वचन और काया रूप योग भी कर्मों के आने के श्रोत हैं क्योंकि ये सभी कर्मबन्ध के हेतु हैं। इसलिए सब प्रकार से इन्हें जान कर भगवान् ने कल्याणार्थ सयम रूप किया के पालन का आदेश किया था ॥

अवृत्तियमण्डिटं, समयणोसिमकरणाय । जस्सित्थिओ परिणयाया, सव्वकम्मावहाओ से अदक्ख ॥१७॥

अन्यार्थः—(अणवट्टि) जो अहिंसा को (अवृत्तिय) पाप रहित जान कर स्वयं उसका आचरण करता है तथा दूसरों से करता है और (सयं) स्वयं (अकरणाय) हिंसा नहीं करता है और (अणोसि) दूसरों से भी नहीं करता है तथा (जस्स) जिसने (इत्थिओ) स्त्रियों को (सव्वकम्मावहाओ) सब पापों का कारण (परिणया) जान लिया है (से) वही (अदक्ख) यथार्थदर्शी है ॥ १७ ॥

भावार्थः—जो पुरुष स्वयं हिंसा नहीं करता तथा दूसरों से भी नहीं करवाता है तथा जो स्त्रियों के स्वरूप को और उनमें आसक्ति के कारण होने वाले परिणाम को जानता है अर्थात् स्त्रियों को समस्त पापों का कारण समझता है वही परमार्थदर्शी है और वही ससार के स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता है। भगवान् ने स्त्री के स्वभाव को जान कर उसका त्याग कर दिया था। इसलिए वे परमार्थदर्शी थे ॥

अहाकडं ण से सेवे, सव्वसो कम्म अदक्ख । जं किंचि पावणं भगवं, तं अकुण्वं वियडं भुजित्था ॥१८॥

अन्वयार्थः—(भगवं) भगवान् महावीर स्वामी ने (अहाकडं) आधाकर्मों आहार का (ण सेवे) सेवन नहीं किया था, क्योंकि (से) वे उसमें (सव्वसो) सब प्रकार से (कम्म) कर्मों का घन्घ (अदक्ख) देखते थे। इसी तरह दूसरा भी (जं किंचि) जो कुछ (पावणं)

पाप का हेतु था (स) उसका (अर्थ) भगवान् सेवन नहीं करते थे किन्तु (विश्व) प्रायुक्त (भुजिष्वा) आहार को सेवन करने से ॥
भावार्थः—भगवान् ने प्राधाकर्म आहार का कभी सेवन नहीं किया था क्योंकि 'प्राधाकर्म आहारादि के' सेवन से आठ प्रकार के कर्मों का वन्ध होमा भगवान् ने देखा था। इसी तरह जिन कर्मों से पाप होमा भगवान् ने देखा था उन सब को छोड़ कर वे प्रायुक्त आहार का सेवन करते थे ॥

णो सेवइ य परवत्यं, परपाए वि से ए भुजित्या । परिषज्जियाण ओमाणं, मज्झइ मंखहि असरब्बयाए ॥१६॥

अन्वयार्थः—भगवान् (परवत्यं) उत्तम वस्त्र अथवा दूसरे के वस्त्र का (लो सेवइ) सेवन नहीं करते थे (य) और (परपाए वि) दूसरों के पात्र में भी (से) वे (ए भुजित्या) नहीं खाते थे। वे (ओमाण) अपमान को (परिषज्जियाण) त्याग कर (असरब्बयाए) अशूनभाव से (मंखहि) आहार के स्थान में (मज्झइ) अति थे ॥ १६ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी बहुमूल्य वस्त्रों को या दूसरे के वस्त्रों को धारण नहीं करते थे। तथा वे दूसरे के पात्र में भी भोजन नहीं करते थे। वे अपमान को खयाल न करके अशून धृति से आहार के स्थान में अति थे ॥

मायएल्ले अससखपाखसा, खाण्डुगिद्धे रतेसु अपडिहए । अट्ठि वि ओ यमज्जिया, ओ वि व कंइयइ इवी पाव ॥२०॥

अन्वयार्थः—भगवान् (अससखपाखसा) आहार पानी के (मोक्खे) परिमल को जानते थे। वे (रतेसु) रस्सों में (खाण्डुगिद्धे) आसक्त नहीं होते थे तथा (अपडिहए) 'आज अमुक्त सिपाई भोजन ही लूंगा' ऐसी प्रतीक्षा भी वे नहीं करते थे। वे वस्त्रों की धूलि निवारण के लिए उन्हां ने कभी (अट्ठि) ओखें का (लो वि पलज्जिया) प्रमर्जन भी नहीं किया (य) और (मुणो) उन मुनि भगवान् ने (अप) अपने शरीर में (लो वि कंइयइ) कभी लाज भी नहीं की ॥ २० ॥

भावार्थः—भगवान् आहार पानी की मात्रा को जानते थे अतः वे मात्रा के अनुसार ही आहार पानी का ग्रहण करते थे। वे रसों में आसक्त नहीं थे। “आज मैं सिंहकेशरिया मोदक आदि मिष्ठान्न ही लूंगा” ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करते थे किन्तु नीरस कुल्माष-कुत्तथी आदि के लिए तो अभिग्रह करते ही थे। भगवान् ने न तो कभी नेत्र की धूलि को निकालने के लिए नेत्र को परिमार्जित किया और न काष्ठ आदि के द्वारा अपने अङ्गों में खाज ही की थी ॥

अप्यं तिरियं पेहाए, अप्यं पिट्ठओ व पेहाए । अप्यं बुइए ऽपडिभासी, पंथपेही चरे जयमाणे ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः—भगवान् महावीर स्वामी (तिरिय) तिष्ठे (अप्य पेहाए) न देखते हुए (व-य) और (पिट्ठओ) पीछे भी (अप्यं पेहाए) न देखते हुए (पथपेही) एक मात्र अपने मार्ग को देखते हुए (जयमाणे) यतना पूर्वक (चरे) चलते थे तथा किसी के कुछ पूछने पर (अपडिभासी-अपडिभाणी) कुछ न बोलते हुए (अप्य बुइए) मौन रहते थे ॥ २१ ॥

भावार्थः—मार्ग में चलते समय भगवान् इधर उधर तिष्ठे या पीछे की ओर नहीं देखते थे किन्तु सामने मार्ग को देखते हुए यतनापूर्वक विहार करते थे और किसी के कुछ पूछने पर वे कुछ भी बोलते नहीं थे किन्तु मौन रहते थे ॥

सिसिरंसि अट्ठपडिवणो, तं वोसिज्ज वत्थमणगारे । पसारित्तु बाहुं परक्कमे, णो अवलंविमाण खंधंसि ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः—(अणगारे) अनगर भगवान् महावीर स्वामी (सिसिरंसि-सिसिरमि) शिशिर ऋतु के (अट्ठपडिवणो) आरम्भ में ही (त) उस (वत्थ) देवदूष्य वत्थ को (वोसिज्ज) त्याग कर (बाहु-गहू) भुजाओं को (पसारित्तु) फैला कर (परक्कमे) चलते थे किन्तु शीत से पीड़ित होकर भुजाओं को संकुचित कर तथा (वधसि-राधमि) कन्धों का (अवलंविमाण) अवलम्बन लेकर (णो) नहीं

चलते थे ॥ २२ ॥

भावार्थः—भगवान् शिशिर ऋतु के आरम्भ में ही उस देवदूत वस्त्र को त्याग कर अपनी मुजाओं को फैला कर चलते थे परन्तु शीत से पीडित होकर मुजाओं को संकुचित नहीं करते थे तथा कन्धों का अवलम्बन भी नहीं लेते थे ॥

एस विही अणुवर्कतो, माहणेण मइमया । बहुसो अपडिण्णेण, भगवया एवं रीयंति चि वेमि ॥ २३ ॥

अन्यार्थः—(महमया) मतिमान् (अणुण्णेण) निदान रहित (माहणेण) माहन् (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (बहुसो) अनेक प्रकार से (एस) इसी (विही) विधि का (अणुवर्कतो) आचरण किया था इसलिए अन्य मोक्षार्थी आत्माओं को (एवं) इसी प्रकार (रीयंति—रीयंतै) आचरण करना चाहिये । (चि वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ २३ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी ने पूर्वोक्त प्रकार से आचरण किया था इसलिए दूसरे मोक्षार्थी पुरुषों को भी इसी प्रकार आचरण करना चाहिये ऐसा श्री सुधर्मस्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं ॥

॥ इति नवम अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

पहले उद्देशक में भगवान् की चर्या का वर्णन किया गया है, अब उस वसति का वर्णन किया जाता है जहाँ भगवान् ठहरते थे ।
चरियासणाइं सिज्जाओ, एगइयाओ जाओ बुइयाओ । आइक्ख ताईं सयणासणाइं जाईं सेवित्था से महावीरे ॥१॥

अन्वयार्थः—(चरिया) भगवान् महावीर स्वर्मा की चर्या में (जाओ) जो (एगइयाओ) कितनेक (आसणाइ) आसन और (सिज्जाओ) शय्याएँ (बुइयाओ-भइयाओ) कही गई है (जाइ) जिन्हें (से) उन (महावीरे) भगवान् महावीर स्वामी ने (सेवित्था) सेवन किया था (ताइ) उन (सयणासणाइ) शय्या और आसनों के विषय में (आइक्ख) आप मुझ से कहिये ॥ १ ॥

भावार्थः—जन्मस्वामी अपने गुरु श्री सुधर्मोत्तमो से पूछते हैं कि हे भगवन् ! भगवान् महावीर स्वामी ने जैसी शय्या और आसनादि का सेवन किया था उन शय्या और आसन आदि के विषय में कृपा कर आप मुझ से कहिये ।

आवेसणसभापवासु, पणियसालासु एगया वासो । अदुवा पलियट्ठणेषु, पलालपुंजेषु एगया वासो ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—भगवान् महावीर स्वामी (एगया) कभी (आवेसण) जिसके चारों तरफ दीवार बनी हुई हो ऐसे स्थान में, (सभा) सभा और (वासु) व्याज के स्थान में और (पणियसालासु) दूकानों में (वासो) निवास करते थे (अदुवा) अथवा (एगया) कभी (पलियट्ठणेषु) चढ़ई और लुहार आदि के कार्य करने के स्थान में और (पलालपुंजेषु) मंच के ऊपर रखे हुए तृणपुञ्ज के नीचे (वासो) निवास करते थे ॥ २ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी कभी सूने घर सभा, प्याऊ और दूकान में निवास करते थे और कभी बटई और लुहार के कार्य करने के स्थान में और मन्त्र के ऊपर रखे हुए तृणों के नीचे निवास करते थे ॥

आगंतारे आरामागारे, तह य एगरे वि एगया वासो । सुसाणे सुएणगारे वा, खलमूले वि एगया वासो ॥३॥

अन्वयार्थः—भगवान् महावीर (एगया) कभी (आगतारे) सुसाफिरो के उतरने के स्थान में यानी धर्मशाला आदि में, (आरामागारे) वगीचे में बने हुए मकान में (तह य) और कभी (एगरे वि) नगर में (वासो) निवास करते थे । (एगया) कभी (सुसाणे) प्रमथान में (सुएणगारे) दीवार रहित सूने घर में (वा) अथवा कभी (खलमूले वि) वृक्ष के नीचे भी (वासो) निवास करते थे ॥ ३ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी अवसर के अनुसार कभी धर्मशाला में, कभी वगीचे में बने हुए मकान में, कभी नगर में, कभी प्रमथान में, कभी सूने घर में और कभी वृक्ष के नीचे निवास करते थे ॥

एएहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसि पतेरसवासे । राइदियंवि जयमाणे, अपमत्ते समाहिए भाइ ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(मुणी) तपस्या में रत मुनि (समणे) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने (एएहिं) इन (सयणेहिं) स्थानों में (पतेरसवासे-पतेलसवाने) उत्कृष्ट तेरह वर्ष तक अर्थात् तेरह वर्ष से अधिक नहीं किन्तु तेरह वर्ष से कुछ कम समय तक (आसि) निवास किया था । वे (राइ दिय वि-राइ दिव वि) रात दिन (जयमाणे) संयम के अनुष्ठान में यत्नवान् रहते थे । वे (अपमत्ते) कभी प्रमाद नहीं करते थे एव (समाहिए) स्थिर चित्त होकर (भाइ) धर्मध्यान शुभलक्षण ध्याते थे ॥ ४ ॥

भावार्थः—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी तेरह वर्ष से कुछ कम समय तक इन पूर्वोक्त प्रमथान, सूने घर, वृक्षमूल आदि

स्थानों में निवास करते हुए कठिन तपस्या करते थे। वे रात दिन संयम के अनुष्ठान में लगे रहते थे किन्तु कभी प्रमाद का सेवन नहीं करते थे। उनका चित्त सदा समाधिस्थ रहता था। इस प्रकार के धर्मध्यान शुक्लध्यान का चिन्तवन करते थे।

णिहं पि यो पगमाए, सेवइ भगवं उट्टाए । जग्गवइ य अण्णाणं, ईसिं सई य अपडिण्णे ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—(भगव) भगवान् (णिहं पि) निद्रा का (यो सेवइ) सेवन भी नहीं करते थे। यदि कभी (ईसिं) थोड़ी-सी भी (सई) निद्रा उन्हें सताती तो वे (उट्टाए) उठ कर (अण्णाण) अपनी आत्मा को (पगमाए—जग्गवइ) पूर्णतया सदा जागृत रखते थे अर्थात् उत्तम अनुष्ठान में तल्लीन रखते थे किन्तु (अपडिण्णे) सोने की कभी इच्छा तक नहीं करते थे ॥ ५ ॥

भावार्थः—समस्त प्रमादों से रहित भगवान् निद्रा का सेवन भी नहीं करते थे। वे सदा अपनी आत्मा को शुभ अनुष्ठान में प्रवृत्त रखते थे किन्तु सोने की कभी इच्छा तक नहीं करते थे।

संयुज्जम्माणे पुणरपि, आसिंसु भगवं उट्टाए । णिक्खम्म एगया राओ, बहि चंक्रमिया मुहुत्ताणं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—(संयुज्जम्माणे) निद्रा प्रमाद संसारभ्रमण का कारण है यह समझते हुए (भगव) भगवान् निद्रा प्रमाद से सर्वथा वर्जित (आसिंसु) थे। (पुणरपि) फिर भी यदि कभी जरूरी सा भी निद्राप्रमाद उन्हें सताता तो वे (उट्टाए) उठ कर खड़े हो जाते थे और निद्रा प्रमाद की निवृत्ति के लिए (एगया) कभी कभी (राओ) रात्रि में (बहि) अपने स्थान से बाहर (णिक्खम्म) निकल कर और वहाँ (मुहुत्ताणं) मुहूर्तों पर्यन्त (चंक्रमिया) कुछ कदम चल कर ध्यान में स्थित होते थे ॥ ६ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी के चित्त में निद्रा प्रमाद न था। वे समझते थे कि निद्राप्रमाद संसारभ्रमण का कारण

होता है। यदि कभी निद्राप्रमाद का उदय हो आता तो भगवान् उसकी निवृत्ति के लिए शीतकाल की रात में अपने स्थान से बाहर निकल कर और वहीं कुछ दहल कर ध्यान में स्थित हो जाते थे।

सयणेहिं तत्पुवसग्गा, भीमा आसी अणेगरूवा य जे पाणा, अट्ठुवा जे पक्खिणो उवचरंति ॥७॥

अन्वयार्थः—भगवान् (सयणेहिं) जिन स्थानों में ठहरते थे (तत्पुवसग्गा) अनेक प्रकार के (भीमा) भयंकर (उवसग्गा) उपसर्ग (आसी) हुए थे (य) और (जे) जो (ससप्पणा पाणा) सरक कर चलने वाले प्राणी हैं उन सर्प, नकुल आदि प्राणियों द्वारा (अट्ठुवा) तथा (जे) जो (पक्खिणो) पक्षी (उवचरंति) समीप आकर मांसभक्षण करते थे उन गीघ आदि प्राणियों द्वारा बहुत से उपसर्ग हुए।

भावार्थः—जहाँ भगवान् ठहरते थे वहाँ शीत, ऊष्ण, अनुकूल और प्रतिकूल अनेक प्रकार के भयङ्कर उपसर्ग हुए। सूते घर में ठहरने पर सर्प और नकुल आदि द्वारा तथा श्मशान में गीघ और शृगाल आदि मांसभक्षी प्राणियों द्वारा अनेक भयङ्कर उपसर्ग हुए।

अट्ठु कुचरा उवचरंति, गामरक्खा य सत्तिहत्था य। अट्ठु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगइया पुरिसो य ॥८॥

अन्वयार्थः—भगवान् को कभी (कुचरा) चोर और पारदारिक आदि (अट्ठु) और कभी (सत्तिहत्था) शक्ति और भाला आदि शस्त्र हाथ रखने वाले (गामरक्खा) ग्रामरक्षक पुरुष (उवचरंति) उपसर्ग करते थे (य) और (एगइया) कभी (गामिया) ग्राम के (इत्थी) स्त्री (अट्ठु) अथवा (पुरिसो) पुरुष द्वारा (उवसग्गा) उपसर्ग दिये जाते थे ॥ ८ ॥

भावार्थः—सूते घर में ठहरने पर चोर और पारदारिक आदि द्वारा उपसर्ग दिये जाते थे और बाजार में दूकान आदि पर

ठहरने पर शस्त्रधारी ग्रामरक्षको द्वारा उपसर्ग दिये जाते थे तथा कभी-कभी एकान्त स्थान में ठहरने पर किसी स्त्री और पुरुष द्वारा उपसर्ग दिये जाते थे ।

इह लोइयाई परलोइयाई, भीमाई अणोगरूवाई । अवि सुब्भिदुब्भिगंधाई, सदाई अणोगरूवाई ॥६॥

अन्वयार्थः—भगवान् महावीर स्वामी (इहलोइयाई) इहलौकिक और (परलोइयाई) पारलौकिक (अणोगरूवाई) अनेक प्रकार के (भीमाई) भयंकर उपसर्गों को सहन करते थे । (अवि) और (सुब्भिदुब्भिगंधाई) सुगन्ध और दुर्गन्ध सम्बन्धी तथा (सदाई) भयंकर शब्द सम्बन्धी (अणोगरूवाई) अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करते थे ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस लोक में दुःख देने वाले दण्डप्रहार आदि प्रतिकूल और परभव में दुःख देने वाले स्त्री आदि से किये हुये अनुकूल इन दोनों प्रकार के परीपहों को तथा मनुष्य और तिर्यञ्चरुत और देवादिकृत परीपह उपसर्गों को भगवान् समभावपूर्वक सहन करते थे । सुगन्ध और दुर्गन्ध तथा मधुर शब्द और कठोर शब्द इन सब को एक समान विकाररहित चित्त से सहन करते थे ।

अहियासए सया समिए, फासाई विरूवरूवाई । अरइं रइं अभिभूय, रीयइ माहणे अवहुवाई ॥१०॥

अन्वयार्थः—(माहणे) माहन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी (सया) सदा (समिए) समिति से युक्त होकर (विरूवरूवाई) अनेक प्रकार के (फासाई) कष्टों को (अहियासए) समभावपूर्वक सहन करते थे और (अरइं) अरति और (रइं) रति को (अभिभूय) हटा कर (अवहुवाई) बहुत न चोलते हुए (रीयइ) विचरते थे ॥ १० ॥

भावार्थः—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी सदा पांच समितियों से युक्त रहते हुए अनेक प्रकार के परीपहों को सहन करते थे । वे अधिक नहीं चोलते थे और सयम में अरति और असंगम में रति को हटाकर विचरते थे ।

स जणेहिं तत्थ पुच्छिंखु, एगचरा वि एगया राओ । अन्वाहिंए कसाइत्था, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे ॥११॥

अन्वयार्थः—(एगया) कभी कभी (तत्थ) वहां पर (राओ) रात्रि के समय (एगचरा) अकेले घूमने वाले परली लपट आदि (जणेहिं) पुरुष (स) भगवान् महावीर स्वामी से (पुच्छिंखु) पूछते थे और (अन्वाहिंए) भगवान् के कुछ न बोलने पर (कसाइत्था) वे क्रोधित होते थे परन्तु भगवान् (समाहिं) समाधि में (पेहमाणे) तल्लीन रहते हुए (अपडिण्णे) अपने अपमान का बदला लेने की इच्छा नहीं करते थे ॥ ११ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी एक पक्ष अधिक साढ़े बारह वर्ष तक अकेले विचरे थे । उस समय जब वे रत्ने घर आदि में ठहरते थे तब रात्रि के समय परली लपट जार आदि २ आकर उनसे पूछते थे कि “तू कौन है ? कहाँ का है ? यहा क्यों ठहरा हुआ है ?” किन्तु भगवान् कुछ भी उत्तर नहीं देते थे । तब वे अज्ञानी क्रोधित होकर भगवान् को पीटते थे । भगवान् इन सब परीपहों को समभावपूर्वक सहन करते थे किन्तु बदला लेने की कभी इच्छा नहीं करते थे ।

अयमंतरंसि को इत्थ, अहमंसिति भिक्खु आहट्ठु । अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए कसाइए भाइ ॥१२॥

अन्वयार्थः—(इत्थ) यहां (अतरसि) इस मकान के अन्दर (अय) यह (को) कौन है ? ऐसा पूछने पर (अहं) मैं (भिक्खु) भिक्षु (असि ति) हैं इस प्रकार (आहट्ठु) कह कर भगवान् (तुसिणीए) चुप हो जाते थे । (कसाइए) यदि वे क्रोधित होते तो (अय) इस परीपह को समभावपूर्वक सहन करना (उत्तमे) उत्तम (धम्मे) धर्म है ऐसा जानकर (से) वे भगवान् चुपचाप रहकर (भाइ) शुभ-ध्यान में संलग्न रहते थे ॥ १२ ॥

भावार्थः—जब भगवान् मूर्ते घर आदि में ठहरते थे तब परस्त्री लम्पट जार आदि पुरुष आकर उनसे पूछते थे कि इस मकान के अन्दर यह कौन है ? यह सुनकर भगवान् प्रायः मौन ही रहते थे परन्तु किसी समय भारी अनर्थ को दूर करने के लिए वे सिर्फ इतना कह देते थे कि “मैं भिन्न हूँ” । यदि वे अज्ञानी क्रोधित होकर मारपीट आदि करते तो परीषद् को समभावपूर्वक सहन करते थे और सदा शुभचिन्तन से तल्लीन रहते थे ।

जसिप्येगे पनेयति, सिसिरे मारुए पवायते । तंसिप्येगे शिवायमेसति ॥ १३ ॥
संघाडीओ पवेसिस्सामो, एहा य समादहमाणा ! पिहिया वा सक्खामो, अइदुक्खे हिमगसंफासा ॥ १४ ॥
तंसि भगवं अपडिण्णो, अहे वियडे अहियासए दविण । शिक्खम्म एगया राओ, ठाए भगवं समियाए ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—(जसिप्येगे) जिस शिशिरऋतु में कितनेक पुरुष (पवेयति) शीत से कांपने लगते हैं और जब (तसि) उस (सिसिरे) शिशिरऋतु में (हिमवाए) हिमकणों से युक्त ठंडी (मारुए) हवा (पवायते) चलने लगती है तो (एगे) अन्यदर्शन वाले कितनेक (अणगारा) अनगर (शिवाय) वायुरहित स्थान (एसति) ढूँढते हैं । और कितनेक अनगर यह विचार करते हैं कि हम (संघाडीओ) कम्बल आदि वस्त्रों में (पवेसिस्सामो) प्रवेश करेंगे यानी कम्बल आदि ओढ़ कर रहेंगे और कितनेक ऐसा विचार करते हैं कि हम (पिहिया) अपने शरीर को कपड़ों से ढक कर ही (सक्खामो) शीत को सहन कर सकेंगे (य) और अन्यतीर्थी लोग शीत निवारण के लिए (एहा) काष्ठादि (समादहमाणा) जलाते हैं वे कहते हैं कि (हिमसंफासा) शीत को सहन करना (अइदुक्खे) बड़ा कठिन है ।

(तसि) उस शीत ऋतु में (दविण) शुद्धसंयम का पालन करने वाले (भगवं) भगवान् (अहियासए) शीत परीषद् को समभाव

पूर्वक सहन करते थे (अपडिण्णे) वे यह इच्छा भी न करते थे कि 'मुझे पवन रहित स्थान मिले' । जिस स्थान में भगवान् ठहरते थे वह प्रायः (अहे) नीचे (वियहे) कच्चा आंगन वाला होता था । (एण्ण) कभी कभी (रात्रो) रात्रि के समय (भगव) भगवान् (सिम्बुम्म) अपने ठहरे हुए स्थान से बाहर निकल कर (समियाए) शान्तिपूर्वक शीत को सहन करते हुए (ठहए) स्थित रहते थे ॥१३॥से॥१५॥

भावार्थः—शिशिर ऋतु में साधारण व्यक्ति शीत से कापने लगते और अन्यतीर्थिक साधु शीतनिवारण के लिए कम्बल आदि की याचना करते और पवनरहित स्थान का आश्रय लेने तथा क्लिप्तनेक तो लकड़ी जना कर शीत की निवृत्ति करते हैं । शीतस्पर्श की पीडा बड़ी दुःसह होती है इसलिए वे लोग ऐसा करते हैं किन्तु उस शिशिरऋतु में भगवान् महावीर स्वामी सगभावपूर्वक शीतस्पर्श को सहन करते थे । वे यह इच्छा भी नहीं करते थे कि मुझे पवनरहित स्थान मिले । कभी कभी रात्रि के समय भगवान् अपने ठहरे हुए स्थान से बाहर निकलकर शीतस्पर्श को समभावपूर्वक सहन करते हुए ध्यानस्थ खड़े रहते थे ।

एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मइमया । बहुसो अपडिण्णे, भगवया एवं रीयति ॥ १६ ॥ त्ति वेमि ॥

अन्वयार्थः—(मइमया) मतिमान् (अपडिण्णेण) निदान रहित (माहणेण) माहन (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (बहुसो) बहुत बार (एस) इस (विही) विधि का (अणुक्कंतो) आचरण किया था । इसलिए अन्य मोक्षार्थी आत्माओं को भी (एवं) इसी प्रकार (रीयति-रीयति) आचरण करना चाहिए (त्ति वेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १६ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी ने पूर्वोक्त प्रकार से आचरण किया था । इसलिए दूसरे मोक्षार्थी पुरुषों को भी उनका अनुकरण करना चाहिए ऐसा श्री सुघर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं ।

॥ इति नवम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन का तृतीय उद्देशक

अ० नवा०

तु० ४०

२६१

दूसरे उद्देशक में भगवान् की शय्या के विषय में कहा गया है। उन स्थानों में रहते हुए भगवान् ने जो परीषद और उपसर्ग सहन किये थे वे तीसरे उद्देशक में बताये जाते हैं—

तृणफासे सीयफासे य, तेउफासे य दंसमसगे य । अहियासिए सया समिए, फासाइं विरुवरुवाइं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(सया) सदा (समिए) समिति युक्त भगवान् महावीर स्वामी (तृणफासे) तृणस्पर्श (सीयफासे) शीतस्पर्श (तेउफासे) तेजस्पर्श (य) और (दसमसगे) दंशमशकस्पर्श (य) तथा (विरुवरुवाइं) नाना प्रकार के (फासाइ) परीषद उपसर्गों को (अहियासिए) समभाव पूर्वक सहन करते थे ॥ १ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श और दश मच्छर के परीषद को तथा नाना प्रकार के परीषद उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करते थे ।

अह दुच्चरं लाढमचारी, वज्जभूमिं य सुब्भभूमिं य । पंतं सिज्जं सेविंसु, आसणगणि चेव पंताणि ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—(अह) इसके पश्चात् (दुच्चरं) जहां विचरना बड़ा ही कठिन है ऐसे (लाढ) लाढ देश की (वज्जभूमिं) वज्रभूमि (य) और (सुब्भभूमिं) शुभ्रभूमि में (अचारी) भगवान् ने विहार किया था (य) और (पंतं) प्रांत (सिज्जं) शय्या का (चेव) और (पंताणि) प्रांत (आसणगणि) आसनों का (सेविंसु) सेवन किया था ॥ २ ॥

भावार्थः—जहाँ विचरना बड़ा ही कठिन है ऐसे लाढ देश की वज्रभूमि और शुभ्रभूमि इन दोनों ही प्रदेशों में भगवान् विचरे थे । वहाँ अनेक उपद्रवों से युक्त सूने घर आदि में भगवान् ने विश्राम लिया था और काठ आदि टेढ़े मेंटे आसन पर ही शयन किया था ।

लाढेहि तस्सुवसग्गा, बहवे जाणवया लूसिंसु । अह लूहेदेसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु णिवइंसु ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(लाडेहि) लाढ देश में (तस्स) उन भगवान् महावीर स्वामी को (बहवे) बहुत (उवसग्गा) उपसर्ग हुए थे । (अह) वहाँ (भत्ते) आहार (लूहेदेसिए) रूखा सूखा ही मिलता था । (जाणवया) उस देश के अनार्य लोग (लूसिंसु) भगवान् को मारते थे और (तत्थ) वहाँ (कुक्कुरा) कुत्ते (हिंसिंसु) उन्हें काटते थे और (निवइंसु) उनके ऊपर दूट पड़ते थे ॥ ३ ॥

भावार्थः—लाढ देश में विचरते समय भगवान् को बहुत उपसर्ग हुए थे । वहाँ के निवासी अनार्य लोग भगवान् को मारते थे, कुत्ते उन्हें काटते थे और उन पर दूट पड़ते थे ।

अपे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए दसमाणे । छुच्छुकारिंति आहंसु, समणं कुक्कुरा दसंतु त्ति ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(लूसणए) जब शिकारी कुत्ते भगवान् को काटते थे तब (दसमाणे) काटने वाले (सुणए) उन कुत्तों को (अपे जणे) बहुत थोड़े अर्थात् हजारों में से एकाध व्यक्ति ही (णिवारेइ) निवारण करने वाला होता था, बाकी सभी (छुच्छुकारिंति) छुछु शब्दों द्वारा (आहंसु) कुत्तों को उत्साहित करते थे । वे चाहते थे कि (कुक्कुरा) कुत्ते (समण) इस साधु को (दसंतु) काट लायें ॥ ४ ॥

भावार्थः—उस लाढ देश में विचरते समय भगवान् को जब कुत्ते काटने लगते थे तो वहाँ के निवासियों में हजारों में से कोई एकाध ही ऐसा निकलता जो उन कुत्तों को निवारण करना था अन्यथा सब के सब उन कुत्तों को ललक करके काटने के लिए ही प्रेरित

करते थे । ऐसे भयङ्कर देश में भगवान् ने छः मास तक भ्रमण किया था ।

एलिव्खए जणा भुज्जो, वहवे वज्जभूमि फरुसासी । लट्ठि गहाय णालियं, समणा तत्थ य विहरिंसु ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—(वज्जभूमि) उस लाढदेश की वज्जभूमि में (एलिव्खए) इस तरह के (वहवे) बहुत से (जणा) मनुष्य (फरुसासी) रूक्ष आहार करने वाले थे अतएव वे स्वभाव से ही क्रोधी होते थे (तत्थ) वहां पर (समणा) अन्यतीर्थिक भिक्षु (लट्ठि) अपने शरीर प्रमाण लाठी अथवा (णालिय) नालिका अर्थात् अपने शरीर से चार अंगुल अधिक बड़ी लकड़ी (गहाय) लेकर विचरते थे । ऐसे विकट देश में भगवान् ने (भुज्जो) बारवार (विहरिंसु) विहार किया था ॥ ५ ॥

भावार्थः—उस लाढ देश की वज्जभूमि के निवासियों का रूक्षाहार होता है इसलिये वे स्वभाव से ही बड़े क्रोधी होते हैं । वहाँ रहने वाले अन्यतीर्थिक भिक्षु हाथ में लाठी या नालिका लेकर विचरते हैं और उसके द्वारा वे कुत्तों को निवारण करते हैं । ऐसे विकट देश में भगवान् ने बार बार विहार किया था ।

एवं वि तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं । संलुंचमाणा सुणएहिं, दुच्चरगाणि तत्थ लाहेहिं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—(तत्थ) उस देश में (एवं वि) इस प्रकार हाथ में लाठी या नालिका लेकर (विहरंता) विचरते हुए भी अन्य-
र्थिक भिक्षु (सुणएहिं) कुत्तों द्वारा (पुट्ठपुव्वा अहेसि) काटे गये थे और (सुणएहिं) कुत्तों द्वारा (संलुंचमाणा) नोचे गये थे । इसलिये (तत्थ)
। (लाहेहिं) लाढ देश में (दुच्चरगाणि-दुच्चराणि) विचरना बड़ा ही कठिन था ॥ ६ ॥

भावार्थः—हाथ में लाठी या नालिका लेकर विचरने पर भी अन्यतीर्थिक भिक्षुओं को कुत्ते काट खाते थे। वैसे विकट देश में भी भगवान् समभावपूर्वक विचरे थे।

शिर्हाय दंडं पाणेहि, तं कायं वोसिज्जमणगारे । अह गामकंटेण भगवं ते, अहियासए अभिसमिच्च ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(अणगारे) गृहरहित अनेगार (भंग) भगवान् (पाणेहि) प्राणियों को (दंड) दण्ड देने का (शिर्हाय) स्वयं त्याग करके और (त) अपने (काय) शरीर पर (वोसिज्ज) समत्व का त्याग करके (अह) और परिगृह्य को समभावपूर्वक सहन करने से निर्जरा होती है ऐसा (अभिसमिच्च) जान कर (ते) उन्हें (गामकंटेण) नीच जनों के कठोर वाक्यों को और अन्य परीपदों को (अहियासए) समभाव पूर्वक सहन करते थे ॥ ७ ॥

भावार्थः—भगवान् ने मन, वचन, कर्माती से प्राणियों को दण्ड देने का त्याग किया था तथा उन्होंने अपने शरीर की ममता भी त्याग दी थी अतएव निर्जरा के लिए नीचजनों के कठोर वचनों को और दूसरे परीपद उर्वमर्गों को समभावपूर्वक सहन करते थे।

शींगी सगीमसीसि व, पारए तत्थ सँ महावीर । एवं वि तत्थ लाढेहि, अलद्धपुण्णे वि एगयों गामों ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(लाणे व) जैसे हाथी (सगामसीसे) सग्राम के अग्रभाग में शत्रुओं का प्रहार सहन करता हुआ (पारए) शत्रु-सेना को पार कर जाता है (एव वि) इसी तरह (सँ) उन्हें (महावीर) भगवान् महावीर स्वामी ने भी परीपदों को सहन करते हुए (तत्थ) उस (लाढेहि) लाढ़ देश को पार किया था। (एगयो) कभी कभी तो (तत्थ) उस लाढ़ देश में उठरने के लिए भगवान् को (गामो)

ग्राम भी (अलक्षुण्वो) नहीं मिला था ॥ ८ ॥

भावार्थः—जैसे हाथी सँग्राम के अग्रभाग में जाकर शत्रु के ग्रेहार की परवाह न करता हुआ शत्रु सेना की जीत कर उसकी पार कर जाता है। इसी तरह भगवान् महावीर स्वामी ने भी लाढ़ देश में परीपहो की जीत करके उस देश को पार किया था। कभी कभी ठहरने के लिए उन्हें ग्राम भी नहीं मिलता था। तब वे जङ्गल में वृक्षादि के नीचे ठहर जाते थे।

उवसंकमतमपडिएणं, गामंतियं वि अप्पत्तं । पडिण्णिवमिच्च लूसिसु, एयाओ परं पलेहि त्ति ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(उवसकमत) भिक्षार्थ या निवासाथ जाते हुए (अपडिएण) प्रतिक्षारहित (गामंतियमि) ग्राम के निकट (अपत्त) न पहुँचें हुए भगवान् को (पडिण्णिवमिच्च) ग्राम में निकल कर वे अनार्य लोग (लूसिसु) मारते थे। और वे (त्ति) इस प्रकार कहते थे कि (एयाओ) यहाँ से (पर) दूर (पलेहि) चला जा ॥ ९ ॥

भावार्थः—लाढ़ देश में विचरते हुए भगवान् जब कभी भिक्षार्थ या निवासार्थ ग्राम के पास जाते थे तो ग्राम के पास पहुँचने से पहिले ही वहाँ के अनार्य लोग ग्राम से निकल कर भगवान् को अनेक प्रकार से कष्ट देते थे और कहते थे कि यहाँ से दूर चला जा।

हयपुण्वो तत्थ दंडेण, अदुवा मुडिणा अदु कुंतफलेण । अदु लेलुणा कवालेण, हंता हंता वहवे कंदिसु ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—(तत्थ) वहाँ लाढ़ देश में कोई (दंडेण) डण्डे से (अदुवा) अथवा कोई (मुडिणा) मुट्टी से (अदु) अथवा कोई (कुंतफलेण) भाले से (अदु) अथवा कोई (लेलुणा) मिट्टी के ढूँले से और कोई (कवालेण) डूँट हुए घड़े के टुकड़ों से (हयपुण्वो) भगवान् को

मारते थे । इस प्रकार (हंता हता) मार मार कर (बहते) बहुत से अनार्य लोग (कदिशु) होदत्ता मचाते थे ॥ १० ॥

भावार्थः—लाढ देश में अनार्य लोग भगवान् को लाठी, मुट्टी, भाला, पत्थर और घटे के टुकड़ों आदि से मारत थे और मार कर हल्ला मचाते थे ।

मंसाइं छिएणपुव्वाइं, उटुंभिया एगया कायं । परीसहाइं लुंचिसु, अदुवा पंशुणा उवकरिसु ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—वे अनार्य लोग कभी कभी भगवान् का (मंस) मांस (क्षिणपुव्वाइं) काट लेते थे और (एगया) कभी कभी (काय) उनके शरीर को (उटुंभिया) पकड़ कर धका देते थे । और कभी कभी (लुंचिसु) उन्हें पीटते थे (अदुवा) अथवा उनके ऊपर (पशुणा) धूलि (उवकरिसु) उछालते थे । इस प्रकार (परीसहाइं) अनेक परीपह देते थे किन्तु भगवान् उन सब को समभाव पूर्वक सहन करते थे ॥ ११ ॥

भावार्थः—कभी कभी वे अनार्य लोग भगवान् का मांस काट लेते थे, उन्हें धका देते थे, मारते थे और उनके ऊपर धूलि फैकते थे किन्तु भगवान् इन सब परीपहों को समभावपूर्वक सहन करते थे ।

उच्चालइय शिहंशिसु, अदुवा आसणाओ खलंइसु । वोसट्टकायपणयासी, दुक्खसहे भगवं अपडिण्णे ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—वे अनार्य लोग (उच्चालइय) भगवान् को ऊपर उठा कर (शिहंशिसु) पृथ्वी के ऊपर पटक देते थे (अदुवा) अथवा (आसणाओ) आसन से (खलंइसु) नीचे गिरा देते थे । परन्तु (वोसट्टकाय) भगवान् काया का ममत्व त्याग करके (पणया) परीपह

सहन करने में तत्पर (आमी) थे । (भगव) भगवान् (दुस्वसहे) उन समस्त कष्टों को सहते थे और (अपडिण्णे) उनकी निवृत्ति के लिए प्रतिष्ठा रहित थे ॥ १२ ॥

भावार्थः—अनार्य लोग भगवान् को जमीन से उठा कर पटक देते थे । जब भगवान् गोदोहिका तथा उत्कटुक आसन से बैठे हुए होते तब वे उनको डकेल देते थे परन्तु भगवान् ने तो शरीर का ममत्व त्याग दिया था इसलिये वे उन सब कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करते थे किन्तु उनकी निवृत्ति के लिए विचार तक नहीं करते थे ॥

सुरो संगामसीसे व, संभुडे तत्थ से महावीरि । पडिसेवमाणे फरुसाइं, अचलं भगवं रीइत्था ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—(सुरो व) जैसे शूरवीर पुरुष (संगामसीसे) संग्राम के अग्रभाग में युद्ध करता हुआ शत्रुओं द्वारा लुब्ध नहीं होता वैसे ही (तत्थ) वहां लाट देश में विचरते हुए (संभुडे) अपनी समस्त इन्द्रियों को गुप्त रखते हुए (से) वे (भगव) भगवान् (महावीर) महानीर स्वामी उन परीपह उपसर्गों से लुब्ध नहीं होते थे अपितु (फरुसाइं) उन कठोर परीपहों को (पडिसेवमाणे) समभाव पूर्वक सहन करते हुए (अचले) अपने व्रतों में अचल होकर (रीइत्था) विचरे थे ॥ १३ ॥

भावार्थः—जैसे संग्राम के अग्रभाग में युद्ध करता हुआ वीरपुरुष शत्रुओं द्वारा लुब्ध नहीं होता है उसी प्रकार भगवान् महावीर स्वामी उन परीपह उपसर्गों से किञ्चिन्मात्र भी लुब्ध नहीं हुए । उन सब को समभाव पूर्वक सहन करते हुए अपने व्रतों में निश्चल होकर विचरे थे ।

एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मइमया । बहुसो अपडिण्णेण, भगवया एवं रीयंति चि वेमि ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—(मशया) मत्तिमान् (अपिण्णो) निदानरहित (माहणेण) माहन (भगवतो) भगवान् महावीर स्वामी ने (यहुसो) बहुत बार (एस) इस (विही) विधि का (अणुक्कंतो) आचरण किया था। इसलिये अन्य मोक्षार्थी आत्माओं को भी (एवं) इसी प्रकार (रीयति) आचरण करना चाहिये (ति वेगि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १४ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी ने पूर्वोक्त प्रकार से आचरण किया था। इसलिये दूसरे मोक्षार्थी पुरुषों को भी इसी प्रकार आचरण करना चाहिये, ऐसा श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं ॥

॥ इति नवम अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

तीसरे उद्देशक में भगवान् को दिये गये परीपह उपसर्गों का कथन किया गया है । अब इस चौथे उद्देशक में भगवान् की तपस्या का वर्णन किया जाता है —

ओमोयरियं चाण्ड, अपुठे वि भगवं रोगेहि । पुठे वा अपुठे वा, यो से साहज्जह तेहच्छं ॥ १ ॥ :

अन्वयार्थः—(भगवं) भगवान् (रोगेहि) रोगो से (अपुठे वि) अस्पृष्ट होने हुए भी (ओमोयसि) ऊनोदरी तप (चाण्ड) करते थे । (पुठे) रोगादि से स्पृष्ट होने पर (वा) अथवा (अपुठे) न होने पर (से) वे भगवान् कभी भी (तेहच्छ) चिकित्सा करवाना (यो साहज्जह) नहीं चाहते थे ॥ १ ॥

भावार्थः—भगवान् के शरीर में किसी प्रकार की व्याधि न होते हुए भी भगवान् सदा ऊनोदरी तप करते थे । भगवान् को श्वास खासी आदि शरीरजन्य कोई भी रोग नहीं होता था किन्तु अन्यकृत जो कष्ट और व्याधि होती थी, उसकी निवृत्ति के लिए भगवान् औपधि करने की कभी इच्छा तक नहीं करते थे ॥

संसोहणं य वमणं य, गायब्भंगणं सिणाणं य । संवाहणं ण से कप्पे, दंतपक्खालणं य परिणणए ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—इस औदारिक शरीर को अशुचिमय (परिणणए) जान कर (से) वे भगवान् (संसोहण) किसी भी प्रकार का

जुलाब (वमण) वमन (गायबगण) तैलादि द्वारा शरीर का मर्दन (सिर्पण) स्नान (सवाहण) संवाधन यानी हाथ पैरों की चम्पी (य) और (दत्तवसालण) दांतन (ए क्यो) नहीं करते थे ॥ २ ॥

भावार्थः—भगवान् जानते थे कि यह औदारिक शरीर अशुचिमय है । किसी भी प्रकार से इसकी शुद्धि नहीं हो सकती है, ऐसा जान कर वे जुलाब, वमन, तैलादि द्वारा शरीर का मर्दन, स्नान, पगवम्पी और दातन आदि द्वारा किसी भी प्रकार से इस शरीर की परिचर्या नहीं करते थे ॥

विरए गामधम्मेहिं, रीयइ माहणे अबहुवाई । सिसिरम्मि एगया भगवं, छायाए भाइ आसी य ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(गामधम्मेहिं) इन्द्रियों के विषयों से (विरए) विरक्त (माहणे) माहन भगवान् (अबहुवाई) अल्पभापी होकर (रीयइ) विचरते थे (य) और (एगया) कभी कभी (सिसिरम्मि) शिथिर ऋतु में अर्थात् शीतकाल में (छायाए) छाया में (आसी) बैठ कर (भाइ)

ध्यान करते थे ॥ ३ ॥

भावार्थः—इन्द्रियों के विषय से विरक्त भगवान् अल्पभाषी होकर विचरते थे । कभी कभी शीतकाल में भगवान् छाया में बैठ कर धर्मध्यान शुक्लध्यान किया करते थे ॥

आयावइ य गिम्हाणं, अच्छइ उक्कुहुए अभितावे । अटु जावइत्थ लूहेणं, ओयणमंथुकुम्मासेणं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—भगवान् (गिम्हाण) ग्रीष्म ऋतु में (उक्कुहुए) उत्कटक आसन से (अभितावे) सूर्य के सन्मुख धूप में (अच्छइ) बैठते थे (य) और (आयावइ) आतापना लेते थे । (अटु) तथा वे (लूहेणं) कूल (ओयणमंथुकुम्मासेण) भात, मन्थु यानी घोर का आटा—घोरकूट और कुलमाष यानी कुलकी आदि के आहार से (जावइत्थ) शरीर का निर्वाह करते थे ॥ ४ ॥

एयाणि तिरिण पडिसेवे, अट्टमासे य जावयं भगवं । अवि इत्थ एगया भगवं, अट्टमासं अट्टुवा मासं वि ॥ ५ ॥
अवि साहिए दुवे मासे, छप्पि मासे अट्टुवा अपिवित्ता । राओवरायं विहरित्था, अपडिण्णे अएणगिलायमेगया भुंजे ॥

अन्वयार्थः—(भगव) भगवान् (अट्टमासे) आठ मास (जावय) तक (एयाणि) इन (तिरिण) तीन प्रकार के आहार का (पडिसेवे) सेवन करते थे । (एगया) कभी कभी (भगव) भगवान् (अट्टमास) अट्टमास यानी पन्द्रह दिन (अट्टुवा) अथवा (मासं) एक मास, (अट्टुवा) अथवा (साहिए दुवे मासे) दो मास तथा दो मास से अधिक और (छप्पि मासे) छ महीने पर्यन्त (अवि अपिवित्ता) जल भी न पीकर (राओवराय) रात दिन अर्थात् सदा (अपडिण्णे) परीषह उपसर्गों का किसी भी प्रकार प्रतिकार न करते हुए निरीह भाव से (विहरित्था) विचरते थे (य) और (एगया) कभी कभी (भुंजे) आहार करते थे किन्तु वह भी (अएणगिलाय) ठण्डा आहार करते थे ॥ ५-६ ॥

भावार्थः—चातुर्मास के अतिरिक्त शेष आठ महीनों में शरीर निर्वाहार्थ प्रायः रूक्ष भोजन, बोरकूट तथा उड्ड आदि नीरस आहार करते थे । कभी कभी वे पन्द्रह दिन, एक महीना, दो महीना और दो महीनों से अधिक तथा छ. छ महीने तक तपस्या करते थे । उनके मन में किसी भी प्रकार की इच्छा भी उत्पन्न नहीं होती थी किन्तु वे सदा निरीहभाव से विचरते थे । कभी कभी भगवान् आहार करते थे किन्तु वह भी रूखा सूखा और ठंडा आहार करते थे ॥

छट्ठेण एगया भुंजे, अट्टुवा अट्टमेण दसमेण । दुवालसमेण एगया भुंजे, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(समाहिं) अपने शरीर की समाधि को (पेहमाणे) देखते हुए भगवान् (अपडिण्णे) निदान रहित होकर (एगया) कभी (छट्ठेण) छेला करके अर्थात् दो दिन से (अट्टुवा) अथवा कभी (अट्टमेण) तेला करके अर्थात् तीन दिन से, (दसमेण) कभी चौला

करके यानी चार दिन से, और (एया) कभी (दुवातसमेण) पञ्चोला करके अर्थात् पांच दिन से (भुजे) आहार करते थे ॥ ७ ॥

भावार्थः—भगवान् नित्यभोजी नहीं थे किन्तु कभी दूसरे, तीसरे, चौथे और पाचवे दिन करते थे । आहार न करने से भगवान् के मन में किसी भी प्रकार की दुर्बलता उत्पन्न नहीं होती थी किन्तु वे केवल शरीर के निर्वह के लिए आहार करते थे ॥

शुचचारणं से महावीर, शो नि य पावगं समयमकासी । अरणोहि वा ण कारित्था, कीरंनपि णाणुजाणित्था ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(एच्छा ण) हेय और उपादेय पदार्थों को जान कर (ते) उन (महावीर) भगवान् महावीर स्वामी ने (शो वि) न तो (सय) समय (पावग) पाप कर्म (अकासी) किया था, (य) और (ण अरणोहि) न दूसरों से (कारित्था) करवाया था (वा) तथा (कीरत) करते हुए को (ण अणुजाणित्था वि) प्रच्छा भी नहीं जाना या अर्थात् अनुमोदन भी नहीं किया था ॥ ८ ॥

भावार्थः—हेय और उपादेय पदार्थों को जान कर भगवान् महावीर स्वामी ने छद्मस्थ अवस्था में न स्वयं पाप किया, न दूसरों से करवाया और करते हुए को अच्छा भी नहीं जाना अर्थात् पापकर्म करते हुए प्राणी की अनुमोदना तक नहीं की ॥

गामं पविस्स रागरं वा, दासमेसे कडं परद्धाए । सुविमुद्दमेसिया भगवं, आययजोगयाए सेवित्था ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(भगव) भगवान् (गाम) ग्राम (वा) ग्रथ वा (रागर) नगर में (पविस्स) प्रवेश करके (परद्धाए) दूसरों के लिए (कज) किये गये (वाल) आहार की (एसे) गवेयणा करते थे और (सुविमुद्द) सुविमुद्द अर्थात् उद्गम, उत्पादना और एपणा के दोषों से रहित आहार की (एभिया) गवेयणा करके (आययजोगयाए) मन, वचन, काया के योगों की स्थिरता पूर्वक (सेवित्था) उस आहार का सेवन करते थे ॥ ९ ॥

भावार्थः—ग्राम अथवा नगर में प्रवेश करके भगवान् उद्गम, उत्पादनादि मन्त्र दोषों से रहित शुद्ध आहार की गवेषणा करते थे । फिर मन वचन काया के योगों की स्थिरता पूर्वक उस आहार का सेवन करते थे ॥

अदु वायसा दिगिच्छत्ता, जे अरण्ये रसेसिणो सत्ता । घासेसणाए चिहुंति, सययं णिवइए य पेहाए ॥ १० ॥

अदु वायसा माहणं य समणं वा, गामपिडोलगं य अइहिं वा । सोवागं मसियारिं वा, कुक्कुरं विविहं ठियं पुरओ ॥ ११ ॥

अदुवा माहणं य समणं वा, गामपिडोलगं य अइहिं वा । सोवागं मसियारिं वा, कुक्कुरं विविहं ठियं पुरओ ॥ ११ ॥

वित्तिच्छेयं वज्जंतो, तेसिमप्पत्तियं परिहरंतो । मंदं परक्कमे भगवं, अहिंसमाणो घासेमेसित्था ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(दिगिच्छत्ता) भूख से व्याकुल (वायसा) कौए (अदु) तथा (रसेसिणो) पानी पीने की इच्छा वाले (जे) जो (अरण्ये) अन्य (सत्ता) प्राणी (सयय) सदा (घासेसणाए) दाना पानी के लिए (णिवइए-चिहुंति) जमीन पर बैठे हुए होते थे (पेहाए) उन्हें देख कर (य) और (माहणं) ब्राह्मण (समण) श्रमण (गामपिडोलग) भिखारी (अइहिं) बाहर से आया हुआ अतिथि (सोवाग) चारण्डाल (मसियारिं) बिल्ली (य) और (कुक्कुर) कुत्ते आदि (विविह) विविध प्रकार के प्राणियों को (पुरओ) सामने (द्विय) स्थित देख कर (तेसि) उनकी (वित्तिच्छेय) वृत्तिछेद को (वज्जंतो) वर्जते हुए अर्थात् उनको किसी प्रकार की अन्तराय न करते हुए (वा) तथा (अपत्तिय) मनु में किसी भी प्रकार की अप्रीति (परिहरंतो) न लाते हुए (भग) भगवान् (मद) धीरे धीरे (परक्कमे) वहां से निकल जाते थे (य) और (अहिंसमाणो) कुंयु आदि किसी भी प्राणी की हिंसा न करते हुए भगवान् (घास) आहार पानी की (एसित्था) गवेषणा करते थे ॥

भावार्थः—भिक्षा लेने के लिए जाते हुए भगवान् को रास्ते में भूख से व्याकुल जो कौए आदि प्राणी दाना पानी के लिए जमीन पर बैठे हुए दिखाई देते थे तथा ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चण्डाल, बिल्ली और कुत्ते आदि प्राणी कुछ मिलने की

आशा से खड़े दिखाई देते थे उनको किसी भी प्रकार की बाधा एवं अन्तराय पहुँचाये बिना भगवान् वहाँ से धीरे धीरे चले जाते थे और उन प्राणियों पर अपने मन में अप्रीति भी न लाते थे । कुन्थु आदि प्राणियों की हिंसा न करते हुए भगवान् भिक्षाटन करते थे ।

अवि स्रह्यं वा सुक्कं वा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं । अदु बुक्कसं वा, लद्धे पिंडे अलद्धे दविण् ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—(स्रह्य) भीजा हुआ (वा) अथवा (सुक्क) सूखा हुआ, (सीयपिंड) ठण्डा आहार (वा) अथवा (पुराणकुम्मास) बहुत दिन का उड़द का आहार (बुक्कसं) पुराने घान का आहार (अदु) अथवा (पुलागं) जौ आदि नीरस धान्य के बने हुए (पिंडे) आहार के (लद्धे) मिलने पर (वा) अथवा (अलद्धे) न मिलने पर (दविण्) भगवान् शान्त रहते थे ॥ १३ ॥

भावार्थः—रूखा, सूखा, ठण्डा उड़दों का अथवा पुराने तथा नीरस धान्य का बना हुआ, जैसा भी आहार भगवान् की मिल जाता, वे उसी में सन्तोष करते थे । आहार के मिलने पर या न मिलने पर भगवान् सदा शान्त रहते थे ॥

अवि भ्माइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए भाणं । उड्डं अहे य तिरियं य लोए, भायइ पेहमाणे समाहिमपडिण्णे । १४ ।

अन्वयार्थः—(से) वे (महावीरे) भगवान् महावीर स्वामी (आसणत्थे) उत्कटुक, वीरासन आदि आसनों से बैठ कर (अकुक्कुए) निर्विकार भाव से (भाणं) धर्मध्यान शुक्लध्यान (फाइ) ध्याते थे (य) और (समाहि) अपने अन्तःकरण की शुद्धि को (पेहमाणे) देखते हुए (अपडिण्णो) निरीह भाव से (उड्डं) ऊर्ध्व लोक (अहे) अधोलोक (य) और (तिरियि) तिर्यक् लोक (लोए) इन तीनों लोकों के स्वरूप का (भायइ) ध्यान में विचार करते थे ॥ १४ ॥

भावार्थः—भगवान् उत्कटुक, गोदोहिका, वीरासन आदि आसनों से बैठ कर धर्मध्यान, शुक्लध्यान किया करते थे और वे

अपने अन्तःकरण की शुद्धि को देखते हुए ऊर्ध्व, अधो तिर्यक् इन तीनों लोकों के स्वरूप का चिन्तन किया करते थे ॥
अक्रुसाई विगयेगी ही य, सदरूनेसु अमुच्छिष्टे भाई । छउमत्योवि परकममाणो, ए पमायं सईपि कुन्वित्था ॥१५॥

अन्वयार्थः—(अक्रुसाई) कपाय रहित (विगयेगी) गृद्धिभाव रहित (य) और (सदरूनेसु) शब्द रूप आदि विषयों में (अमुच्छिष्टे) मूर्च्छित न होते हुए (भाई) सदा ध्यान मग्न रहते थे । इस प्रकार (परकममाणो) शुभ अनुष्ठानों में पराक्रम करते हुए भगवान् ने (छउमत्यो वि) छद्मस्थावस्था में (सईपि) एक बार भी (पमायं) प्रमाद (न) नहीं (कुन्वित्था) किया था ॥ १५ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी अकपायी थे क्योंकि कपाय के उदय से उन्होंने किसी पर भी अपनी भ्रुकुटि टेढ़ी नहीं की थी । वे शब्दादि विषयों में आसक्त नहीं होते थे अर्थात् अनुकूल विषयों में राग और प्रतिकूल में द्वेष नहीं करते थे । वे सदा शुभ अनुष्ठान में ही प्रवृत्त रहते थे । इस प्रकार उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में एक बार भी प्रमाद का सेवन नहीं किया था ॥

सयमेव अभिसमागम, आययजोगमायसोहीए । अभिण्णुडे अमाइल्ले, आवकहं भगवं समियासी ॥१६॥

अन्वयार्थः—(सयमेव) स्वयमेव (अभिसमागम) तत्त्वों को भली प्रकार जान कर (आयसोहीए) आत्मशुद्धि द्वारा (आययजोग) मन वचन काया के योगों को अपने वश में करके (अभिण्णुडे) शान्त (अमाइल्ले) माया रहित (भगव) भगवान् (आवकह) यावज्जीवन

(समियं) पांच समिति और तीन गुप्ति से युक्त (आसी) थे ॥ १६ ॥

भावार्थः—ससार की असारता और तत्त्वों को स्वयमेव भली प्रकार जान कर तथा आत्मशुद्धि द्वारा मन वचन काया के योगों को अपने वश में करके माया रहित अर्थात् क्रोधादि कपाय न करते हुए भगवान् सदा शान्त तथा पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त थे ॥

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	३	गये	गये हैं।	३४	७	अशुद्ध	शुद्ध
१२	७	अन्वयाय	अन्वयार्थ	३४	८	(बुद्धिधम्मय)	(बुद्धिधम्मय)
१२	१०	कितने	कितनेक	३५	७	(बुद्धिधम्मय)	(बुद्धिधम्मय)
२४	३	समारमा	समारभा	३५	८	असमारमाएस्स	असमारभाएस्स
२५	से २८	तृतीय उद्देश	चतुर्थ उद्देश	३५	९	समारभावेज्जा, समारंभावेज्जा, शेवणो	समारभावेज्जा, समारंभावेज्जा, शेवणो
२७	१	पुव्वमकासा	पुव्वमकासी	३७	७	जस्सेए शेवणो	जस्सेए
२८	११	वह	वहाँ	४४	१३	दिसो	पदिसो
२८	१३	शवीकाय	पृथ्वीकाय	५०	६	है	है
२९	१३	पञ्चम उद्देश	चतुर्थ उद्देश	५१	११	करता है	करता है
२९	८	पञ्चम	चतुर्थ	५१	१३	(वओ)	(वओ)
३१	१२	आवि	आवि	५२	२	ओसविन्दु	ओसविन्दु
३४	५	परिणामधम्मयं	विपरिणामधम्मय	५४	६	पच्छा	पच्छा
३४	७	(इम वि)	(इम वि)	५७	से ६१	सम्यन्धित	सन्धित
						प्र० उ०	द्वि०-उद्देश

२७७	२८१	२८१	२८३	२८५	२८६	२८८	२८६	२९०	२९२	३००	३००	३००	३०२
७	११	१४	२	११	१३	५	३	०	१	४	१५	२	
अपकाय	अवलवियाण	(अवलवियाण)	अ० आ०	के	हाथ	और	प्र० उ०	पचायते	“से”	हो	मदन	वमन	कुलकी
अपकाय	अवलवियाण	(अवलवियाण)	अ० नवा	वे	हाथ में	और	द्वि० उ०	पचायते	से	ही	मदन	वमन	कुलकी
													आहार करते थे ।

२२६	२२६	२३१	२३३	२३५	२३४	२३७	२३७	२३८	२४४	२४५	२४७	२४७	१५३	२६२	२७७ से २८०
८	१०	११	१	४	२	१०	१२	१	१	१२	१२	४	१४		
च० उ०	प्रववलि	जसा	उपवर्ग	वैहायस	(खम)	समर्थन हो	लेसे	लेसे	सरिणवेसवे वा	(अपमाणे)	वख को	कट	(विरुवरुवे)	विचलित	द्वि० उ०
त० उ०	प्रववलि	जसा	उपसर्ग	वैहायस	(खम)	समर्थन हो	लेसे	लेसे	सरिणवेसं वा	(अपमाणे)	वख	कट को	(विरुवरुवे)	विचलित	प्र० उ०